ALOCHANA JAN-MAR 1969 G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 079561

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

079561

079561

P
K
८४
1936 आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ... ार
प्र...

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

● ग़ालिब की याद में

एक ख़त ग़ालिब के नाम (कविता) — कैलाश वाजपेयी ३

ग़ालिब : मेरी दृष्टि में — शमशेर बहादुर सिंह ४

ग़ालिब की महत्ता — ख्वाजा अहमद फ़ारूक़ी ६

ग़ालिब की आधुनिकता — अहमद हुसेन ११

ग़ालिब और सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति — कुँवर मोहम्मद अशरफ़ २६

मिर्ज़ा ग़ालिब-अन्तर्विरोधों के बीच — नईम अहमद ३१

जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब — विश्वनाथ त्रिपाठी ३९

ग़ालिब की फ़ारसी कविता — नूरुल हसन अन्सारी ४४

ग़ालिब का व्यंग्य और हास्य — क़मर रईस ४७

ग़ालिब के गद्य के नये आयाम — क़ाज़ी अब्दुल सत्तार ५४

ग़ालिब और सर सैयद — फ़र्रुख़ जलाली ५७

...म्हें हम वली समझते — रियाज़ पंजाबी ६१

...र : हिन्दी में — राजेन्द्र शर्मा ६४

अगले झूठ के लिए (कविता) — मंगलेश डबराल ६७

लोकतंत्र के लिहाज़ में (कविता) — त्रिनेत्र जोशी ६९

● समकालीन कविता

समकालीन कविता : अँधेरे से साक्षात्कार — सुरेन्द्र चौधरी ७०

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा — मलयज ८१

कविता की भाषा — परमानन्द श्रीवास्तव ८८

● मूल्यांकन

समझदारी का व्यंग्यपूर्ण अहसास और विडम्बना की नाटकीयता — विजयमोहन सिंह ९१

बोल की भाषा भी हुल्लड़ हो गई — विष्णु खरे ९५

सम्यक शोक की छाया में चमकता लोक — कमलेश ९८

● विनिमय

कविता और राजनीति — मुरली मनोहरप्रसाद सिंह १०२

... : नवांक ८, (पूर्णांक ४५) जनवरी-मार्च १९६९, मूल्य ३.००
...-साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
...े परिपत्र संख्या डी• ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
...ार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की याद में

जन्म : २७ दिसम्बर, १७९७
मृत्यु : १५ फरवरी, १८६९

COMPILED

'आलोचना' के वार्षिक ग्राहकों को सूचना

डाक विभाग द्वारा इस वर्ष पुनः रजिस्ट्री पैकेट की डाक-दर बढ़ा दिये जाने के कारण रजिस्ट्री से आलोचना के अंक भेजने की दरों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। अब पूर्णांक ४५ से रजिस्ट्री शुल्क सहित वार्षिक चन्दा १५ रुपये होगा। साधारण डाक से 'आलोचना' मँगाने पर वार्षिक शुल्क पूर्ववत् ही होगा।

व्यवस्था विभाग

आलोचना

वर्ष : १८

नवांक : ८

जनवरी-मार्च, १९६९

संपादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध संपादक
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CHECKED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः
पुस्तक सं०...............
आगत सं०...............
दिनांक...............
गुरुकुल ग्रन्थालय कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ख़त, ग़ालिब के नाम

कैलाश वाजपेयी

लो फिर से फूट पड़ा लावा
बन्द भाप फट गई
ग़ज़लों की लपटें, छा गईं सर्द आसमान पर।
ख़ून में हरारत
आँखों में पारा भरे हुए
टूट पड़ी दिल्ली तुम्हारे मज़ार पर !
सुनो असद !
मैं एक अदना-सा शायर, या शायद ख़बरगो
ठीक सौ बरस बाद
तुम्हारे शहर का हाल लिख रहा हूँ !
जहाँ कहीं छोड़ी थी तुमने दिल्ली
दस क़दम आगे है अब तबाही में—
'रोज इस शहर में नया हुक्म होता है'
जैसा कुछ हुआ था
अठारह-सौ सत्तावन में
अब वैसा रोज़-रोज़ होता है।
तुम्हारे ज़माने में आया फिरंगी
गया नहीं—घुसकर
रहने लगा है सबके दिमाग़ में
सब सफ़ाखाने कसाईघर हो गए
बीमारियाँ—पैदा होती हैं बाग़ में।
और असद !
मरने के लिए इस शहर में
ज़हर अब ज़रा भी ज़रूरी नहीं रहा
हया ख़त्म हो गई दलबदल के साथ
शायरी करना
मजबूरी नहीं रहा !
शोहरत अब सिर्फ़ लफ़ंगों को मिलती है
यह कहना मुश्किल है
किसकी रोटी किससे चलती है।
तुम कहा करते थे 'बख़्श दो।'
मगर असद,
लोग—ख़ता भी करते हैं धौंस भी जमाते हैं
हर आने वाले मंत्री के साथ
पिछले सब वायदे गुड़ुप हो जाते हैं।
शहर अब ट्यूमर की तरह बढ़ गया है
हर दोस्त, एक घास ढकी खाई है
माँ-बाप, बच्चों से, छुट्टी के दिन सिर्फ़ मिलते हैं
हर ड्राइंग रूम—मुँहफाड़ जमुहाई है।
तुम ख़ुशक़िस्मत थे असद।
तुम्हारे ज़माने में
भीतर की पर्तों में लौटकर
मुमकिन था दर्द का एक रेशमी जाल बुनना
अपनी तकलीफ़ ख़ुद अपने से कहना
ख़ुद सुनना।
मगर सौ बरस बाद आज अब
महीन काम (शायरी) मुमकिन नहीं रहा
भीतर बाहर
इतना उखड़ उधड़ गया है आदमी
कि न ग़लत ग़लत रहा
न सही सही रहा।

१. सोलह फ़रवरी को ग़ालिब शताब्दी समारोह के सिलसिले में आयोजित कविगोष्ठी में पढ़ी गई इस रचना के कुछ अंशों को, आकाशवाणी ने अगले दिन कार्यक्रम प्रसारित करते हुए, आपत्तिजनक मानकर काट दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : मेरी दृष्टि में

शमशेर बहादुर सिंह

ग़ालिब खुद एक बड़ा हीरो है अपनी व्यापकता के केन्द्र में, जो कि स्पष्ट एक आधुनिक चीज़ है। व्यक्ति का निर्बाध अपनापन। हर बात में अपने व्यक्तित्व को—अपने निजी दृष्टिकोण को सामने रखना। मैं खुद किस पहलू से सोचता हूँ, किस ढंग से महसूस करता हूँ, यह उसके लिए महत्त्व की बात है।

हर बात की तह में जाने की—अपने विशिष्ट तौर पर उसका मर्म समझने की—उसकी कोशिश सर्वत्र प्रकट है।

उसकी मुसीबतें, उसका संघर्ष, जिसको वह कभी छिपाता नहीं···उसके शब्दों में हू-ब-हू आधुनिक-सा लगता है। अजब बात है। उसमें आज के, आधुनिक साहित्यकार की-सी, पूरी तड़प और वेदना के बीच, एक तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि है। उसका यथार्थवाद निर्मम है। मुक्तिबोध और निराला, अपने भिन्न संस्कारों के अस्त-व्यस्त परिवेश में, उसको कुछ-न-कुछ प्रतिबिम्बित करते हैं। निराला का यह प्रिय शेर था—

रगों में दौड़ने फ़िरने के हम नहीं क़ायल
जब आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

क्या ताज्जुब है जो उसके युग ने उसको नहीं पहचाना।

अगलों के काव्य-शिल्प को वह अन्दर से ग्रहण करता है : उस शिल्प की आंतरिक, प्रातिभ, योजना को मात्र शब्दों और मुहावरों को, उनके प्रयोग की रीतियों को, वह उस्तादों के जीवन्त प्रयोगों से ग्रहण करता था, अपने ख़ास तेवर के साथ।

लोगों ने सही कहा है कि जो शख़्स एक अर्से से अंग्रेज़ी अमलदारी और क़ानून-व्यवस्था और नीतियों को निकट से और विचारपूर्ण दृष्टि से देखता आ रहा हो, जो कलकत्ते के वातावरण को भी ख़ासी-अच्छी तरह सूँघ आया हो, वह जीविका के लिए मुग़ल दरबार से बँधा रहकर भी, अपनी चेतना में पिछले युग से कभी जुड़ा हुआ नहीं रह सकता। इस अर्थ में भी ग़ालिब अपने युग में अकेला था।

वह क़सीदे लिखता है तो अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति—जो क़सीदे का बहरहाल आवश्यक अंग है—उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होती। बल्कि अपनी प्रतिभा का ओज, काव्यकला पर अपना पूर्ण अधिकार, अर्थात् क़सीदे की विद्या का सांगोपांग पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करना—अपने समकालीनों को दिखाना : यह होता था उसका काव्यात्मक उद्देश्य।

कुछ जैसे निराला को रवीन्द्रनाथ से होड़-सी रही, ग़ालिब भी पूर्ववर्ती उस्तादों की श्रेणी में सगर्व अपने को रखता था।

कभी-कभी क्या, अक्सर ऐसा लगता है कि वह समाज में, अपने जीवन में, प्रायः हर ओर विरोधाभास देखता है। हर चीज़ एक विडम्बना का भाव लिये हुए होती है। हर वस्तु प्रश्न से चिह्नित। हर बात जो सही सोची जाती है, उलटी निकलती है।···ग़ालिब जैसे खरे और सच्चे लोगों के लिए क्या यही नियति है ? ईमानदारी का कोई मतलब नहीं ? निष्ठा का कोई अर्थ नहीं ? सौन्दर्य और प्रेम का भी अन्त क्या ? सारी व्यवस्थाएँ एक तमाशा जैसी हैं। रीति-नीति, आचार, दर्शन-दृष्टि, लौकिक संबंध···सब।

शायद एक चीज़ जो स्थायी है वह कला है—और वह है ग़ालिब के लिए ग़ालिब की अपनी कला। इस कला के मर्म में स्थित कवि पूर्णतया आश्वस्त निर्द्वन्द्व और अमर-सा दिखता है। कम-से-कम स्वयं को, अपनी दृष्टि में।···और बहुत बाद में हमको भी वह वैसा ही दिखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब का सूफ़ी भाव सूफ़ियों की परम्परा से एकदम भिन्न और मात्र उसका एकदम अपना ही मालूम होता है। अगर ग़ालिब के सूफ़ी-भाव की स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो वह शायराना रिवायत क़तई न होते हुए भी, कहीं अनीश्वरवादी और कुछ-कुछ अस्तित्ववादी सूफ़ीवाद निकलेगा ! ! यह पारिभाषिकता आधुनिक है।

अपनी कला पर ग़ालिब का कितना दृढ़ विश्वास है। अपने सर्वोपरि होने में उसे किंचित् भी संदेह नहीं। देखिए उसका सेहरा देखिए। उसकी फ़ारसी ग़ज़ल, जिसमें उसने भविष्य-वाणी की है कि आगामी युगों में ही उसको सही पहचान हो सकेगी, हालाँकि तब बहुत से मूर्ख भी उसको समझने-समझाने का दावा करेंगे। अपने समकालीन विद्वान् मौलाना आज़ुर्दा को वह तमककर कहता है—अगलों के गुणगान करते तुम नहीं थकते, मगर तुम्हारी आँखों के सामने जो महाकवि बैठा अपनी अमर रचना सुना रहा है, उसको पहचानने की शक्ति नहीं रखते, कितने आश्चर्य की बात है ! [1]

मुझे ऐसा लगता है कि ग़ालिब की दिलचस्पी किसी भी प्रकार के आदर्शवाद में नहीं थी। थी तो केवल इन्सान में, उसके विडम्बनापूर्ण मगर हौसलेमंद जीवंत नाटक में। और इसलिए कि **आदमी को भी मोएस्सर नहीं इन्सॉं होना !** वह स्वयं कितना बड़ा इन्सान था, हाली के मार्मिक शब्द इसकी पुष्टि करते हैं।

इतनी निर्भीकता से अपनी और अपने परिवेश की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट, ज्यों-का-त्यों, रखने वाला गद्यकार उर्दू में आगे फिर नहीं हुआ। और सबके यहाँ तकल्लुफ़ात के पर्दे हैं। एक केवल इसके यहाँ नहीं। उसके पत्र इसका सबूत हैं।

यह कम कौतुक की बात नहीं कि हिन्दी-संसार में ग़ालिब के लिए अलग खाना है और शेष उर्दू के लिए अलग। जहाँ उर्दू से बिलगाव की भावना है, ग़ालिब से नहीं। इतने दुरूह कवि होते हुए भी ग़ालिब हिन्दी-पाठकों के अपने हो गए ! ऐसा क्यों है; इसका जवाब देना आसान नहीं है।

१. तु अय् कि मह् वे-सख़न गुस्तराने-पेशीनी
मबाश मुन्किरे-'ग़ालिब' कि दर जमानए-तुस्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की महत्ता

ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी

१५ फरवरी १८६९ का दिन हमारे साहित्य के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। इस रोज़ साहित्य-सम्राट् मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ 'ग़ालिब' स्वर्ग ही नहीं सिधारे, एक पूरा दौर, एक युग समाप्त हो गया—वह दौर जिसके प्रतीक हैं 'फ़ैज़ी' और 'रहीम' की काव्य-रचनाएँ, अब्दुस्समद के कलात्मक चित्र और सीकरी और ताजमहल की कला और सौन्दर्य। मिर्ज़ा ग़ालिब इस महफ़िल की आखिरी शमा थे। लेकिन वह 'एक युग का समापन ही नहीं करते, एक दूसरे नये युग का आरम्भ भी करते हैं।' साहित्य के जो नये आधार उन्होंने स्थापित किये, आज उन्हीं पर आधुनिक गद्य और आधुनिक काव्य के ऊँचे भवन खड़े हुए हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जिस समय होश की आँख खोली, मुगल साम्राज्य की शमा टिमटिमा रही थी। लार्ड लेक की फ़ौजें दिल्ली तक पहुँच गई थीं, अँग्रेज़ी शासन-व्यवस्था कायम हो चुकी थी, और अखिल संसार और उसके निवासियों के सम्राट् 'शहंशाहे-आलम ओ-आलमियाँ' का शासन लालकिले तक रह गया था। पुरानी व्यवस्था निरवलम्ब और जर्जर हो गई थी और नई का आधिपत्य दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा था। लेकिन पुरानी जीवन-पद्धति की मोहकता अभी कम न हुई थी बल्कि परिवर्तित स्थितियों ने पुराचीन के प्रति आकर्षण का भाव पैदा कर दिया था। ऐसी परिस्थिति का सहज परिणाम विरोध और संघर्ष था, जो इस्माइल शहीद से आरम्भ होकर सन् '५७ के विद्रोह में अन्त हुआ। ग़दर से मिर्ज़ा ग़ालिब की मृत्यु तक जीवन की पुरानी परिपाटी शिथिल से शिथिलतर तो होती गई लेकिन नई ने उसका स्थान नहीं लिया। पुराने मूल्य समाप्त तो होने लगे लेकिन नयों का आविर्भाव नहीं हुआ। इस समय भविष्य के पथ पर कोई प्रेरणा-संकेत नहीं उभरा था। जीवन गन्तव्यहीन था और लक्ष्यहीन। पराजय और अस्थिरता के इसी डावाँडोल युग में मिर्ज़ा ग़ालिब ने थके हुए हृदय को मादकता का सरूर दिया और निराश आँखों को नूर। उन्होंने जीवन की विडम्बनाओं पर दुखी होने के बजाय जीने के लिए एक हौसला और एक साहसिकता प्रदान की। उन्होंने घिरते अँधेरे में भी प्रभात का आभास खोजा और इस प्रकार समय की अन्धी चोट को सहन करने की हमें क्षमता दी।

●

ग़ालिब का लालन-पालन निहायत शानदार वातावरण में हुआ था जहाँ भौतिक ऐश्वर्य के सारे साधन उपलब्ध थे: विलास-कक्ष की शमए-मदिरा और सुन्दरी, और जुए के दांव। किन्तु समाज में शक्तिशाली होने और ऊपर उठने के लिए ऐसा वातावरण अनुकूल न था। सिपहसालारी का अवसर नहीं था। केवल सरस पटुता और वाक्चातुरी के लिए अवसर था। अतः अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्होंने साहित्य-साधना को ही अपना साधन बनाया, जिसके लिए ईश्वर ने उनको प्रचुर प्रतिभा देकर संसार में भेजा था। वह स्वयं कहते हैं: दर्पण को उजालना और अर्थ का रूप उसमें प्रकट करना, यही विशेष कार्य मेरा है। ("आईना ज़दूदन ओ सूरते-मानी नमूदन कारे-नुमायाँ अस्त।")

यही कारण है कि तूरानियों का अलम इनके क़लम की शक्ति में समा गया, और उस क़लम में तलवार की-सी तेज़ी और धार भी पैदा हो गई है। जिस निर्भीकता से मौलाना इस्माइल शहीद ने अपना सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ किया था, और आचार और परम्परा में गतानुगतिकता की प्रवृत्ति पर करारी चोट की थी, उसी निर्भीक चेतना के साथ ग़ालिब ने कोशकारों और काव्यकला के उस्तादों पर नुक़्ताचीनी की है। स्वयं कहते हैं: "हर पुरानी लकीर सीधा रास्ता नहीं होती।" और अगले महानुभाव जो कुछ कह गए हैं वही पूरी तरह सनद नहीं है। मिर्ज़ा ग़ालिब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने काव्य की पूर्वसंचित पूँजी की उपेक्षा नहीं की, वर्तमान की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखी और भविष्य के लिए पथ का विस्तार किया। डॉ० अब्दुलहक़ ने सच ही कहा है कि अगर ग़ालिब न होते तो उर्दू के आधुनिक युग के प्रथम प्राचार्य हाली और दार्शनिक कवि इक़बाल भी न होते। वह यूनान के देवता जानुस के समान हैं, उनका एक मुख विगत युग की ओर देखता है और दूसरा भविष्य की ओर।

ग़ालिब असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी महानता का रहस्य उनकी तबीअत की रंगारंगी, उनके मोहक व्यक्तिवाद, उनके मानव-प्रेम और सर्वाशयी व्यापकता में छिपा हुआ है। वह महान् कवि होते हुए भी एक भरपूर इन्सान थे। उन्होंने कभी अपने व्यक्तित्व पर तह-बतह नक़ाब नहीं डाले, और पर्दे की गुलकारियों को यथार्थ कहकर लोगों से नहीं मनवाया। वह जैसे हैं, अपने-आपको वैसा ही प्रस्तुत करते हैं। उनकी यही निर्भीक सत्यनिष्ठा, मौज और मस्ती संस्कारी अनुराग और उनकी विनोदप्रियता उर्दू साहित्य की सबसे बड़ी पूँजी है। "उन्होंने नई व्यवस्था और नये युग का उस समय समर्थन किया जब मुसलमानों के आधुनिक सुधारक सर सैयद को भी ऐसा करने का साहस नहीं था।" उन्होंने उस समय के लोकप्रिय फ़ारसी कवि क़तील को, अहम्मन्य कोशकारों को और रियासत रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ को उत्तर-प्रत्युत्तर उसी आन से दिये हैं, जिस आन से कहा जाता है कि "तुर्क और तूरानी लड़ते हैं"! किसी भी अवसर पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व पर आँच नहीं आने दी।

●

उस उथल-पुथल के ज़माने में स्वयं मिर्ज़ा का जीवन बड़े संकटों के बीच से गुज़रा। वह आगरे के मनमौजी वातावरण में से निकलकर दिल्ली आए तो यहाँ शायरों के अखाड़े में उतरना पड़ा। प्रतिष्ठित कवि 'ज़ौक़' के सहज भाषा वाले आन्दोलन को उन्होंने स्वीकृति दी, किन्तु उसमें दार्शनिक दृष्टि का भी समावेश किया। कलकत्ते गए तो वहाँ 'क़तील' के अन्धभक्तों से चोटें हुईं। और फिर वह उस ईरानी-हिन्दी विवाद में कूद पड़े जो अकबर और जहाँगीर के समय से, महाकवि 'फ़ैज़ी' और 'उर्फ़ी', और तदनन्तर शेख अली हज़ीं और ख़ान आरज़ू के युग से चला आ रहा था। मिर्ज़ा ने इस विवाद में भी सरगर्म हिस्सा लिया और अनेक ईरानी विद्वानों का समर्थन और प्रशंसा भी अर्जित की।

फिर इनकी पेंशन का किस्सा उठ खड़ा हुआ, जिसमें वह तीस बरसों तक उलझे रहे। यह केवल रुपये का मामला नहीं था, अपने वंशानुगत अधिकार और प्रतिष्ठा का भी सवाल था। उन्होंने अंग्रेज़ों की ख़िदमत में अर्ज़ियाँ भेजीं और हाकिमों को प्रसन्न करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न किया। लेकिन यहाँ भी प्रश्न अभिभावक की प्रशस्ति और गुण-गाथा से अधिक अपने मान-मर्यादा के प्रतीक 'जैगा, सरपेच और मुक्ता-माला' का था, या दरबार में स्थान-मर्यादा और ख़िलत का।

इस युग में वे सारी चीज़ें, जिनसे जीवन की अंधेरियों में रोशनी मिलती थी, एक-एक करके विलीन होती जा रही थीं। वे सारे मूल्य, जो मिर्ज़ा को अत्यधिक मान्य और प्रिय थे, एक-एक करके टूटते और बिखरते जा रहे थे। लेकिन इनके काव्य-लोक में कुण्ठा-विलाप या अराजक-विद्रोह का स्वर उत्पन्न नहीं हो सका था। और यह छोटी बात नहीं है। यदि 'गुलशने-हिन्द' की बात सच है तो इनके पूर्ववर्ती महाकवि मीर को तीन सौ रुपये प्रति मास मिलते रहे, लेकिन मिर्ज़ा ग़ालिब की 'व्यक्तिगत हैसियत' क्या है कभी स्पष्ट नहीं हुई और जब इसका वास्तविक मूल्य कूतने का समय आया, तो इसकी 'मालियत' बासठ रुपये आठ आने से अधिक न निकली। ऐसी परिस्थितियों में इनकी शायरी में वह निराश और विलापी स्वर कभी न आया कि जिससे वह 'आहे-जिगर-गुदाज़' और 'नालएदिलख़राश' को ही जीवन की सार-उपलब्धि समझने लगते।

●

मिर्ज़ा के व्यक्तित्व में जो चीज़ असाधारण रूप से आकर्षक और मोहक है वह है उनकी मनुष्यता। और इस पर उन्हें नाज़ है। उनके काव्य में सामान्य मानवीय समस्याओं और उलझनों का बयान है, और उन्हें यह स्पष्ट रूप से घोषित करने में किंचिन्मात्र संकोच नहीं होता था कि वह सामान्य मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर नहीं थे। श्री अकरम ने सर वाल्टर राले का कथन शेक्सपियर के सम्बन्ध में उद्धृत किया है कि "वह एक अत्यधिक दुष्प्राप्य चीज़ था, यानी एक पूरा इन्सान।" ग़ालिब भी कहते हैं: "खूए-आदम दारम। आदम-ज़ादा अम" (आदम की खू-बू रखता हूँ। आदम की औलाद हूँ।) महाकवि सादी की तरह इनके काव्य में भी एक विशेष प्रकार की होशमन्दी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुनियादारी है, जो हर एक को आकृष्ट करती है। काव्य के इस दर्पण में सब अपना ही सर्वांग देखते हैं, और उनके दिल की मर्मगाथा में सबको अपनी ही आप-बीती का आनन्द मिलता है। ग़ालिब का व्यक्तित्व गरिमा-मंडित और सम्मान्य मात्र नहीं, बल्कि वह हमारे "साहित्य की सबसे अधिक अन्तरंग हस्ती है।"

आप जिस रंग और जिस लिबास में भी वहाँ जायेंगे, वह साथी हस्ती आपको पहचान लेगी, आपके मर्म से अवगत होगी, और आपको आश्वासन देगी, तभी तो डॉ० बिजनौरी ने लिखा था कि अथ से इति तक मुश्किल से सौ पृष्ठ हैं, लेकिन कौन-सा राग है जो यहाँ नहीं है। इसका मूल कारण केवल मिर्ज़ा का अद्भुत और रंगारंग व्यक्तित्व है।

कुछ समालोचकों ने मिर्ज़ा को वली साबित करने की कोशिश की है, और कुछ ने शैतान। लेकिन सच्चाई यह है कि वह सिर्फ़ एक इन्सान था जो मानवीय दुर्बलताओं पर पर्दा नहीं डालता बल्कि "आँचे मी नुमायम् हस्तम्"—जो कुछ मैं दिखता हूँ वही हूँ—क़ा कायल है।

●

ग़ालिब से पहले उर्दू शायरी के पास भावनाओं का भण्डार था, अनुभूतियाँ थीं, और भाषा और शैली के चमत्कार थे। लेकिन वह हसीन और शोख़ बौद्धिकता नहीं थी जो शब्द के शरीर में प्राण फूंक देती है। यह मिर्ज़ा की विशिष्ट देन है, और इस पर उर्दू जितना भी गर्व करे, कम है। वह अपनी परंपरा की पूंजी से अवगत थे, लेकिन उसकी हर परिपाटी और बन्धन से बँधे नहीं थे। इसीलिए उनकी शायरी जंतर-मंतर और कपोल-कल्पना नहीं है। उसमें साँस की गर्मी है, और जिगर का खून। उन्होंने हमें नयी विचार-सरणियाँ दीं, उनकी अभिव्यक्ति की एक नयी शैली दी, और सोचने के लिए दार्शनिक अंदाज़, और जाँचने के लिए आलोचनात्मक चेतना। उसमें मुग़ल चित्रकारी का ललित प्रस्फुटन, उसकी अर्थगर्भी संक्षिप्तता, उसका तुर्काना बांकपन है। यह अंदाज़ और यह शैली वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। ग़ालिब ने ग़ज़ल और कसीदे का वाह्य रूप-अलंकरण तो वही रखा है जो पहले था, लेकिन उनमें एक अंतर-क्रान्ति अवश्य पैदा कर दी है। लखनऊ में 'नासिख़' और दिल्ली में 'शाह नसीर' की दुनिया इन परिवर्तनों के महत्त्व को अच्छी तरह न समझ पायी, और ग़ालिब को यह कहना पड़ा—

"मेरे दावे पे य हुज्जत है कि
मशहूर नहीं।"

ग़ालिब की प्रेम-पारखी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि के विकास में उनकी विरासत, उनके व्यक्तित्व और उनकी जाति-वंश की विशेषताओं का बड़ा हाथ है। वह प्रेम के संयोग-रस को जीवन रूपी उद्यान में कौतुक वसंत का आगमन समझते हैं। और प्रस्तुत के आनन्द सुख-भोग को वास्तविक जीवन के लिए आवश्यक। उन्होंने जिन सत्यों का दिग्दर्शन कराया है, वे बौद्धिक क्रियाकलाप-जन्य नहीं, बल्कि अनुभव, अनुभूति और भावना से भरपूर होने के कारण ऐहिक-दैहिक एकदम भौतिक, और मानवीय हैं।

●

ग़ालिब का चरित्र और उनका आचरण आदर्श नहीं। उनमें बहुत से दोष हैं। तथापि, उनकी बौद्धिक सजगता का यह कमाल मामूली नहीं कि वह अपने परिवेश की असंगतियों से बेख़बर नहीं थे, और ह्रास और पतन के बाद नवनिर्माण को अवश्यंभावी मानते थे। उनके यहाँ जो पाश्चात्य संस्कृति की बरकतों का एहसास और अंग्रेज़ों के नये ज्ञान-विज्ञान, कानून-व्यवस्था और न्यायनिष्ठा की प्रशंसा मिलती है, वह इस बात का प्रमाण है कि वह सहज ही अपने वर्ग और परिवेश से ऊपर उठकर समस्याओं पर दृष्टिपात कर सकते थे। ग़ालिब ने कलकत्ते में कुछ दिन निवास किया था जो उस समय भारत में नयी सभ्यता का गहवारा था। आगरे के बाद दिल्ली ही उनका वतन था, जिसको पुरानी सभ्यता का प्रतीक कहना चाहिये। लेकिन यहाँ इनके समय में पुराने दिल्ली कालेज ने विज्ञान के विषयों को महत्त्व देकर एक नये क्षितिज का विस्तार प्रस्तुत कर दिया था। ग़ालिब की बौद्धिक चेतना के नक्शो-निगार इन्हीं दोनों नगरों के प्रति ऋणी हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने उर्दू शायरी ही को नया रंग और स्वर-साज नहीं दिया, आधुनिक उर्दू गद्य की बुनियाद रखने का श्रेय भी उन्हीं को है। उनके पत्रों में उनका व्यक्तित्व और उनके युग की आत्मा खुलकर बोल रही है। वही ताज़गी, उच्चाशयी दृष्टि और जीवन्तता जो उनके काव्य की विशेषता है, यहाँ भी देखने को मिलती है। जिस प्रकार उनकी ग़ज़ल व्यक्तिगत प्रेम-अनुभूति की टीका से आगे बढ़कर व्यापक जीवन के भाष्य का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, ऐसे ही उनके पत्रों में जीवन का खरा सोना पिघलता हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नज़र आता है।

●

मिर्ज़ा अपना रास्ता स्वयं तय करते हैं। उनको किसी सहारे की आवश्यकता नहीं। ऐसी घाटियों में जहाँ उनके पाँव चलते-चलते जवाब दे गये हैं, वह सीने के बल रास्ता तय करना चाहते हैं। वह रस्म-रिवाज और परंपरा के पाबंद नहीं। शेख और ब्राह्मण उनकी दृष्टि में एक हैं, उनके यहाँ **"अस्ल चीज अकीदे से वफ़ादारी है। मिल्लतें अहम नहीं हैं। उनके मिटने से जो ईमान बनता है, वह अहम है।"** उनकी मानवता के दायरे में मंदिर और काबा और जनेऊ और तस्बीह का अन्तर मिट जाता है। यही लय उनके पत्रों में भी है: **"मैं तो बनी-आदम को, मुसलमान हो या हिन्दू अपना भाई गिनता हूँ।"** उनके दोस्तों में हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी, उनके 'स्नेह-निकुंज' में पूर्णिमा की चाँदनी के समान मिर्ज़ा हरगोपाल 'तफ़्ता' और 'आँखों के तारे' (नूरेचश्म) मीर महदी, और अंग्रेज़ भी, जिनमें कोई उनका उमीदगाह था, कोई मित्र, कोई यार और कोई शिष्य।

मिर्ज़ा का जीवन से सीधा संबंध था। वह दो बरस के थे कि पिता दिवंगत हुए। पाँच साल के हुए तो चाचा सिधार गये। इसके बाद निस्संदेह इनको ननिहाल में सुख-ऐश्वर्य का उन्मुक्त वातावरण मिला। लेकिन इसका उनको मूल्य भी बहुत चुकाना पड़ा। कर्ज़ख्वाहों से कभी उनको छुटकारा नहीं मिला। ज़िन्दगी के सबसे अच्छे वर्ष उन्होंने जागीर की दौड़-धूप में गुज़ार दिये। उनके भाई मिर्ज़ा यूसुफ़ पागल हो गये। पचास बरस की उम्र में स्वयं जेल गये। हज़ार अरमानों के बाद बादशाह के उस्ताद नियुक्त हुए, तो दो ही साल में न वह पैमाना रहा न वह साक़ी। लेकिन इन विपत्तियों को वह "अपने दरिया-ए-बेताबी की एक मौजे-खूँ समझकर बर्दाश्त करते रहे।" इस खेल को उन्होंने लड़कों का खेल समझा, और अपनी सुसंस्कृत विनोदप्रियता और प्रसन्न शालीनता से जीवन को संभाला भी और संवारा भी।

परेशानियों और मुसीबतों में स्वयं हँसना और दूसरे को हँसाना आसान नहीं है। यह निष्कपट विनोदप्रियता पत्रों में भी देखने को मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं:

"मुझको देखो, न आज़ाद हूँ न मुक़ैयद, न रंजूर हूँ, न तन्दुरुस्त, खुश हूँ न नाखुश, न मुर्दा हूँ न जिन्दा। जिये जाता हूँ। बातें किये जाता हूँ। रोटी रोज खाता हूँ। शराब गाह-गाह पिये जाता हूँ। जब मौत आयेगी, मर रहूँगा। न शुक्र है न शिकायत। जो तक़रीर है बर-सबीले हिकायत।"[1]

मिर्ज़ा हातिम अली 'मेहर' को मातमपुर्सी का खत लिखते हैं। कैसा नाज़ुक मौक़ा है. लेकिन देखिये:

"मिर्ज़ा साहब, हमको ये बातें पसन्द नहीं। किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क-अफ़शानी,[2] और कहाँ की मसिया-ख्वानी। आज़ादी का शुक्र बजा लाओ, और ग़म न खाओ। मैं जब बहिश्त का ख़याल करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़िरत हो गयी,[3] और एक क़स्त[4] मिला और एक हूर मिली—अक़ामत जाविदानी[5] है—और उसी एक नेक बख्त के साथ ज़िन्दगानी है! इस ख़याल से जी घबराता है, कलेजा मुँह को आता है। है-है, वह हूर अजीरन हो जाएगी, तबीयत क्यों न घबरायेगी। वही ज़मुर्दी काख[6] और वही तूबा की[7] एक शाख! चश्मे-बद दूर, वही एक हूर। भाई होश में आओ, कहीं और दिल लगाओ!

मिर्ज़ा ग़ालिब का एक-एक वाक्य विचार को उभारा देता है। यथावत् चित्र खींचने में वह सिद्धहस्त हैं। यह अन्दाज़ पूर्ववर्ती उस्तादों (ज़हूरी और बेदिल) और उनके समकालीनों (तहसीन और रजब अली बेग 'सरूर') से बिलकुल भिन्न है—

"पाँच लश्कर का हमला पै-ब-पै[8] इस शहर पर हुआ। पहला बाग़ियों का लश्कर, उसमें अहले-शहर का एतबार लुटा। दूसरा लश्कर खाकियों[9] का, इसमें जान ओ माल ओ नामूस[10] ओ मकान ओ मकीन[11] ओ आसमान ओ ज़मीन को आसारे-हस्ती[12] सरासर लुट गए।..."

मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं—

"तुमने रुपया भी खोया और अपनी फ़िक्र[13] और मेरी इस्लाह[14] को भी। हाय, क्या बुरी कापी है अपने अश्आर की। और इस कापी की मिसाल जब तुम पर खुलती कि यहां होते, और बेगमाते-क़िला को फिरते चलते देखते। सूरत माहे-दो-हफ़्ता[15] की सी, और कपड़े मैले, पाँयचे लियर-लियर, जूती टूटी। यह मुबालग़ा[16] नहीं। बल्कि बेतकल्लुफ़ 'मुबुलिस्ता'[17] एक माशूक खूबरू है, लेकिन, बदलिबास।

एक और उद्धरण देखिए:

"पहले तुमसे यह पूछा जाता है कि बराबर कई खतों में तुमको ग़मोअंदोह[18] का शिकवागुज़ार, पाया है। बस, अगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी बेदर्द पर दिल आया है, तो शिकायत की क्या गुंजाइश है। बल्कि यह ग़म तो नसीबे-दोस्तां दरख़ुर अफ़्ज़ाइश[१६] है।···और अगर ख़ुदा-न-ख़ास्ता ग़मे दुनिया है तो, भाई, हमारे हमदर्द हो। हम इस बोझ को मर्दाना उठा रहे हैं। तुम भी उठाओ, अगर मर्द हो।"

इसमें कोई शक नहीं कि ग़ालिब ने इस रंज को मर्दाना-वार उठाया। उनके यहाँ आनन्द-लहरी संगीत भी है और विपत्तियों का मातम भी। "एक दार्शनिक का-सा भाव है, जिसमें दुःख और सुख दोनों के लिए गुंजाइश है।" और शायद दोनों की आरज़ू। इसने उनके जीने के बोझ को हलका कर दिया है। और यही उनका सन्देश है—अगर ग़ज़ल के गीत गाने वाले शायर का कोई 'सन्देश' हो सकता है।

●

मिर्ज़ा ग़ालिब को पद्य और गद्य दोनों पर समान अधिकार था। ऐसा कलावैशिष्ट्य, ऐसी महत्ता सामान्य बात नहीं। शेख़ सादी, ज़हूरी और मिल्टन के अतिरिक्त बहुत कम लोगों को यह गौरव प्राप्त है। काव्य में ग़ालिब की विलक्षण प्रतिभा की देन अपनी जगह निश्चय ही शाश्वत मूल्य की है। लेकिन अगर (मेरे मुँह में ख़ाक!) दीवाने-ग़ालिब न होता, और केवल ग़ालिब के पत्र होते, तब भी उनका स्थान उर्दू साहित्य में वही होता जो आज है! ●

अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

१. मात्र दृष्टान्त-स्वरूप।
२. आँसू बहाना।
३. जीवन के पापों के लिए क्षमा मिल गई।
४. महल।
५. निवास अनंत तक।
६. लाल-जवाहर का महल।
७. कल्पतरु।
८. एक के बाद एक।
९. खाकी वर्दी वालों।
१०. इज़्ज़त।
११. मकान में रहने वाले।
१२. जीवन-चिह्न।
१३. काव्य-चिंतन, काव्य-रचना।
१४. संशोधन।
१५. पूर्णचन्द्र।
१६. अतिशयोक्ति।
१७. सुंबुल के जंगल की तरह लबर-झबर।
१८. दुख और पीड़ा।
१९. दोस्तों को सौभाग्य से मिलता है; इसकी बढ़ती हो!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की आधुनिकता

अहमद हुसेन

प्रशंसा के लिए आप ग़ालिब से कहते कि "साहब, आप तो बड़े आधुनिक क़िस्म के आदमी हैं तो आप यक़ीन मानिए ग़ालिब खुश न होते। खुश होना तो दूर रहा, वह और उल्टे बिगड़ जाते। यद्यपि वह बड़े सज्जन पुरुष और सहज स्वभाव के आदमी थे और बुढ़ापे तक चिड़चिड़ेपन से इतनी दूर रहे कि 'बुरहाने कराते' की बहस में गंदी-गंदी गालियाँ खाते रहे और मुस्कराते रहे। पर आधुनिकता उस समय आज के समान कोई प्रशंसनीय बात नहीं बल्कि निंदनीय बात समझी जाती थी, क्योंकि वह ग़ालिब युग की करीव-करीब सारी प्रमुख मान्यताओं के विपरीत थी।

पर इससे ग़ालिब की आधुनिकता का कोई संकेत मिले या न मिले, उसकी सीमाओं का ज़रूर अन्दाज़ा हो जाता है और पता चल जाता है कि ग़ालिब अगर आधुनिक इंसान थे, या आधुनिक कवि थे, तो प्रयास से नहीं, आत्मनिर्णय से नहीं बल्कि अपनी चेतना के अनुसार उनके जीवन का जो कुछ भी स्पष्ट आदर्श था उसके बावजूद। मगर इसका परिणाम यह कम निकलता है कि उनकी आधुनिकता अधूरी और अधकचरी थी और यह ज़्यादा कि वह इतनी 'जेनुइन', सच्ची और तीव्र थी कि ग़ालिब के सचेत व्यक्तित्व को विवश करके कुछ उनके जीवन को बदले और वहुत-कुछ उनकी कला को, यहाँ तक कि गद्य में तो उनको एक विशेष शैली का निर्माता बनने पर बाध्य कर दे जिससे उत्तरी भारत में बेतकल्लुफ़ लेख के चलन का समारम्भ हो।

मगर उनका सचेत आदर्श था रूढ़िवाद जिसे बड़े गर्व से आज भी ग़ालिब के युग की तरह लोग 'वज़ादारी' कहते हैं। शेर में तो वे खैर 'वज़ादारी' के प्रति अपनी श्रद्धा जगह-जगह व्यक्त करते ही हैं, जैसे—

वो अपनी खू न छोड़ेंगे, हम अपनी वज्ज: क्यों छोड़ें

और

वाँ वो ग़ुरूरे-इज्ज़तेनाज़, या ये हिजाबे यासे वज्ज:
राह में हम मिलें कहाँ बज़्म में वह बुलाए क्यों

लेकिन इससे कहीं ज़्यादा वह जीवन में इसके पाबन्द थे, जिसका एक रूप यह है कि जिसको मित्र कह दिया, कह दिया, अब उसकी दोस्ती से फिर नहीं सकते, अगर फिरे तो बाकी संसार का अनादर तो बाद में भुगतना होगा, पहले तो आदमी अपनी आँख से गिर जाएगा। मगर उससे व्यापक और हानिकर रूप यह था कि परम्परा के अनुसार जो रीति-रिवाज निश्चित हैं उनमें भी परिवर्तन करना पाप है। बाप-दादा जो खाते थे, खाइए, जो पहनते थे पहनिए, यही नहीं बल्कि जैसे लोगों से मिलते थे, जो काम-काज किया करते थे, विद्या और ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रणाली अपनाते थे वही आप भी अपनाइए और वही सब आप भी कीजिए। चलिए यह भी हो गया मगर वज़ादारी का ग़लत परिणाम यहाँ तक पहुँचता था कि विचार, कल्पना और कला के क्षेत्र में भी आप सनातन रूप अपनाइए, बाप-दादा जैसे सोचते थे आप भी सोचिए, बुजुर्गों में जैसे शेर कहने का चलन था आप भी अपने काव्य को उसी साँचे में ढाल लीजिए।

और ग़ालिब ने इसकी पूरी-पूरी कोशिश की। खुद इशारा करते हैं कि यह काम कितना कठिन था और इसमें उन्हें कैसा घोर परिश्रम करना पड़ा,

तर्ज़े बेदिल में रेख़्ता कहना
असदुल्लाह खाँ क़यामत है

आसान डगर से कतराने और कठिन रास्ते पर चलने का ग़ालिब को शुरू ही से जो शौक था उसके अनुसार उनके लिए बेदिल की अत्यन्त कठिन मगर सुदृढ़ फ़ारसी शायरी का ही आदर्श सामने आ सकता था जो उनके पहले की शताब्दी से बुद्धिजीवी सम्प्रदाय पर छाई हुई थी। बेदिल को प्रेरणा के अधीन ग़ालिब अपनी शायरी को गोरखधन्धा बनाकर न सिर्फ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तुष्ट रहे बल्कि शायद उनको इसका गर्व भी हो कि उनका हर शेर वह ताला है जिसे कोई आसानी से हर चाभी से नहीं खोल सकता। ख़ैर, बेदिल में तो मुश्किल होते हुए भी बड़ी जान है, मगर ग़ालिब पर तो करीब-करीब उसी युग के कहीं ज़्यादा छिछले फ़ारसी शायरों का भी अच्छा-ख़ासा प्रभाव पड़े बग़ैर न रहा। प्रभाव के शक्तिशाली होने का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अपने लम्बे-चौड़े दीवान में से बहुत बड़ा भाग निकाल देने से भी, जो ज़ाहिर है इन्हीं लोगों का बिगाड़ा हुआ था, उर्दू के इस सबसे छोटे दीवान में श्री ख़ुर्शीदुलइस्लाम ने दिखाया है कि दर्जनों शेर ऐसे शेष रह गए हैं जो बिलकुल इन्हीं गुंजलक और अस्पष्ट कवियों के समानान्तर मिलते हैं।

समय बदल जाने के बाद अपने और पिछले युग का ग़ालिब पर यह प्रभाव बहुत कम हो गया मगर बिल्कुल समाप्त बहुत अरसे तक नहीं हुआ और शायरी का वह रंग बीच-बीच में अक्सर उभरता रहा जिसका स्रोत बेदिल के यहाँ से फूटा था और जिसमें उनसे

शुमारे सुब्ह मर ग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया
तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया।

और

मेरे क़द्हे में है सहबाए आतशे पिन्हा
बरूए सुफ़रा, कबाबे दिले समन्दर खेंच

और

आगही दामे शुनीदन जिस क़दर चाहे बिछाए
मुद्दआ उन्क़ा है अपने आलमे तक़रीर का

कहलवाया था, (कोई उन्क़ा बुन्क़ा समझने वाला हो तो उससे चुपके से कहने का जी चाहता है कि मुद्दआ की तरह इन शेरों का मज़ा भी उन्क़ा है)

ये शेर बिल्कुल अर्थहीन नहीं हैं किन्तु काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ज़रूर हैं। इनमें ढूंढ-माल के ऐसे भी शेर मिल जाएँगे जो बिल्कुल बेनमक नहीं कहे जा सकते, जैसे :

नक्शे नाज़े बुते तन्नाज़ आगोशे रक़ीब
परे ताऊस पए ख़ामए मानी माँगे

मगर यह सब शेर ग़ालिब के उस विशेष रंग से वंचित हैं जिसने ग़ालिब को ग़ालिब बना दिया।

ग़ालिब ने यह कठिन मगर निष्फल और अलाभकर डगर क्यों छोड़ी इसके बहुत से कारण हैं जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है, संक्षेप में इतना ही कहना उपयुक्त है कि मूल कारण था देहली। दस साल वे आगरे में और रह जाते तो शायद ग़ालिब कभी ग़ालिब नहीं बन सकते थे, चाहे विद्वान बनते, चाहे विद्वान-कवि, भाषा-शास्त्र के विशेषज्ञ समझे जाते, मिर्ज़ा, नौशा और दबीरुलमुल्क की भाँति विभिन्न आदरों से सम्मानित किए जाते या केवल वही गुमनाम असदुल्लाह बनकर रह जाते। उस वक्त तो ख़ैर लौंडे थे, मगर पैसा भी था और स्वास्थ्य भी, हाथ-पैर भी बुरे न थे, रंग-रूप उससे भी अच्छा था और शौकीनी और रंगीनी सबसे बढ़ी हुई। मगर बड़ा गज़ब यह था कि दिमाग़ बला का पाया था और शिक्षा भी बचपन में ही युग के अनुसार प्रमुख विषयों में अच्छी-ख़ासी विस्तृत हो गई थी, इसलिए बुद्धि के स्तर पर किसी को अपने बराबर समझते ही नहीं थे, विशेषकर शाइरी में। समझते भी कैसे, लड़कपन में जिसे बेदिल की पहेलियाँ सुलझाने में रुचि हो उसके लिए नज़ीर अकबराबादी के आगरे वालों में, **"फिर देख बहारें होली की"**, **"सब ठाट पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बंजारा"** और **"कल राह में हमको जो मिला रीछ का बच्चा"** वाली शायरी में, नगर की काव्यात्मा उसकी अति सरल लोक-प्रतिभा में क्या आकर्षण हो सकता था।

किसी ज़माने में जब नज़ीर के लोकवाद का ग़लत ढंग से पक्षपात करने की भावना आम थी। एक साहित्यिक गप्प यह भी उड़ी थी कि कुछ दिन मियाँ नज़ीर भी इन साहबज़ादे के गुरु रहे। यह सच है तो बड़े मियाँ को क़रीब से देखकर बददिमाग़ लौंडे के दिल से रहे-सहे आदर की भावना भी जाती रही होगी और अगर यह अनुमान एक निराधार अन्दाज़ा है तब भी कौन कह सकता है कि काव्य में ग़ालिब की मुश्किल-पसन्दी नज़ीर ही की घोर, 'बेमाज़' सरलता का प्रतिशोध नहीं था, क्योंकि यह सम्भव नहीं मालूम होता कि ग़ालिब जैसी हस्सास आत्मा में (वह नौ-दस का लड़का ही क्यों न रहा हो मगर उसकी काव्य-रुचि का अच्छा-ख़ासा विकास हो चला था) नज़ीर जैसे नगर के लोक-जीवन पर छाए हुए कवि के प्रति कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। क्योंकि अपने युग बल्कि अपने जीवन के दूसरे प्रसिद्ध कवियों के सम्बन्ध में निष्पक्ष रहना ही ग़ालिब का आचरण होता तो वे यह क्यों कहते—

रेख़्ता के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
कहते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उससे भी आगे बढ़कर मीर की महानता के पक्ष में नासिख़ की गवाही क्यों दिलवाते—

ग़ालिब अपना ये अक़ीदा है बक़ौले नासिख़
आप बेबहरा है जो मोतिक़दे मीर नहीं

इसलिए यह ख़याल होता है कि अगर शुरू जवानी में भी यह सरफिरा मगर योग्य युवक आगरे ही में रह जाता तो शायद उसका भटका हुआ चलन पक्का हो जाता। मगर ख़ैर क्या होता क्या न होता यह तो अब केवल विद्वानों का विवाद है। यथार्थ तो यह है कि दिल्ली पहुँचकर ग़ालिब को बदलना पड़ा।

दिल्ली के पास कोई जादू की छड़ी नहीं थी जो उसने उनके क़लम से हुई और बस उसमें ऐसा कायाकल्प हुआ और ऐसी केंचुल बदली कि "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला चल पड़ा। मानो प्रेरणा को इसी चरण की प्रतीक्षा थी जिस पर पहुँचकर एक-से-एक अछूते शेर क़लम के गिर्द प्रवेश करने और उसके चरणों को छूने लगे। यह तो नहीं था मगर ग़ालिब जैसे युवक के प्रशिक्षण की दिल्ली में बड़ी शक्ति थी क्योंकि उनके रुचि-सुधार के लिए मीर, सौदा और दर्द की शायरी की तरह की तमाम उचित सुविधाएँ उपलब्ध थीं और उनका गुरूर तोड़ने के लिए मान्यता न देने वाले दरबार और दुश्मनी करने वाले कोतवाल से लेकर विदेश से आए हुए ग़ालिब के देश पर मनमाना राज करने वाले गोरों तक सारी आवश्यक सामग्री मौजूद थी।

देहली जो एक नाम था, एक परम्परा थी, सारे उत्तरी भारत को प्रभावित करने वाली एक देशव्यापी संस्था थी—जिसके साहित्यिक विचार और फ़ैसले को ग़ालिब क्या कोई भी नहीं टाल सकता था, अब उनके लिए एक शक्तिशाली यथार्थ बनकर सामने आई, एक ऐसा भारी पत्थर कि जिससे दूर के देखे हुए सारे स्वप्न टकराकर चूर हो जाते थे और ऐसा स्पष्टकारक और निठुर आईना जिसमें देखने वाली आँख को भारत वैसा ही नंग, घिनौना और लिथड़ा हुआ दिखाई देता था जैसा कि वह था (क्योंकि बनिया-राज के लिए बनी हुई शीशे की वह फूटी आँख बननी भविष्य में अभी बहुत दूर थी जिसमें मंत्रियों और नेताओं का कोई कलंक दिखाई ही नहीं देता, चाहे वह दो हाथों के बजाय अपने लड़के को मिलाकर चार-चार हाथों से लूटें और एक ज़बान की जगह, सारे हाई कमान को मिलाकर दस-दस ज़बान से झूठ बोलें)।

यह विचार बहुत व्यापक है कि दिल्ली में ग़ालिब को दुश्मनों ने टोक-टोक कर उनके काव्य की सारी मुसम्मेबाज़ी, मुश्किलपसन्दी और बेदिल के प्रति उनकी श्रद्धा नाक की राह निकाल ली, चुनांचे इन्हीं लोगों को उन्होंने झल्लाकर जवाब दिया कि **"गर नहीं है मेरे अशआर में मानी न सही"**। इससे ज़्यादा दोस्तों ने समझा-समझाकर सुधार किया। यह विचार वैसे तो ठीक ही है, क्योंकि दिल्ली की महानता के सामने उनका अहंकार इतना बड़ा थोड़ी रह गया था जितना बड़ा वह आगरे के कस्बाती समाज के आगे मालूम होता था और इसलिए अब वह दोस्त-दुश्मन की बात पर कान धरने को तैयार थे, मगर ग़ालिब में जो परिवर्तन आया वह केवल आलोचकों के बस की बात होती तो वह बिगड़ते ही क्यों और इस परिवर्तन की ज़रूरत ही क्यों पड़ती ? सच्ची बात यह है कि दिल्ली का अस्तित्व खुद ही रूढ़िवाद के सारे ढकोसलों पर इतना सख्त प्रहार था कि पहेलीबाज़ी, ताले-कुंजी की शायरी और इस प्रकार के हर पागलपन का मुँह फेर दे। कोई टोकने वाला न भी होता तो मीर, दर्द और सौदा की दिल्ली में, मज़हर जाने जाँ की दिल्ली में कोई कब तक "शुमारे सुब्ह मरग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया" की शायरी कर सकता था। "तुम्हें याद हो कि न याद हो" वाले मोमिन "ज़बाने खल्क को नक्कार ए ख़ुदा समझो" वाले ज़ौक और "मेरा रंग-रूप बिगड़ गया मेरा यार मुझसे बिछड़ गया" वाले ज़फ़र के साथ मुशायरों के मंच पर बैठकर कोई "तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया" की बड़ कब तक हाँक सकता था। और फिर दिल्ली वाले भी थे, जिनकी ज़बानों पर मीर और सौदा की ग़ज़लें अभी चढ़ी हुई थीं, दिल्ली की गलियाँ भी थीं, जिनमें कल्मे मुअल्ला के रात के मुशायरों में पढ़ी हुई ज़ौक और ज़फ़र की ग़ज़लें गूंजने लगती थीं।

अगर यह मार ग़ालिब के सुधार के लिए काफ़ी न थी तो इससे बड़ा कोड़ा यह था कि दिल्ली पर अधिकार उन लोगों का था जिनके लिए बेदिल, सायब और कलीम का क्या ज़िक्र है, उर्फ़ी व ख़ाक़ानी की भी कोई हस्ती न थी, सादी और फ़िरदौसी तक, एकाध के अलावा, बाकी सबके लिए केवल नाम ही नाम थे। उनमें जो हिन्दुस्तानी भाषा, साहित्य और काव्य पर अहसान करता था वह भी इतना कि मीर के शेर—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए
सब उसी जुल्फ़ के असीर हुए

को अंग्रेज़िया कर—

ऐम ठा, टूमे ठा, एक ओर जेन्टिलमैन ठा
सब उसी काला कैंडखाना में बैंड ठा

बना देता था। यह दिल्ली, "जहाँ ख़ल्क ख़ुदा की, मुल्क बादशाह का" तो था मगर "हुकुम कम्पनी बहादुर का" चलता था। फ़ारसी पढ़ने वालों को केवल तेल बेचने की आस्था देती थी। बादशाह के पीछे छिपे हुए अंग्रेज़ी राज की इस दिल्ली में पुरानी सभ्यता का, जिसे ग़ालिब भारतीय सभ्यता समझते थे, उसके आदर्शों का, उसकी मान्यताओं का, उसकी कला और उसके 'हुनर' का मूल्य गिरता जाता था, जिससे उन्हें तकलीफ़ तो बहुत होती थी और वे बार-बार 'हुनर' की ना-क़दरी का रोना रोते थे, जो उनकी अपनी व्यक्तिगत शिकायत तो थी ही, पर उससे कहीं ज़्यादा सारे साहबाने हुनर की ओर से की जाती थी, मगर इस सबके साथ वे यह भी समझते थे कि विदेशी शासकों का चूँकि हमारी कला से कोई सम्बन्ध नहीं, देश के वास्तविक अधिकारियों की सरपरस्ती अब उसके सर से उठ गई, इसलिए देशवासियों की भी इसमें अब वह रुचि नहीं रही। बल्कि ग़ालिब की आँखों को यह भी देखना पड़ा कि लोग उनके शेरों का मज़ाक उड़ा रहे हैं, 'शुमारे सुब्ह···' वाले शेर नहीं बल्कि एक-से-एक अछूते शेर का, क्योंकि फ़ारसी और उर्दू से मुँह फेरकर लोग अब अंग्रेज़ी की तरफ़ झुक रहे हैं। जब स्थिति यह हो कि ग़ालिब और उनके साथियों की शायरी का मज़ाक उड़ाया जाए और उन्हें ज़हर का घूंट पीकर कहना पड़े---

हमारे शेर हैं अब सिर्फ़ दिल्लगी के असद,
खुला कि फ़ायदा अर्ज़े हुनर में ख़ाक नहीं।

तो भला इस मेले में बेदिल वाली काग़ज़ की नाव कब तक चलती है।

मगर एक मूल कारण, जिसका महत्त्व सबसे अधिक है, ग़ालिब की अपनी आर्थिक स्थिति थी जिसमें केवल यही परिवर्तन नहीं हुआ था कि आगे की वह खाती-पीती हालत बल्कि अलल्ले-तलल्ले ख़त्म हो गए, लड़कपन से अभी जवानी में क़दम भी न रखा था—

मारा ज़माने ने असदउल्लाह ख़ाँ तुम्हें
वो वलवले कहाँ, वो जवानी किधर गई,

कहने की नौबत न आई थी कि एकदम से शादी हुई, घर का बोझ सर पर पड़ा और नौउम्र ग़ालिब अपने-आपसे पूछने लगे—

वो बादए शबाना की सरमस्तियाँ कहाँ

शादी के बाद ग़रीबी दबे पाँव नहीं बल्कि आँधी और तूफ़ान की तरह आई और ग़ालिब को ऐसा जकड़ा कि फिर ज़िन्दगी-भर न छोड़ा। अक्सर गद्य और पद्य में ख़ुद कहा है कि हर्ष और उल्लास का बस एक क्षण मिला था, मगर उसका दण्ड जीवन-भर झेला और फिर पूरा नहीं हुआ।

तो ग़रीबी तो आई मगर उसके साथ-साथ इतिहास के थपेड़े ने ग़ालिब को अशराफ़ या 'एरिस्टोक्रेसी' के वर्ग से बहाकर निचली मध्यम श्रेणी में ला पटका। ग़ालिब की मर्ज़ी से नहीं, वह तो उसी पुराने वर्ग में जमे रहने के लिए बहुत मचले, बहुत हाथ-पैर पटकते रहे, अधेड़ उम्र तक दौड़-भाग करते रहे, क्योंकि बाप-दादा की जाने दीजिए तो ख़ुद उनकी अपनी शादी इसी वर्ग में हुई थी, नवाब और राजा क़िस्म के लोग उनके सगे-सम्बन्धी थे और उन्हें देखकर दिल में हूक उठनी स्वाभाविक थी कि काश हम भी इन्हीं में शामिल होते।

मगर लाख जतन किए, अंग्रेज़ों से दोस्ती की, लन्दन तक चिट्ठी-पत्र दौड़ाए, गोरी चमड़ी के मामूली-से-मामूली चपरकनातिए से लेकर मल्का विक्टोरिया तक की प्रशंसा में कविताएँ लिखकर भेजीं, मगर सारी ज़िन्दगी पर मारने का फल रत्ती-भर न मिला। वह जो मोमिन ने कहा है, "आखिर तो दुश्मनी है दुआ को असर के साथ" उसका विस्तार ग़ालिब की पूरी ज़िन्दगी बन गई।

बादशाह की उस्तादी की सम्भावना तो ख़ैर बहुत बाद में पैदा हुई थी, मगर शुरू ही में राजों और नवाबों के साथ सम्मिलित होने के स्वप्न का ठोस परिणाम यह भी न निकला कि डेढ़-दो सौ बीघा ज़मीन ही मिल जाती और खाते-पीते जमींदारों में ही गिनती होने लगती। अन्त में रामपुर से पिन्शिन बँधने तक वही बावन रुपये मासिक की आय और ज़िन्दगी-भर का साथ। इस आमदनी में यूँ भी कौन-सा चैन था जो शराब की लत पड़ गई और उसने पैसे की मार को पेट की मार बना दिया। घर की सामग्री गिरौ रखने का कारण पेट की आग थी या मदिरा की प्यास, मगर यथार्थ यह है कि बर्तन-भाँडों के बाद कपड़े तक गिरौ रखने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौबत आने लगी, चुनांचे एक पत्र में, व्यंग्य के रूप में लिखते हैं (क्योंकि व्यंग्य की हँसी से जिगर के घाव छिपाने का हुनर ग़ालिब से अच्छा शायद कम लोगों को आया है) कि और लोग कपड़े पहनते हैं मैं कपड़ा खाता हूँ।

दारू की दौड़-भाग में पाँव जितने तेज़ हुए उतने ही हाथ बँधते गए, दिमाग खुलता गया और बावन रुपये की गरीबी का अहसास शायद उससे भी ज़्यादा बढ़ गया जितना कि उचित था, वरना यह बात कहीं समझ में आने वाली है कि ग़ालिब जैसा मर्यादा पर मर मिटने वाला आदमी जुए की सज़ा में जेल जाए, वह शख़्स जो ख़ुदा के दर के द्वार बन्द पाकर पता नहीं सचमुच पलट आता या न पलटता मगर अंग्रेज़ प्रिंसिपल के दर से जरूर पलट आया—और यह समझकर पलटा कि इस दर को फलाँगते ही बावन रुपए की ज़िन्दगी से मुक्ति है, अच्छे-ख़ासे पैसों की नौकरी है और कालेज के अध्यापक का आदर है।

इसी तंगा-तुर्शी पर, जिसने जुए में उलझाया, ग़ालिब ने ख़ुद बड़े व्यंग्य के साथ टिप्पणी की है कि "मियाँ बड़े शायर बनते हैं, आपकी सूरत तो देखिये, इनकी हक़ीक़त क्या है, बनिया चाहे तो भूखा मार दे, कर्ज़दार चाहे तो इज़्ज़त उतार ले···" ···इस तरह वह तो कड़वी-से-कड़वी बात फीकी हँसी हँस-हँसकर कहे जाते हैं मगर पढ़ने वाले को ज़ब्त करना मुश्किल हो जाता है और कहीं-कहीं तो आँखें भी रोते हुए दिल का साथ देने लगती हैं।

तो दिल्ली का मतलब था शासक वर्ग से कटकर मध्यम वर्ग में मिल जाना, हकीमों, मुंशियों, सरकारी अहलकारों, छोटे-मोटे अहलकारों, गर्ज़ यह कि सफ़ेदपोशों और आमतौर पर उन लोगों से मेल-जोल जिन्हें 'अहलेदुआ' और 'अहले-पेशा' कहकर सालहासाल तक ग़ालिब उनसे एक तरह की दूरी बनाए रखने की बेकार-सी कोशिश करते रहे, मगर कब तक ? रफ़्ता-रफ़्ता ऐसे घुल-मिल गए कि बिल्कुल एक हो गए जिसका पूरा-पूरा प्रमाण उनके पत्रों में मिलता है। वह इन पत्रों में अपने बहुसंख्यक मित्रों से जिस प्रकार खुले दिल से बात करते हैं, हर रुकावट, हर कृत्रिम भावना, हर तरह की ऊँच-नीच, हर प्रकार के ऐंच-पेंच, सावधानी और संकोच से मुक्त होकर हँसते और गले मिलते हैं वह ऐसा रूप है जो घर के बाहर नहीं घर के अन्दर सच्चे जनतन्त्र का चित्रण है।

उर्दू में पत्र-व्यवहार ग़ालिब ने बाध्य होकर किया। माना कि पत्र लिखने के लिए उन्हें कोई ख़ास मजबूरी नहीं थी जैसी जननी के समान एक शायर को होती है। जब उसकी चेतना पर शेरों की वर्षा होने लगती है, "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला दिल की धड़कन तेज़ कर देता है, दिमाग़ की रगों में तनाव पैदा कर देता है और सारी आत्मा को गर्भवती की तरह बोझिल बना देता है। मगर यहाँ भी हुआ वही कि इस रास्ते पर वह लोगों की ख़ुशी के लिए चले और फिर इस पथ-गमन की प्रतिध्वनि से ख़ुद उनको ही लोभ हो गया और यद्यपि फ़ारसी के स्थान पर उर्दू में पत्र-व्यवहार का चलन उन्होंने ख़ासी उम्र में शुरू किया, थोड़े ही समय में ख़त लिखने-लिखाने की चाट-सी लग गई और "कासिद के आते-आते ख़त इक और लिख रखूँ" का वह सिलसिला बँधा कि पत्रों के बोझ से ग्रन्थ के ग्रन्थ तैयार हो गए। और चूँकि यह सारा सिलसिला ही प्रौढ़ आयु में प्रारम्भ हुआ इसलिए उनकी पूरी पत्रावली समतल प्रकार से असाधारण उच्च साहित्यिक स्तर पर दिखाई देती है जिसमें बहुत खोज लगाकर मानो अनुसन्धान के लिए कोई-आध सिकुड़न या झोल पकड़ में आजाए तो बड़े भाग्य की बात समझनी चाहिए।

इसलिए ग़ालिब को बदलना पड़ा। बेदिल के और अपने "नक्शे नाज़े बुते तन्नाज़···" वाले काव्य को हुनर समझते हुए भी बदलना पड़ा। लेकिन मीर, दर्द और सौदा की परम्परा, दिल्ली की भाषा की घुलावट, सुथरी शायरी में जनता के एक अच्छे-ख़ासे भाग की दिलचस्पी, यहाँ के उच्च साहित्यिक स्तर के प्रभाव दोस्तों की सलाह और दुश्मनों के टहोकों और फिर अँग्रेज़ी राज के कोलाहल के कारण एक बार जब उन्होंने बदलना शुरू किया तो इतनी तेज़ी से बदले कि कुछ बरसों में "शुमारे सुब्ह······" के दूर देश से

आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।

के अपने प्रिय प्रदेश में पहुँच गए। कहने का मतलब यह नहीं कि उन्होंने वह ग़ज़ल फ़ौरन कह दी जिसमें यह शेर आता है, न यह कि इसी प्रकार के शेर शीघ्र ही आम तौर पर कहने लगे, बल्कि यह कि अब उनकी शायरी का स्रोत ज़ेहन के बजाय जमुना हो गई जिससे "आगे आती थी······" वाली शायरी फूटती है। अब उनका ध्यान ऐसी दिशाओं की ओर मुड़ गया जहाँ पहुँचकर कविता की ऊँची चोटियाँ नीचे दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक फैली मालूम होती हैं।

चूँकि यह सुधार युग की माँग के अनुकूल था इसलिए समय बीतने के साथ-साथ यह सुदृढ़ होता गया और फिर एक प्रकार से दिल्ली से भी अत्यधिक प्रभावशाली एक नगर उनके जीवन में आया—कलकत्ता—जिसने सारे आन्तरिक जीवन में ग़ालिब की चेतना ही नहीं अर्धचेतना में भी एक क्रान्ति पैदा कर दी। दिल्ली में जो रास्ते उन्होंने अपनाये थे अब उन पर पक्के हो गए और नज़ीर के लोकवाद से भागने वाला कवि, लोकभाषा, लोकशैली, लोकस्वर और लोकध्वनि में बेदिल और उर्फ़ी के अर्थ अदा करने वाला सबसे कामयाब शायर बन गया:

हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।
आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।
है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ
वर्ना क्या बात कर नहीं आती।

और इसी के साथ लोक-भावना को बेदिल और उर्फ़ी बल्कि उनसे भी उच्चतम भाषा और शैली में प्रस्तुत करने का सलीका भी उसने कमाल को पहुँचा दिया:

एक नौ बहारे नाज़ को ताके है फिर निगाह
चेहरा फ़रोग़े मै से गुलिस्ताँ किये हुए।
माँगे है फिर किसी को लबे बाम पर हवस
ज़ुल्फ़ सियाह रुख पे परीशाँ किये हुए।

इन दो नगरों के अतिरिक्त दो व्यक्ति भी हैं जिनका कवि को आधुनिक बनाने में बड़ा हाथ था। एक का नाम था असदुल्लाह खाँ और दूसरे का ग़ालिब। असदुल्लाह खाँ गृहस्थ, दुनियादार और समझदार आदमी थे और ग़ालिब थे कलाकार अपने व्यापकतम अर्थों में।

मिर्ज़ा असदुल्लाह खाँ बहुत समझदार ही नहीं बल्कि कवि और कलाकार होते हुए भी खासे चालाक आदमी भी थे, बुरे मानों में भी और अच्छे मानों में भी, क्योंकि वे दूसरों का बुरा चेतने वालों में से बिल्कुल नहीं थे। उनकी चालाकी का प्रमाण अँग्रेज़ों के प्रति उनके रवैये से मिलता है जिनको उनका रोआँ-रोआँ कोसता था क्योंकि अँग्रेज़ों ने खुद उनकी पेन्शन करीब-करीब डकार ली थी, उनके भाई को जान से मारा था, उनके सैंकड़ों अज़ीज़ों और दोस्तों को मारा था, उनके नगर के उसी भाग को, जो दिल्ली की जान था, गिराकर बिल्कुल ज़मीन के बराबर कर दिया था। मगर ग़ालिब ने कभी उनके विरोध में भूले से भी एक लफ़्ज़ नहीं लिखा, लिखना तो दूर रहा उनके ख़तों में भी इसका दूर-दूर कोई इशारा नहीं मिलता, इसलिए पता चलता है कि वे घनिष्ठ मित्रों तक से अपने दिल के इन जख़्मों का कानाफूसी में भी भी ज़िक्र नहीं करते थे और इसीलिए भाई की मौत को जान-बूझकर बीमारी के कारण मशहूर कर दिया जिससे उन्हें विरोध फैलाने का दोषी न समझा जाए इस सबके पीछे डर से भी बड़ा कारण उनकी सावधानी थी, क्योंकि फ्रेज़र के क़त्ल पर नवाब शमसुद्दीन को फाँसी तो बाद में हुई (जिस पर लोगों को यह भी शुबहा था कि नवाब की शिकायत ग़ालिब ही ने की) मगर ग़ालिब इससे २०-३० वर्ष पहले ही अंग्रेज़ों के तेवर भाँप गए थे और यह रहस्य अच्छी तरह समझ चुके थे कि उनकी बाएँ ओर आए तो जान की अमान नहीं। इसी तरह अपनी समझदारी के कारण वे बहुत शुरू में ही समझ गए कि शायरी और अदब की हवा किधर की है और अंग्रेज़ को खुश रखने की कोशिश की तरह, यहाँ भी समय का साथ देने के लिए बदले तो कुछ बहुत ख़ुशी से नहीं। ख़ुशी तो जब हुई जब सच्ची कला के निर्माण से एक सच्चे कलाकार को मज़ा आने लगा।

एक ओर ज़माने और स्वयं मिर्ज़ा साहब की अपनी सूझ-बूझ और दूसरी ओर व्यक्तित्व पर परम्परा के प्रभाव में जो अन्तर्विरोध था, इस समस्या का समाधान कवि की कलात्मक आत्मा ने किया, काव्य-अहंकार ने अर्थात् शायरी के क्षेत्र में ग़ालिब के एक अत्युत्तम विशेष वाद ने। मगर यह समाधान दोनों विरोधी तत्त्वों में से किसी एक को अपनाकर और दूसरे को छोड़कर नहीं बल्कि दोनों फ़ीतों को एक साथ इस प्रकार बुनकर किया गया जिसमें परम्परा का रंग पृष्ठभूमि में चला गया और युग का आगे-आगे, और यही ग़ालिब की आधुनिकता है।

ग़ालिब के विशेष 'वाद' से हमारा क्या मतलब है? केवल यह कि ग़ालिब की इस अभिलाषा ने कभी एक क्षण के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ा कि वह अपना मार्ग अलग बनाए। पिटे हुए रास्ते पर चलने से उनके पग रुकते थे और चबाए हुए निवाले उगलने से उनकी आत्मा को सदा घृणा रही। इस प्रवृत्ति का कला तो क्या रोज़मर्रा के जीवन पर भी इतना प्रभाव था कि जब बाल सफ़ेद होने के कारण दाढ़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुड़ाना छोड़ी तो सर मुड़ाना शुरू कर दिया क्योंकि एक पत्र में ख़ुद लिखते हैं कि दिल्ली में दाढ़ी तो एक यूनीफार्म बनी हुई है। सक्के और धोबी से लेकर बादशाह तक···बादशाह का ग़ालिब ने नाम तो नहीं लिया मगर उनके पत्र में इशारा इतना व्यापक है कि बहादुरशाह उसकी लपेट में आ ही जाता है—सभी दाढ़ी रखे हैं, इसलिए मित्रो मैंने दाढ़ी रखने के साथ बाल मुड़ाने शुरू कर दिए ताकि भिन्नता का कोई चिह्न तो हो। और आदमी जब अपना रास्ता अलग निकालता है, चाहे वह किसी क्षेत्र में हो तो उसे आगे देखना पड़ता है पीछे नहीं, वह आधुनिक बनता है रूढ़िवादी नहीं।

"शुमारे सभा···" से "हम वहाँ हैं जहाँ से हमको···" तक का अन्तर केवल कठिन और सरल, भाषा और शैली का अन्तर नहीं, बल्कि काव्य के प्रति कवि के रवैये का, वैदेशिकता और भारतीयता का, बिगड़े हुए बेदिल और बने हुए ग़ालिब का, दो शताब्दियों का नहीं दो युगों का अन्तर था। आश्चर्य यह है कि यह देखने में अपार अन्तर ग़ालिब ने इतना अविलम्ब कैसे तय कर लिया, यद्यपि आरम्भ में वह कोई बहुत स्वेच्छा से पग धरते भी नहीं दिखाई देते। पर यही उनकी प्रतिभा है कि इतने घोर दोदिलेपन के संकट में पड़े और दो युगों के बीच खिंचते रहे, जिसका शायद ही किसी भाषा में किसी भी कवि से सामना हुआ हो और शायद ही किसी को अपनी मातृभाषा के दीवान का बड़ा हिस्सा फाड़कर फेंकना पड़ा हो, मगर इस विकट संकट पर वह बहुत सफलतापूर्वक वर आए, और अपनी कला का स्वाभाविक स्तर उन्होंने जवानी में ही ढूंढ लिया। फिर इस नये रास्ते पर वह जितना आगे बढ़ते गए उतना ही उनके हृदय में विश्वास और पग में गति आती गई।

इस यात्रा में वह किन चरणों से गुज़रे यह बड़ी लम्बी कहानी हो जाएगी, इसलिए उसे यहाँ छोड़ने के सिवा कोई चारा नहीं, क्योंकि ग़ालिब की आधुनिकता के आरम्भ पर पहुँचते-पहुँचते इतना अधिक समय पहले ही बीत चुका है। यह इसलिए आवश्यक था कि इस परिवर्तन की समालोचना किये बिना न तो हम ग़ालिब की आधुनिकता के महत्त्व का अनुमान कर सकते थे और न उसका वास्तविक अर्थ समझ सकते थे।

और अब जो इस नये ग़ालिब से हमारा परिचय होता है तो वह पुराना सनातनवादी, कठिनतावादी, बुद्धिवादी, उच्चतावादी, जातिवादी ग़ालिब पहचाना भी नहीं जाता और उसकी जगह एक ऐसा सज्जन पुरुष मिलता है जो *व्यक्तिवादी* होते हुए भी मानववादी है और भरपूर मानववादी है। अभिजात अमीरों और सरदारों के कृत्रिम जीवन का उसके यहाँ ज़रा भी मैल नहीं बल्कि केवल मित्रता की स्वच्छता है, सबसे प्रेम है, भाईचारा है, अज्ञान की कड़ी-से-कड़ी आलोचना के बावजूद एक गलियारे दुश्मन के लिए भी इस हिमाकत पर हँसी है कि कम्बख़्त को गाली देनी भी नहीं आती, बूढ़े ग़ालिब को जवानों जैसी गाली देता है।

ग़ालिब के किसी गम्भीर विद्यार्थी को इस पर विस्मय तो नहीं होगा पर इसकी क़द्र अवश्य करनी चाहिए कि इस परिवर्तन ने, चाहे वह कितना ही मौलिक रहा हो और कितना ही अल्पकालिक, किन्तु किसी सख़्त झटके का नहीं बल्कि विकास ही का रूप धारण किया और एक प्राकृतिक प्रगति के साथ उत्पन्न हुआ। इसकी प्रकृति एक दबे हुए अर्ध-सचेत आंतरिक संकट से बढ़कर एक विनाशकारी संघर्ष की नहीं होने पाई। समाज के लिए तो झटके वाला परिवर्तन एक बिन्दु पर पहुँचकर अनिवार्य हो जाता है और इसलिए रचनात्मक होता है, लेकिन व्यक्ति को अधिकतर तोड़ देता है और अगले चरण पर पहुँचने के लिए कुकर्मक अंश कटकर अलग होते हैं तो साथ-ही-साथ श्रेष्ठ तत्त्वों को भी काफ़ी हद तक त्यागना पड़ता है। किन्तु ग़ालिब को अपनी आत्मा के साथ सौभाग्यवश यह हिंसा नहीं करनी पड़ी और आत्म-मन्थन के किसी ऐसे संघर्ष से नहीं गुज़रना पड़ा जिसमें परम्परावादी और बेदिलीय या अन्य फारसी काव्य से प्रभावित मोहक तत्त्वों को अपने अन्दर समेटे हुए अपनी आत्मा के श्रेष्ठ भाग की बलि देनी पड़ती। उन्होंने केवल युग-संकट से गुज़रकर नये युग में प्रवेश किया तो अपने पूरे व्यक्तित्व को विघटन से मुक्त सही-सलामत बचा लाए। नये ग़ालिब में पुराने ग़ालिब का कोई अंश मरा नहीं केवल परिवर्तित हो गया। और इसलिए ग़ालिब की आधुनिकता का अध्ययन उनके अन्दर पड़ी हुई किसी दरार का अध्ययन नहीं, आधुनिकता और रूढ़िवाद की अलग-अलग परतों, अलग-अलग फीतों की अपेक्षा का प्रयास नहीं बल्कि सारे फ़ीतों के बुने हुए ताने-बाने का, पूरे-के-पूरे ग़ालिब का, उनके पूरे व्यक्तित्व और पूरी कला, पूरे गद्य और पद्य का अध्ययन है। क्योंकि पच्चीस और तीस वर्ष की आयु के बीच में इस परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अभिप्राय *भली-भाँति* पूरा हो चुका था और भविष्य में *उनको* किसी विशेष आत्म-संकट का सामना नहीं करना था, जो भी था बाहरी संकट था, विशेषकर पैसे का संकट जो अन्त समय आ गया और न कटना था न कटा।

•

अभी जब हमने ग़ालिब की आधुनिकता के व्यक्तित्वव्यापी होने का ज़िक्र किया तो उससे हमारा अर्थ यह था कि उनके मानवीय जीवन का और उनकी सारी कला का ढंग ऐसा था जिसने उन्हें आधुनिक युग के, हमारे अपने युग के, काफ़ी समीप कर दिया। ऐसा मनुष्य आधुनिक नहीं तो और क्या कहलाएगा जो पिछली शताब्दी के भी पहले अर्द्ध भाग के आसपास बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों का क्या ज़िक्र है पत्रों के साधारण आवागमन के सम्बन्ध में भी समय का इतना लिहाज़ रखे कि किसी सम्बोधक का सप्ताह में उसके निश्चित दिवस पत्र न आए तो उसको सख़्ती से हिदायत दे कि भई तुम ख़त बैरंग भेज दिया करो, न इसके खोने का डर रहेगा न विलम्ब का ?

इसे आप एक कलाकार की सनक कहकर नहीं टाल सकते क्योंकि हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक मामलों में ग़ालिब समझदार क्या ख़ासे दुनियादार आदमी थे और उनमें सनक-बनक नाम-मात्र भी नहीं थी। सनक तो आदमी ऐसी रखता है जिसमें दूसरे को कष्ट हो, अपने को नहीं, जबकि समय की पाबन्दी ऐसी चीज़ है जिसमें दूसरे को ही नहीं, अपने को भी उतना ही कष्ट देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो वह बैरंग ख़तों के पैसे अपनी जेब से देने को उठाने को, तैयार हैं। इसलिए यह कोई बनावट की या ऐसे ही बेध्यानी की फ़रमाइश नहीं है बल्कि गम्भीरता से की गई है जिससे मिज़ाज का एक स्थायी स्वभाव प्रकट हो रहा है। यह बात जानने के लिए कि समय की पाबन्दी में कितनी आधुनिकता है हम केवल वर्तमान भारत को देख लें जहाँ एक सौ दस रेलें चलने के बाद भी अभी समय के ध्यान से इतने ऊँचे हैं कि औरों का क्या ज़िक्र है एक बहुत बड़े प्रदेश के बहुत बड़े मुख्यमंत्री और केन्द्रीय गृहमंत्री दूसरी शताब्दी के दूसरे अर्द्ध भाग में रेलगाड़ी पर पहुँचने के लिए अक्सर चार-चार घण्टे अभी कभी-कबार छः-छः घण्टे तक विलम्ब से गए हैं !

यह तो हमने सिर्फ़ सामने की बात की और एक इशारा कर दिया जो किसी विस्तृत अध्ययन में एक प्रतीक का काम कर सकता है जिससे ग़ालिब के मस्तिष्क की एक हल्की-सी झाँकी मिल जाय। पर हम उनके जीवन के अन्य पहलुओं को भी देखें तो उनसे भी हमें आधुनिकता का निस्सन्देह संकेत मिलता है। और कुछ नहीं तो आप ग़ालिब के मित्रों ही को ले लीजिए। इसको छोड़िए कि ये भिन्न-भिन्न प्रकार के थे और यह भी भूल जाइए कि उनसे ग़ालिब के सम्बन्ध वही पुराने सामन्ती युग के थे या नये उद्योग युग के, बल्कि केवल उनकी संख्या को ले लीजिए। एक पत्र में ख़ुद लिखते हैं कि "सत्तर वर्ष की आयु में जनसाधारण से नहीं जन-विशेष से सत्तर हजार व्यक्ति नज़र से गुज़र चुके हैं।" इनमें सब तो नहीं, क्योंकि 'इन्सान-शनास' ग़ालिब को इन्सानों की पहचान थी और वह ख़ूब जानते थे कि इनमें जो जितना ज़्यादा विशेष है उतना ही निकम्मा और गिरा हुआ, पर सौवाँ भाग भी दोस्तों का हुआ तो सात सौ मित्र हो गए, पर उनके वास्तविक मित्रों का वृत्त, चाहे वह इस बात का अहसास न रखते हों, जन-विशेष नहीं जन-साधारण ही में थे, जैसा कि उनके पत्रों के सम्बोधकों से स्पष्ट है।

फिर पत्र-व्यवहार तो उन्हीं से कर सकते थे जो उनके गद्य की सरलता, उनकी वार्ता की शैली, उनके सम्बोधन की समीपता, उनके व्यंग्य की चोट और हास्य-विनोद के कौशल से प्रभावित और प्रसन्न होने की रुचि रखता हो। इनकी अपेक्षा कितने ही ऐसे होंगे जो सज्जन पुरुष होने के कारण ग़ालिब जैसे 'इन्सान-शनास' के मित्र तो रहे होंगे किन्तु उनसे पत्र-व्यवहार की या तो गुंजाइश नहीं थी या नौबत नहीं आई। इनमें बहुत बड़ी संख्या उनके सबसे घनिष्ठ मित्रों की है जो स्वयं दिल्ली में रहते थे और जिनमें बल्ली-मारान के हाताकाले साहब वाले काले साहब जैसे व्यक्ति भी थे जिनके यहाँ कारागार से आकर उन्होंने शरण ली और एक पत्र में लिखा कि "पहले गोरे की क़ैद में था, अब काले की क़ैद में हूँ।"

यह सब मिलाकर कितने हुए ? हज़ार-डेढ़ हज़ार तो ज़रूर हो गए होंगे। चलिए इसे भी छोड़िए, केवल उन लोगों की सूची बनाकर देखिए कि कितनी लम्बी होती है जिनके नाम ग़ालिब के पत्र मुद्रित हो गए हैं। इतनी अधिक संख्या में और इतने विभिन्न प्रकार के, रुचि, वर्ग, बुद्धि और विचार, पेशे और धर्म, और सामाजिक स्तर के लोगों से हम उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेतकल्लुफ़ वार्ता करते देखते हैं तो उनकी संख्या और विभिन्नता पर ही आश्चर्य होता है। इसको भी जाने दीजिए, केवल उन नगरों की सूची बना लीजिए जहाँ ये पत्र भेजे गए तो उत्तरी भारत का शायद ही कोई शहर रह जाय जिसका इसमें नाम नहीं आएगा।

इसी के साथ यह भी ध्यान रहे कि रेलें अभी नहीं बिछी थीं, उनके जीवन के अंतिम वर्षों में भी स्थिति ऐसी थी कि उनको रामपुर जो कई बार जाना पड़ा तो दिल्ली से सौ-सवा-सौ मील का यह फ़ासला तय करने में एक-एक सप्ताह लग गया और जवानी में कलकत्ते जो गए थे वो तो कई शहरों में रुकते-रुकाते पूरे साल भर में पहुँचे थे।

और तब हमें अंदाज़ा होता है कि इस आदमी का व्यक्तित्व मानवीय चरित्र की कितनी व्यापक दिशाओं पर छाया हुआ था। समय और स्थान की कितनी विस्तृत सीमाओं तक फैला हुआ था।

मगर इसमें आधुनिकता की क्या बात है? यही कि सामंती युग में दोस्ती का यह व्यापक विस्तार संभव ही नहीं था। और इसलिए राजा हो या भिखारी हर एक के बस दो-चार दोस्त होते थे, बहुत हुए तो दस-बारह। जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ उसके हद-से-हद चालीस-पचास मित्र हो गए, किन्तु इनमें भी निकट मित्रों की संख्या कम ही होती थी। आम तौर से जिसे जीवन में एक-डेढ़ दोस्त मिल जाता था, अपने को बड़ा भाग्यवान समझता था और इसकी पूर्ति के लिए अभिलाषा केवल यह रह जाती थी कि शत्रु भी उदार मिले, क्योंकि दोस्त और दुश्मन दोनों में कोई ऐसा अपार अंतर नहीं होता था, दोनों का पुरुष से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता था, जीवन-मरण का संबंध, क्योंकि मित्र अपने प्राण देकर भी मित्र की रक्षा करता था और शत्रु भी अक्सर ज़रा-सा बहाना पाकर साफ़-साफ़ मित्र ही बन जाता था।

स्पष्ट है कि जब तेज़ रौ परिवहन के साधन न हों तो दिल्ली से कलकत्ते तक किसी के दूर-दूर प्रदेश में इतने बहु-संख्यक दोस्त कैसे हो सकते हैं। मानव ग़ालिब की यह व्यापक श्रेणियों और दूर देश तक फैली हुई मित्रता, पहले ही से, आनेवाली रेलों और अन्य औद्योगिक गतिशीलता के युग की सूचना दे रही थी जिसमें लोग अल्प समय में कई गुना ज्यादा व्यक्तियों से मिल सकेंगे, अतः उतने ही अधिक मित्र भी बना सकेंगे। मगर यह केवल मेल-मुलाकात के विस्तार और परिवहन की शीघ्रता का प्रश्न नहीं, बल्कि उससे ज़रा गहरा सामंती और नवीन स्वभाव और प्रवृत्ति का प्रश्न है।

सामंती युग के प्रतिनिधि औरंगज़ेब को देख लीजिए। जीवन-भर युद्ध-क्षेत्र में गतिशील रहा। उसके लिए परिवहन का क्या अभाव था जिसकी सुविधा डेढ़-दो सौ वर्ष बाद भी ग़ालिब को प्राप्त रही? परन्तु फिर भी चूँकि वह अपने चारों ओर बदलती हुई स्थिति के अनुसार अपने को नहीं बदल सकता था, अर्थात् सिकुड़ते हुए सामंतवाद के युग में अपने सिकुड़ते हुए व्यक्तित्व का रिश्ता भविष्य से नहीं जोड़ सकता था, इसलिए शायद उसका कोई मित्र न था, और तो और स्वयं उसे अपनी सन्तान पर भी विश्वास नहीं था।

इसकी अपेक्षा दारा शिकोह को देखिए जो सामंती प्रथा की उत्पत्ति होते हुए भी भारत की बदलती हुई गति की धमक को अपनी रगों में महसूस करता था अर्थात् राष्ट्रीयता की बिल्कुल प्रारंभिक कसमसाहट का विरोधी नहीं बल्कि उससे थोड़ी-थोड़ी सहानुभूति रखने वाला विद्वान् राजकुमार था और इसलिए उसके इतने मित्र थे कि जब उसे अपमानित करने के लिए औरंगज़ेब ने जलूस निकाला तो उसके अपने परिवार और दिल्ली के सूफ़ियों और पंडितों में ही नहीं बल्कि घर-घर में रोना था और सारे नगर में मातम।

हो सकता है मित्रता के विषय में इस दृष्टिकोण से कुछ लोग सहमत न हों और आपत्ति उठाएँ कि एक औरंगज़ेब और दारा शिकोह का इत्तफ़ाकी उदाहरण किसी सिद्धान्त का प्रमाण कैसे बन सकता है और सामंतवाद या उद्योग युग का मित्रता की घनिष्ठता या उसकी संख्या से क्या संबंध हो सकता है। मगर हम पुनः यह विनती करेंगे कि ये दोनों ऐसी दूर की बेजोड़ बातें नहीं और इनका संबंध पता चलाने के लिए किसी बड़े अनुसंधान की ज़रूरत नहीं है। सामंती युग की मित्रता इतनी घनिष्ठ होने के बावजूद इस अर्थ में एक प्रकार की बनिऔटी थी कि आप मेरी रक्षा के लिए जान दीजिए, मैं आपको बचाने के लिए बलि हो जाऊँ। इस मित्रता में कभी-कभी प्राण देने के अवसर भी आ जाते थे जिनकी कहानियों ने उसमें इतना रोमांचक आकर्षण पैदा कर दिया है कि अब तक हम इस मित्रता का गुणगान करते हैं। पर ग़ौर से देखिए तो इसका आधार स्वार्थ था, मानव के चरित्र का मूल्यांकन कम। मेरा मित्र चोर हो, डाकू हो, संसार के लिए कितना ही बुरा हो, किन्तु हर बुरे-भले में मेरा साथ देता है इस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए उसके चरित्र की ओर से मेरी आँखें बंद हैं, मेरे लिए तो *विश्व* का श्रेष्ठतम नायक वही है। सामंती व्यवस्था में चूँकि सुरक्षा का अभाव था इसलिए मित्रता में प्रथम प्रश्न किसी व्यक्ति के विश्वासपात्र होने का, चाहे वह निष्ठा इसलिए हो कि लड़कपन का साथ था या इसलिए कि गाढ़े वक्त में साथ दिया, मानक और भाव वही था जो शेख सादी निश्चित कर गए थे कि :

दोस्त मांबाशद कि गीरद दस्ते दोस्त
दर परीशाँ हालिओ दर आंदगी।

(दोस्त वही है जो परीशान हाली में और विपदा में दोस्त का हाथ पकड़े।)

जीवन की किसी घटना या घटनाओं के फलस्वरूप दोस्त, दोस्त का दोस्त हो जाता था। किसी को मित्र प्राप्त हो जाए यह सुखद घटना सही क्योंकि शेख सादी या किसी और पैमाने पर नाप-तौलकर दोस्त का निर्वाचन नहीं होता था, जिस प्रकार गुन-अवगुन के आधार पर किसी नरेश का निर्वाचन नहीं होता था। गाँव, नगर, प्रान्त या देश के प्रशासक की अच्छाई-बुराई भी दोस्त के समान इस पर निर्भर थी कि उसके द्वारा सुरक्षा का प्रयोजन कहाँ तक उत्तम होता है।

मगर जब सामन्त-युग का अन्त होने लगा, सुरक्षा खासी सुरक्षित हो गई, नए युग के नए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे, नई मान्यताएँ उभरने लगीं तो अब मित्रता का वह पुराना स्वार्थी आधार भी बदला। यह आधार यद्यपि नए सामाजिक सम्बन्धों की पेचीदगी के समान और इस पेचीदगी के कारण भी बहुत पेचीदा था, पर सरलीकरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि इस मित्रता का आधार था प्रेम और आदर। अब उन व्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनको जीवन-प्रवाह ने हमारे पास पटककर हमारे साथ मित्रता अथवा शत्रुता के बन्धन में बाँध दिया, अब समर्थन और विरोध के सम्बन्ध सहविचार और सहकारिता के सम्बन्ध, चरित्र और दुराचार के आकर्षण और अनाकर्षण के सम्बन्ध का भी पेचीदा होते हुए जीवन में महत्त्व होने लगा और यही सम्बन्ध विकसित दोस्ती और दुश्मनी का आधार बनने लगा। अब आदमी दोस्ती के सम्बन्ध में घटनाओं से बाह्य नहीं रहा बल्कि स्वभाव और आचार की अनुकूलता के अनुसार अपने दोस्त बनाने लगा, उनका निर्वाचन करने लगा, अपने प्रति किसी की निष्ठा की पूजा अर्थात् स्वयं अपनी ही पूजा करने की अपेक्षा दूसरों के गुन-अवगुन का मूल्यांकन करने लगा। आदमी की कद्र हुई, दारा के दिल में सेनापतियों और राजनीतिक शतरंज के मोहरों—शहज़ादों, रईसों और सरदारों—और निष्ठावान रक्षकों या सरबकफ़ सिपाहियों के अतिरिक्त संस्कृत के विद्वान् पंडितों और फ़ारसी के शायरों ही की नहीं, सरमद जैसे चरित्रवान् सूफ़ियों और फकीरों की कद्र पैदा हुई जिसके कारण वह लोकप्रियता में मुग़ल शहज़ादों में शायद सबसे आगे बढ़ गया और ग़ालिब को 'इन्सान शनासी' का ज्ञान मिला जिसके सहारे उन्होंने अपनी मित्रता का जाल सारे भारत में फैला दिया।

इतने बहुत-से आदमियों से बकौल पंजाबियों के 'राज़ी-ख़ुशी' होने की शक्ति मिज़ाज में इतना गुन कि कोई इतने विभिन्न लोगों से प्रसन्न हो और उन्हें प्रसन्न करे, क्या ये बातें युग धारा के विरोध के साथ सम्भव हैं? ये बातें रूढ़िवादी संकीर्णता की सूचक हैं या आधुनिक उदारता की।

इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि व्यावहारिक जीवन में जितनी आसानी से ख़ुश हो जाते थे, जिस खुले दिल से और जिस तरह दोनों हाथों से दोस्ती बाँटते और लूटते थे, उसी तरह और उतने ही वे कला के स्तर पर दुराराध्य भी रहे।

शायद इसी वजह से इतने प्रसिद्ध होने पर भी ग़ालिब शायरी में अपने कोई ख़ास शागिर्द नहीं बना सके, हालाँकि उस ज़माने में क्या दाग़ के ज़माने तक चलन था कि चेलों में जो ज़रा खाते-पीते होते थे वे अपनी ग़ज़लों के सुधार और संशोधन का पूरा एक-एक, दो-दो रुपया (वर्तमान मूल्य के अनुसार कम-से-कम पचास-पचास, सौ-सौ रुपया) पुरस्कार के रूप में दे दिया या भेज दिया करते थे और इससे बड़े-बड़े उस्तादों की अच्छी-ख़ासी आय हो जाती थी जिसकी तत्कालीन उस्तादों में ग़ालिब को सबसे अधिक आवश्यकता थी। वैसे ग़ालिब के पास भी इस्लाह के लिए कभी-कभार एकाध ग़ज़ल लिफ़ाफ़े में आ जाया करती थी मगर उसको भी जब वे बना-सँवारकर वापस करते थे तो ग़ज़लगों की ग़ज़ल से ज़्यादा उन्हें अपनी इस्लाहों पर विवाद छेड़ने में मज़ा आता था। यह भी कहा जाता है कि शायरी में हाली ग़ालिब के चेले थे। यह ऐसी ही बात है कि यदि शान्तिप्रिय द्विवेदी कवि भी होते तो सुमित्रानन्दन पंत के समालोचक होने के कारण बिना पूछे-गछे और बग़ैर सोचे-समझे हम यह भी मान लेते कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी पन्त के चेले हैं चाहे उनकी कविताओं में पन्त का प्रभाव मिलता या न मिलता। यह अलग बात है कि सौभाग्यवश हिन्दी काव्य में गुरु-शिष्य की परम्परा ही नहीं है, इसलिए कोई किसी का चेला माना नहीं जा सकता।

भला बताइये कहाँ हाली की "ऐ माँओ-बहनो-बेटियो, दुनिया की इज़्ज़त तुमसे है" वाला प्रयोगी काव्य और कहाँ ग़ालिब की "दामाने बाग़बानो कफ़े गुलफ़रोश" वाली महकती हुई रंगीन ग़ज़ल गोई और विचार एवं भावना की तीव्रता के ताप की सूचक, "आबगीना तुन्दिए सहबा से पिघला जाए है" की दहकती हुई शायरी। सच यह है कि हाली ग़ालिब के रस्मी शागिर्द नहीं थे जो कुछ ग़ज़लों के क़ाफ़िए ठीक करा लेते और कुछ शेरों का झोल निकलवा लेते बल्कि वे उनके सच्चे शागिर्द थे और उनसे प्रभावित होकर उन्हीं के समान हाली ने गद्य और पद्य में अपने लिए बिल्कुल नई राह निकाली, जो नवीनता में शायद ग़ालिब से भी अधिक थी।

ज़रा ग़ौर करने से ग़ालिब के शागिर्दों के अभाव का रहस्य खुल जाता है। हर मिलने वाले आदमी को तो वे अपना मित्र बना लेते थे, शिष्य कहाँ से आते! हर आने वाले से, चाहे वह पहली बार आया हो, बिल्कुल घुल-मिल जाते और ऐसी संसार-भर की मज़े-मज़े की बातें करते कि घटिया क़िस्म की ग़ज़लों के एक-एक शेर को लेकर और पित्ता मारकर उसका सुधार करते अर्थात् उसके शब्दों की मक्खी-पर-मक्खी मारने के लिए धैर्य कहाँ से लाते। रह गया पत्र-व्यवहार द्वारा गुरु-शिष्य के सिलसिले का संचालन, सो वह और भी मुश्किल था। ऐसे अहमक और रुचिहीन कितने हो सकते थे जो ग़ालिब के अछूते और सर्वश्रेष्ठ पद्य को छोड़कर, उनके जीवित बोलते-चालते वार्तालाप को भूलकर अपनी ठस ग़ज़लों पर समय बर्बाद करते।

तो रोज़मर्रा के सामाजिक व्यवहार में उनकी आधुनिक प्रवृत्तियों के समान कला के क्षेत्र में भी ग़ालिब की प्रतिभा आधुनिक प्रतिभा थी। तबियत को बदमज़ा करने वाली औरों की शायरी का बोझ वह कवि क्या उठाता जिसकी समालोचक चेतना कला के क्षेत्र में इतनी जाग्रत थी और काव्य के मूल्यांकन के मामले में इतनी दृढ़ और कठोर कि खुद अपनी ख़ामियों को उसने माफ़ नहीं किया और अपने दीवान का बड़ा भाग नष्ट कर दिया। इस मामले में तो ग़ालिब पिछले युग से ही नहीं आजकल के कवियों से भी आगे हैं। जो अब तक एक-एक मिसरए तरह में दोग़ज़ले और सहग़ज़ले कहलाते हैं और फिर भी उनका जी नहीं भरता। यदि कोई यह कहे कि साहब! ग़ालिब को अपनी 'शुमारे सब्ह...' वाली शायरी तो नष्ट कर ही देनी चाहिए थी तो फिर इस कसौटी पर हमारे वर्तमान भाइयों के सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ शेरों की ग़ज़लें ही नहीं बल्कि पूरे-पूरे दीवान जला देने पड़ेंगे।

इतनी व्यापक मित्रता उनके भरे हुए अहंकार के साथ कैसे चल सकी, यह प्रश्न अक्सर किया गया है और उसी के साथ यह भी कि इस मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व किस स्तर पर था जो एक ओर मित्रता में नीचे बिछे हुए सागर की तरह फैला हुआ है और दूसरी ओर काव्य में पर्वत के शिखर के समान ऊँचा और दुर्गम है।

इन सवालों में एक भ्रम छिपा हुआ है जो रुककर ग़ौर करने से दूर हो जाता है। जहाँ तक बहुस्तरीय जीवन का सम्बन्ध है, यह तो इतनी साधारण बात है कि हर व्यक्ति के जीवन में, स्वयं हमें अपने जीवन में अनिवार्य रूप से मिल जाएगी, मगर हमको कभी अपने ऊपर सन्देह नहीं होता कि हमारी मानसिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई है, स्टीवेंसन के डॉ० जेकिल और मिस्टर हाइड की तरह हमारी आत्मा का विघटन हो गया है, बल्कि हर स्तर पर हमारा जीवन समतल रूप से वास्तविक और सत्य रहता है, शत्रु के साथ हमारी कठोरता के कारण बालकों के साथ हमारा कोमल व्यवहार असत्य नहीं बन जाता। फिर कवि के व्यक्तित्व की दशाएँ जनसाधारण से व्यापक ही होती हैं, उसकी गहराइयों को हम ऊँचाइयों के विपरीत क्यों मान लें, क्षणों और बिन्दुओं पर केन्द्रित उसकी कलात्मक तीव्रता को इतना हल्का क्यों समझ लें कि व्यावहारिक जीवन के तरल विस्तार में बहकर वह गुम हो जाएगी।

रह गया कलाकार के अहंकार के प्रति हमारा सन्देह, तो यह और भी बड़ा भ्रम है। कलाकार में कलाकार की हैसियत से अहंकार न हो तो वह कला की रचना कर ही नहीं सकता। यदि मैं अपनी ही दृष्टि से तुच्छ हूँ और अपनी कला का मेरे ही लिए कोई महत्त्व न हो तो फिर मैं व्यर्थ उसमें क्यों व्यस्त रहूँगा? रचना के लिए प्रेरणा कहाँ से आएगी, परन्तु इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि मैं कला की चेतना के द्वार खोलकर और सब दरवाज़े बन्द कर लूँ और मैं बस अपनी कला के

079561

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवरेस्ट पर हर समय चढ़ा रहूँ जिसमें सारी मानव-जाति चींटियों की तरह रेंगती हुई प्रतीत हो और कभी शायरी के हिमालय से उतरकर सरल जीवन से, जनसाधारण से किसी तरह कोई सम्पर्क स्थापित ही न करूँ। किसी का दोस्त न बनूँ, दुश्मन न बनूँ, किसी से सहानुभूति न रखूँ, किसी से सहयोग न करूँ, किसी के बराबर आकर अपने को नीचा और हल्का न बनाऊँ। गोया हिमालय के शिखर पर अपने काव्य-कुटीर को पूर्णतः काल-कोठरी में बदल कर दम लूँ।

जी नहीं, अहंकार का यह अर्थ बिल्कुल नहीं। अहंकार तो कलाकार का एक शस्त्र होता है और ग़ालिब के हाथों में तो यह बहुत तेज़ धार का और बहुत नुकीला ही नहीं बल्कि बहुत सजीला शस्त्र बन जाता है जिसका प्रयोग वह अपने मित्रों या जनसाधारण बल्कि दुश्मनों के विरुद्ध भी नहीं करता, क्योंकि उसकी कोई ज़रूरत नहीं इसलिए कि उनसे उसका कोई मुकाबला नहीं, अहंकार को कुचलने वाली कोई लड़ाई नहीं।

ग़ालिब के अहंकार की वज्रता का जब बखान किया जाता है तो इस लतीफ़े अथवा घटना का अक्सर वर्णन होता है कि एक घटिया शायर के साथ 'असद' के तख़ल्लुस का साझा करने के डर के मारे उन्होंने अपना तखल्लुस ही बदलकर 'ग़ालिब' कर लिया, मगर जो घटना इससे कहीं अर्थपूर्ण है उसे भुला दिया जाता है। और फिर इस दूसरे 'असद' का वह शेर भी तो ज़रा देखिए कि कितनी उच्च कोटि का है जिसे बेचारे ग़ालिब के साथ मढ़ा जा रहा था :

'असद' इस जफ़ा पर बुतों से वफ़ा की
मेरे शेर शाबाश रहमत ख़ुदा की।

उस समय 'मरा आतुन नज़ीर' या 'रियायते लफ्ज़ी' के अलंकार का इतना ज़ोर था कि नासिख़ की भाँति के सनातनी कवियों के पूरे काव्य का आधार बस इस पर निर्भर था कि पहले जो एक शब्द आया था उसकी रियायत से, अर्थात् उसके अनुकूल या विपरीत, दूसरे शब्द भी पंक्ति या शेर में साथ-साथ आ जायँ तो बस कवि ने कमाल कर दिया, चाहे शेर में और कोई वास्तविक सुन्दरता न हो, चाहे 'दरिया' के साथ उचित-अनुचित किसी प्रकार 'मगर' के शब्द को घसीटकर लाने और उसे शेर में ठूँसने की इस डंड-बैठक में शेर अर्थहीन ही रह जाय, लेकिन उस युग के दूसरे महान् कवि अनीस के समान ग़ालिब को भी अलंकार के इस दुरुपयोग से गहरी घृणा थी। तो जब उन्होंने इस शेर को, जिसमें 'रियायते लफ़्ज़ी' की भरमार है—ग़ालिब ने एक पत्र में इस ओर इशारा भी किया है और लिखा है कि 'असद' के अनुकूल 'शेर' और 'बुत' और 'जफ़ा' के विपरीत 'ख़ुदा' और 'वफ़ा' को घसीटा गया है—और 'असद' की 'चोट' पर शेर के शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अरबी में 'असद' का अर्थ 'सिंह' का है तो यह है वह शेर जिसका पुरस्कार ग़ालिब को भेंट किया जा रहा था तो जब उन्होंने इस शेर को, जो न सिर्फ़ 'रियायते लफ़्ज़ी' पर निर्भर है बल्कि जिसमें 'वो मारा साले को! शाबाश बेटा!' वाला ऐसा बाज़ारी और अश्रेष्ठ स्वर अपनाया गया है जिससे उनके हस्सास कान झनझना उठे होंगे और उनकी चेतना पर प्रचंड प्रहार हुआ होगा क्योंकि 'शाबाश' का शब्द तो दूर रहा, जिसका शेर में उन्होंने शायद कहीं प्रयोग ही नहीं किया है और ख़तों में भी किया है तो केवल व्यंग्य के रूप में। ग़ालिब तो 'शा' और 'बा' की खड़ी-खड़ी आवाज़ों की दो भारी-भरकम बल्लियों की चोट अपने कानों पर खाना गवारा नहीं कर सकते थे न कि स्वयं ये लट्ठे अपने श्रोताओं की श्रवण शक्ति पर खेंच मारते।

ग़ालिब के यहाँ कान को बुरी लगने वाली बहुत मुश्किल से मिलेगी। सारा कलाम छान मारिए तब भी मजाज़ के इन मिसरों की तुलना-योग्य एक मिसरा नहीं मिलेगा

हर एक झोंका हवा का मौत का पैग़ाम लाता है
घटा की घन गरज से क़ल्बे गेती काँप जाता है

मजाज़ ने पहले मिसरे में 'आ' की आवाज़ को सात बार दुहराकर और दूसरे में 'ग' अथवा 'घ' की तकरार करने ('ग' की गमक की ताल कुछ ऐसी स्थापित होती है कि अंत का 'काँप' भी 'गाँप' ही के समान मुँह से निकलता है) दहशत का समाँ खींचने और शब्दों का भयंकर आडम्बर बनाने में ख़ैर कमाल कर दिखाया है मगर ग़ालिब को गज़ल में इसके समानान्तर अवसर क्यों पेश आने लगा था। इसलिए वह इस सिलसिले में बहुत ही आगे चले जाते हैं तो बस यहाँ तक पहुँचते हैं कि

एक तीर मेरे सीने पे मारा कि हाय हाय

जिसमें चूँकि 'मेरे' और 'सीने' की 'मे' की आवाज़ दबती है इसलिए आलोचकों ने आपत्ति को स्पष्ट करने के लिए यों पढ़ा है : **"एक तीर मीर सीन पै मारा कि हाय हाय।"** मगर इस दूसरे रूप तक में जिस आवाज़ की तकरार पर कान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौंकता है वह 'ई' की आवाज़ है जिसकी अपेक्षा 'म' और 'र' की तकरार ज्यादा उभरने नहीं पाती और अन्त में तो दोनों बार 'ह' के खड़ेपन को 'ए' की नरमी से हल्का कर दिया गया है।

गोया एक अर्धबुद्धि ने 'मेरे शेर शाबाश···' वाले शेर का जो आरोप लगाया तो इस शेर की पृष्ठभूमि, वातावरण, आभूषण, अर्थ और आकार गरज यह कि इसका सारा संसार ग़ालिब के काव्य की पूरी कल्पना के ऐसा विपरीत था कि उन्हें ऐसा लगा मानो उनकी सारी शायरी पर कालिख थोपी जा रही है और यद्यपि वह स्वयं तो यह कहकर रह गए कि "असद' और 'शेर' और 'बुत' और 'ख़ुदा' और 'जफ़ा' और 'वफ़ा' ये मेरी गुफ़्तार नहीं" लेकिन इस स्थिति में वह जो कुछ कर सकते थे उससे कम और क्या होता कि अपना तखल्लुस बदल लिया।

और जब अहंकार की अत्युक्ति के लिए इस घटना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है तो इन्साफ़ का तकाज़ा है कि आत्म-नम्रता की इतनी बड़ी घटना को भी याद रखा जाए जिसका उदाहरण शायद ग़ालिब के सिवा और किसी के यहाँ न मिलेगा और जिसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि यह घटना उस व्यक्ति से सम्बन्धित है जिसे अपने युग के सारे शायरों में ग़ालिब अपना अकेला प्रतिद्वन्द्वी मानते थे और इसलिए जिसके प्रति प्रेम और प्रशंसा की अपेक्षा अप्रसन्नता की भावना ज़्यादा स्वाभाविक थी। [बल्कि उर्दू में तो सम-कालीन और समस्तर कवियों में बाक़ायदा लड़ाई-दंगे होते रहे हैं। आतश तो उस मुशायरे में जहाँ उन्होंने नासिख पर और उनकी रियासत पर चोट करने वाली गज़ल पढ़ी ("ज़ेरे ज़मीं से आता है जो गुल सो ज़र बकफ़। कारूँ ने रास्ते में लुटाया ख़ज़ाना क्या") इसमें बाक़ायदा क़राबीन या बन्दूक भर के लेकर गये थे।] मगर डाह की इस परम्परा के होते हुए भी मशहूर है कि मोमिन के एक शेर—

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।

से ग़ालिब इतने प्रसन्न थे कि इसके बदले अपना पूरा दीवान देने को तैयार थे।

मोमिन के अतिरिक्त ग़ालिब के साथ के दूसरे शायर थे ज़ौक। इनसे सरकारी कवि होने के कारण ग़ालिब की लाग-डाँट रहती थी। एक शहज़ादे का सेहरा कहने के सिलसिले में जब ग़ालिब ने अपनी स्वाभाविक सावधानी की बाग ज़रा ढीली छोड़कर मरते या अंतिम शेर में ज़ौक पर चोट कर दी कि—

हम सुख़न फ़हम हैं ग़ालिब के तरफ़दार नहीं,
देखें इस सेहरे से बढ़कर कोई कह दे सेहरा।

तो यह हल्की-सी फ़बती न तो ज़ौक से सही गई और न उनके शागिर्द बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उनको माफ़ किया और आख़िर ग़ालिब को दरगुज़र के आवेदन के लिए अलग से क़ता लिखना पड़ा जिसमें माज़रत के तौर पर बिचारे ने कहा—

उस्तादे शह से हो मुझे पर ख़ास का ख़याल,
यह ताब यह मजाल यह ताकत नहीं मुझे।

मगर ज़ौक की पदवी का ग़ालिब पर कोई रोब नहीं था। होता भी कैसे, वह तो बादशाह तक को जिसकी दी हुई पदवी का ज़ौक को गौरव हो सकता था, भली-भाँति समझते थे कि यह कैसा बेजान बुड्ढा है। अलबत्ता शायरी के आधार पर उनकी कद्र कर सकते थे, तो यहाँ ज़ौक के पास बहुमूल्य मोती कम ही थे। इसीलिए ग़ालिब ज़ौक को अपने बराबर का नहीं समझते थे। फिर भी हमारे खयाल में इसका कारण गालिब का बढ़ा हुआ अहंकार नहीं बल्कि काव्य के वास्तविक मूल्य के प्रति उनकी वही रूढ़ चेतना है जो पराए को क्या अपने-आपको भी नहीं बख्शती थी, जैसा कि अभी हम देख चुके हैं। मगर ज़ौक की शायरी को महत्त्व न देने के बावजूद, जिसमें भविष्य ने ग़ालिब की राय की पूर्णतः पुष्टि कर दी है, ग़ालिब के व्यवहार ने कम-से-कम एक मौक़े पर तो यह भली-भाँति दिखा दिया कि ज़ौक के प्रति उनका रवैया मूलतः उनके समालोचनात्मक मूल्यांकन के कारण है, बढ़े हुए अहंकार के राक्षसी बल से पराजित होकर नहीं। ज़ौक का एक अच्छा शेर उन्हें सुनने को मिल गया—

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

तो उसकी तारीफ़ की और बहुत तारीफ़ की।

लेकिन बस तारीफ़ की, इसके बदले में अपना दीवान देने को तैयार नहीं हुए, यद्यपि इसकी भाषा इतनी सरल है कि इसका गद्य रूप कोशिश के बावजूद इससे सरल या भिन्न नहीं हो सकता।

स्वर में भी वह सहज स्वभाव है कि यह पता ही नहीं चलता कि कोई विशेष या महत्त्वपूर्ण बात कही जा रही है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि यह *भ्रम होता है* जसे रोज़मर्रा की वार्ता में कोई ऐसे *ही बात*-बात में एक बात कह गया है। भाषा और स्वर की यह सरलता और बेतकल्लुफ वार्ता की शैली खुद ग़ालिब को नसीब नहीं। उनके शेर तो क्या मिसरे भी ऐसे कम मिलेंगे जो इस शेर की तरह तवक्कुफ़ात से पाक हों, अड़चनों न सही तो रुकावटों से, बीच-बीच में ठहराव, 'कामा' और 'सेमि-कोलन', 'लफ़्फ़ोनस्र' के खंडन और कुछ नहीं तो साँस रोकने और बदलने के विभाजन से मुक्त हों। ग़ालिब की शायरी कल्पना और उससे बढ़कर विचार और उससे भी कहीं ज्यादा भावना के जिस तनावपूर्ण स्तर पर होती है उसमें ज़ौक के इस शेर की ऐसी रवानी, ऐसा तरल बहाव सम्भव ही नहीं है। वहाँ अधिकतम सरलता जो आ सकती है वह इतनी कि "आगे आती थी हाले दिल पै हँसी। अब किसी बात पर नहीं आती।" जिसे ज़ौक के शेर की-सी रवा रवी में पढ़ जाएँ तो आप उसके सौन्दर्य से प्रसन्न तो क्या होंगे शायद उसके असली अर्थ तक भी नहीं पहुँच सकें, शब्दों के नीचे बहुत तह में दबा हुआ व्यथा का वास्तविक अर्थ, क्योंकि जिस तरह ज़ौक का शेर वार्ता का शेर है ग़ालिब का शेर आत्मवार्ता का शेर है। इसको रुक-रुक के तो नहीं अगर धीरे-धीरे अधखुले होंठों से चिंताजनक अन्दाज़ में पढ़ना होगा, जैसे कोई आँसू और हँसी और विस्मय के बीच की स्थिति में कुछ कह रहा है, दूसरों से इतना नहीं जितना अपने-आपसे, बताने से ज्यादा शायद पूछने के खयाल से।

ग़ालिब ने छोटा-सा शेर कहा है जिसके शब्द संख्या में करीब-करीब ज़ौक के एक मिसरे ही के बराबर होंगे और हल्केपन में भी ज़ौक के शेर में आगे नहीं तो उसके बराबर ज़रूर हैं। परंतु इन हल्के-फुल्के शब्दों के बीच की खाली जगहों में भावना का भारी-भरकम मन-मन भर का ऐसा शब्दहीन अर्थ छिपा हुआ है कि ग़ालिब का यह छोटा-सा शेर आप खुद ही इतने विलम्ब से पढ़ेंगे कि इसमें ज़ौक के शेर का शायद दुगुना समय लग जाय।

यही नहीं बल्कि पहले मिसरे के अंत के बाद और दूसरे के आरम्भ से पहले भी एक अच्छा-खासा अंतर देना होगा, कुछ तो यह संकेत देने के लिए कि दोनों मिसरे जिन अलग-अलग स्थितियों को व्यक्त करते हैं उनमें समय या शायद भावना का एक पूरा युग बीत चुका है, कुछ श्रोता (या स्वयं अपने-आपको भी) सूचित करने के लिए कि नई स्थिति कितनी भिन्न है, उसकी भावना के अनुसार सोच में डूबा हुआ जो स्वर चाहिए कंठस्तर को उस गहराई तक उतारने के लिए (चाहे आप शेर मन-ही-मन पढ़ रहे हों, क्योंकि आवाज़ के साथ पाठ के समानान्तर मन-ही-मन पढ़ने में भी स्वर का वही उतार-चढ़ाव बाक़ी रहता है)।

तो इन दोनों शेरों में ज़ौक और ग़ालिब की शायरी अपने शबाब पर है, यौवन पर है, और दोनों का वास्तविक अन्तर इनसे भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। मगर ग़ालिब का शेर बहुत भारी होते हुए भी और उनकी आम शायरी की अपेक्षा रवानी में अधिकतम होते हुए भी पाठ में वह तरल प्रवाह नहीं रखता जो ज़ौक के शेर में है।

और फिर इसका विषय भी कोई हल्का और मामूली नहीं। विषय में ग़ालिब के एक और शेर या कम-से-कम उसके प्रथम मिसरे "मुनहसिर मरने पर हो जिसकी उम्मीद" से बहुत करीब है। फिर भी ग़ालिब ने इसको मोमिन के शेर का स्थान नहीं दिया। क्यों? केवल इसलिए कि ज़ौक के यहाँ मोमिन वाले शेर की वह प्रेम की चाशनी नहीं है जो ग़ालिब ने दूर से सही और बहुत हल्की-सी सही, मगर अपने शेर में भी किसी-न-किसी तरह पैदा कर दी है: "मुनहसिर करने पर हो जिसकी उम्मीद नाउम्मीदी उसकी देखा चाहिए?" हमारे विचार में यह कारण बिलकुल नहीं है, क्योंकि ज़ौक के शेर में भी यह चाशनी उतनी ही है जितनी खुद ग़ालिब के शेर में। यदि ग़ालिब के यहाँ 'नाउम्मीदी' प्रेम के विफल होने के कारण है तो ज़ौक के 'घबराने' के रहस्य की खोज भी प्रेम ही में लगाई जा सकती है।

ज़ौक के शेर की सुन्दरता को स्वीकार करते हुए भी उसे कोई विशेष महत्त्व न देने का अर्थ साफ़ है। मानो ग़ालिब कह रहे हैं कि ज़ौक का शेर केवल एक शेर है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं और मोमिन का शेर केवल शेर नहीं बल्कि पूरे दीवान पर भारी है। ज़ौक का शेर उनकी आम शायरी का प्रतिनिधित्व नहीं करता, उनके कलम से बस निकल गया है, एक इत्तिफ़ाक है, सुघटना सही मगर है तो फिर एक घटना। इसकी अपेक्षा मोमिन का शेर उनके आम रंग से बहुत दूर या भिन्न नहीं बल्कि उसी धरातल का है, वह एक शेर उनके एक मूल्यवान दीवान का प्रतिनिधि है इसलिए अतिशयोक्ति के रूप में जब मैं यह कहता हूँ कि अपने दीवान के बदले यह शेर लेने के लिए तैयार हूँ तो इसका अर्थ यह है कि इसे मोमिन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठतम काव्य का प्रतीक स्वीकार करता हूँ, इसको लेकर शायरी का एक ऐसा बहुमुखी कण ग्रहण करूँगा जिसका हर मुख मोमिन की शायरी की सुन्दरता से उज्ज्वल हो।

ज़ौक पर मोमिन को प्राथमिकता देने के पीछे भी ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क ही काम कर रहा है, क्योंकि जहाँ ज़ौक की सुन्दरता निखरती है वह क्षेत्र इस संसार का अंश नहीं मालूम होता :

ऐ शमा तेरी उम्रे तबीई है एक रात
हँसकर गुज़ार या इसे रोकर गुज़ार दे।

मगर मोमिन की शायरी विशेषकर उनके प्रेम में तो ग़ालिब से भी अधिक यथार्थ है, ऐहिकता है अर्थात् आधुनिकता है।

कभी हममें तुममें भी चाह थी, कभी हममें तुममें भी राह थी
कभी हम भी तुम भी थे आश्ना, तुम्हें याद हो कि न याद हो

ग़ालिब के दिल का इस आधुनिकता की ओर खिंचना बिल्कुल स्वाभाविक था। और फिर प्रेम के अतिरिक्त भी मोमिन की शायरी मोटे तौर पर ग़ालिब की शायरी के बहुत समीप थी, बल्कि अपने विकास में भी करीब-करीब उन्हीं चरणों से गुज़री थी जिन्होंने ग़ालिब की कला को एक सदाबहार आधुनिकता के साँचे में ढाल दिया।

तो पता चला कि ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क, उनकी अविलम्ब निर्वाचन करने वाली प्रौढ़ आलोचनात्मक चेतना केवल 'इन्सान-शनासी' तक सीमित नहीं थी जिस पर उन्हें गर्व था बल्कि उससे बहुत व्यापक थी और दोस्त-दुश्मन, अच्छे-बुरे ही में नहीं बल्कि कला और अकला, सुन्दर और असुन्दर में भी स्पष्ट विश्लेषण करती थी। मगर अन्त में उसकी विशेष शक्ति वही थी : मानव की पहचान, जिसका ग़ालिब ने दावा किया है, यद्यपि शायद इस शक्ति की कार्यान्विति, गहराई उससे भी अधिक थी जितने कि ग़ालिब स्वयं उसके प्रति सचेत हो सकते थे और आदमी के क़द को पूरी तरह नाप लेती थी कि वह कितना बड़ा या छोटा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब और सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति

कुँवर मोहम्मद अशरफ़

एक सामान्य इतिहासज्ञ मिर्ज़ा ग़ालिब के व्यक्तित्व से, ब-हैसियत एक श्रेष्ठ कवि, परिचित होगा; लेकिन एक इतिहासकार के रूप में, जिसे बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने मुग़लकालीन शासन का इतिहास लिखने पर नियुक्त किया था, शायद वह परिचित न हो। इसी प्रकार यह वास्तविकता भी संभवतः उस पर प्रकट न हो कि इस क़ौमी शायर ने विद्रोहियों के सत्तारूढ़ होने पर, न केवल यह कि दिल्ली में रहना पसन्द किया, बल्कि इस यादगार ज़माने की दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ भी क़लम बन्द कीं। इस रोज़नामचे का आरम्भ ११ मई, १८५८ को मेरठ के सवारों की आमद से शुरू होता है और २० सितम्बर को समाप्त होता है, जब ब्रिटिश फ़ौजें दिल्ली की विद्रोही शक्तियों के संघर्ष पर क़ाबू पाने में सफल हो गयीं। कुछ पहलुओं से यह रोज़नामचा लखनऊ की पराजय (जुलाई, १८५८ ई०) तक की घटनाओं को लिये हुए है।

यह बात बहुत स्पष्ट नहीं है कि आख़िर किन प्रेरक शक्तियों के कारण लेखक को इस रोज़नामचे के लिखने का ख़याल पैदा हुआ। ताहम इतना स्पष्ट है कि रोज़नामचा उस समय सामने आया जब अंग्रेजों को दिल्ली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। इसलिए हमारा यह सोचना ग़लत न होगा कि उस ज़माने की स्थितिजन्य अपेक्षाओं से अनुकूलता पैदा करने के लिए अस्ल पुस्तक पर नज़रेसानी की गयी होगी। प्रस्तुत रूप में ग़ालिब के इस रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज है वह सब अत्यन्त संक्षेप रूप में है; और इसमें बाज़ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का कोई ज़िक्र नहीं जिनकी जानकारी सबको थी। उस दौर की महत्त्वपूर्ण और परिणामकारी घटनाओं के बारे में इस रोज़नामचे का रवैया विशेष रूप से अनपेक्षित है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को रोज़नामचा दुबारा लिखने की फ़ुर्सत और इत्मीनान मोयस्सर नहीं था। इसलिए उसने अस्ल रोज़नामचे में दर्ज किये गए तथ्यों में कमी या काट-छाँट करने, और उसमें कुछेक बाद में आये विचारों को जोड़ने पर ही सन्तोष किया। स्पष्ट है कि अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए वह ऐसा करने पर मजबूर हुआ।

इस बीती का आरम्भ एक जोश और सरख़ुशी की मनःस्थिति से होता है। हर तरफ़ अवाम बग़ावत पर तुले हुए हैं, और बाग़ी फ़ौजें अंग्रेज़ी फ़ौजों से लड़ने और पीछा करने के लिए एक-पर-एक दाख़िल हो रही हैं। लेकिन जैसे ही मुक़ाबला शुरू होता है—जो चार महीने और दस दिन तक जारी रहा—लेखक पर्दापोशी या भेद गुप्त रखने की ओर झुकता नज़र आता है। और कुछेक पंक्तियों के सामान्य-से विवरण के बाद हमें अचानक मालूम होता है कि कश्मीरी दरवाज़े पर ब्रिटिश फ़ौजों के भारी आक्रमण के परिणामस्वरूप हिन्दुस्तानी फ़ौजों को हारकर पीछे हटने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया है। इसके बाद वह असली विषय से कतराकर आगे बढ़ता है, और मुल्क में विद्रोहियों के संघर्ष की ओर कुछ असम्बद्ध लेकिन फिर भी कई दृष्टियों से अर्थपूर्ण इशारों के बाद वह अपने घरेलू मामलों की ओर ध्यान देता है, और उन सेवाओं का उल्लेख करता है जो उसके वंशजों ने आरम्भ में अंग्रेज़ों को अर्पित कीं।

लेखक ने बग़ावत की तफ़सील देने में जो संकोच दिखाया है और विदेशी विजेताओं से जैसी सोची-समझी वफ़ादारी व्यक्त की है—अगर हम उस ज़माने के बेझिझक और बर्बर क़त्ले-आम को ध्यान में रखें तो इसकी यथार्थता का अन्दाज़ा करने में कठिनाई न होगी। इस बग़ावत से उसके सम्बन्ध या सहानुभूति का ज़रा-सा भी शुबह उसे फाँसी पर लटका सकता था। इसके अलावा ग़ालिब की जीविका का आधार-मात्र एक पेन्शन थी। और पूर्व इसके कि हाकिमों को उसे दुबारा जारी करने के लिए राज़ी किया जाय, उसके लिए अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार—और अपनी निर्दोषता—को प्रमाणित करना आवश्यक था। यह बात एक ऐसे व्यक्ति के लिए और भी ज़रूरी थी जिसका सम्बन्ध अमीर-उमरा से रहा हो और जो दिल्ली मुग़ल शाहंशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' का उस्ताद, दरबारी और दोस्त रह चुका हो। केवल इतना ही नहीं बल्कि जिसने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन-काल की बरकतों का स्वागत करने के बावजूद अंग्रेज़ों की क्रूर और निर्मम कूटनीति विशेषकर अवध की सत्तापहरण पर मानसिक विरोध और असन्तोष की अभिव्यक्ति की हो। कुछ समय पश्चात् जब मार्शल लॉ की कठोरता कम हुई, शान्ति पुनः स्थापित हुई, तो ग़ालिब ने अंग्रेज़ों की क्रूरता और दमन-नीति का ज़िक्र अधिक स्पष्टता से खुलकर किया। उसने नये जागीरदार वर्ग की खुशहाली में शरीक होने से इन्कार किया कि नये शासक राजनैतिक सत्ता में उनको हिस्सा देंगे। उसने खुले तौर पर अपने बाग़ी दोस्तों के कष्ट और यातनाओं से विशेषता, और पराजित उमरा से सामान्यतया, सहानुभूति प्रकट की।

वस्तुस्थिति जैसी भी हो, यह तो वास्तविकता है कि सितम्बर सन् १८५७ में जब परिस्थिति प्रतिकूल हुई तो उसने भी अपने बहुत-से दूसरे मित्रों के समान व्यक्तिगत सुरक्षा को दूसरी तमाम चीज़ों पर तरजीह दी। इसलिए सम्बन्धित हाकिमों के समक्ष शायर ने जिस तर्क-पद्धति का सहारा लिया और जैसी होशियारी से अपनी जान बचायी उसके लिए हम उसे दोषी करार नहीं दे सकते। उसने प्रमाणित किया कि उसका वंश आरम्भ से ही ब्रिटेन के प्रति वफ़ादार रहा है और उसी उपलक्ष में उसे आजीवन पेन्शन दी गई थी। उसने बग़ावत के दौरान में अपने-आपको शाही तरफ़दारों और बाग़ियों से बिलकुल अलग रखा; और अपने-आप मकान में बन्द रहकर एकान्तवास किया। शहर में ब्रिटिश फ़ौजों के दाखिल होने के बाद जब बहुत-से ऊँचे प्रतिष्ठित और पेन्शनयाफ़्ता लोगों ने पलायन का रास्ता अपनाया तो उसने शहर ही में रह जाना पसन्द किया। उसने अपनी निर्दोषता ('अपराधों' के घटनास्थलों से दूर रहने) के प्रमाण में हिन्दुस्तान और इंगलैंड के शीर्ष पदाधिकारियों को अपना फ़ारसी रोज़नामचा पेश किया। ऐसा उसने क्योंकर किया—इसका जानना कठिन नहीं। मुग़ल शासन-काल के साहित्य-मनीषियों को जैसी आलंकारिक और श्लेषात्मक शैली प्रिय थी उसमें वह निष्णात था। उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति होने के बावजूद अपनी *भावनाओं* को होशियारी के साथ उस अभिव्यक्ति की तहों में छुपा सकता *था*। *अपनी* वाक्यशैली और अर्थसन्दर्भों में दोहरे अर्थ का पुट भरने के लिए उसने अपने विशिष्ट विशुद्ध-फ़ारसी के दृष्टिकोण का सहारा लिया। सारांश यह कि उसने इस सिलसिले में हर प्रकार की सम्भव सतर्कता से काम लिया, और इस बात की कोशिश की कि उसके रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज हुआ था वह उसके विरुद्ध या उसके उन साथी बन्धुओं के विरुद्ध इस्तेमाल न हो सके जिन्होंने बग़ावत में खुलकर हिस्सा लिया था।

इन सारी बातों के बावजूद 'दस्तम्बू' दिल्ली की बग़ावत से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं के लिए एक प्रामाणिक और मूल्यवान संदर्भ-ग्रन्थ की हैसियत रखता है। मुझे इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं कि वास्तविकता को यथार्थपरक दृष्टि से देखने का भाव और मानवता से गहरा प्यार (जो लेखक के व्यक्तित्व का विशिष्ट गुण हैं) उसकी दूसरी रचनाओं की तरह इस पुस्तक में भी उभरकर आते हैं। कतिपय ज्ञात कारणों के आधार पर निःसन्देह घटनाओं का वर्णन दोहरे अर्थ लिये हुए और 'निर्वैयक्तिक' है; लेकिन ग़ालिब का कतिपय नाटकीय संदर्भयुक्त घटनाओं और कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों की सरगर्मियों को बिलकुल छोड़ देना स्पष्ट ही उस राष्ट्रीय प्रतिरोध के महान् आन्दोलन की लोकप्रियता और कई ऐसी नयी सामाजिक शक्तियों की झलक दिखाता है जो इस आन्दोलन से सम्बद्ध थीं। फ़ारसी रोज़नामचे की इस प्रति को लिपिबद्ध करने में लेखक की मजबूरियाँ कुछ भी रही हों यह बात निश्चित है कि सन् १८५७ ई० की घटनाओं के हर संवेदनशील विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

अब हम पाठकों के समक्ष 'दस्तम्बू' के कुछ उद्धरण' प्रस्तुत करते हैं और उनके यथार्थ मूल्यांकन के बारे में राय क़ायम करने का काम ऊपर छोड़ते हैं।

१. जनसाधारण विद्रोह के लिए तैयार हैं :

शायर यह वस्तुस्थिति देखकर कुछ उलझन और परेशानी में मुब्तिला नज़र आता है :

"नौकरपेशा हाक़िमों से विद्रोह करें, सिपाही अफ़सरों को कत्ल करें, और खुशियाँ मनायें और किंचित् भी पश्चात्ताप का अनुभव न करें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. ब्रिटेन से सहानुभूति रखने वालों की मजबूरी :

"इस वजह से कि तेज़ बहने वाले पानी को तिनकों से नहीं रोका जा सकता। अपने-आपको मजबूर समझकर हर शख़्स उदास और शोकग्रस्त अपने घर में बैठ रहा।"

३. मेरठ के सवारों का स्वागत :

"मेरठ की फ़ौज के कुछ बदनसीब और सिरफिरे सिपाही शहर में आये। निहायत ज़ालिम, फ़सादिये और नमकहरामी की वजह से अंग्रेज़ों के ख़ून के प्यासे। शहर के विभिन्न दरवाज़ों के रक्षक जो फ़सादियों के ही धन्धे वाले और भाईबन्द थे, बल्कि कुछ आश्चर्य नहीं कि पहले ही से इन संरक्षकों और फ़सादियों में साजिश हो गई हो। शहर की रक्षा की ज़िम्मेदारी और नमकहलाली—हर चीज़ को भूल गये; इन बिन-बुलाये या आमंत्रित मेहमानों का स्वागत किया। इन मदहोश सवारों और अक्खड़ प्यादों ने जब देखा कि शहर के दरवाज़े खुले हुए हैं और द्वार-रक्षक ही आमंत्रण देने वाले हैं—दीवानों की तरह इधर-उधर दौड़ पड़े।..."

४. बग़ावत बढ़ती और फलती है :

"...दूर-दूर के शहरों से ख़बरें आयीं कि विभिन्न सेनाओं के विद्रोहियों ने हर छावनी में अफ़सरों की हत्या कर दी है—और नमकहरामों ने खुल्लमखुल्ला बग़ावत का शोर मचा रखा है। दल-के-दल सिपाही हों या ज़मींदार, सब एकदिल हो गये, और किसी पूर्वनिश्चित प्रोग्राम के बिना ही दूर और नज़दीक हर जगह एक ही काम के लिए कमर बाँध ली। और फिर कैसी मज़बूती से कमरें कसी थीं कि सिर्फ़ उस ख़ून के दरिया की मौजें ही उनको खोल सकती थीं जो कमरों से गुज़र जाए। विभिन्न स्थानों के लोग किसी योजना के बिना ही जिस तरह एक ही काम यानी क़त्ल और ख़ून में लग गये थे उससे ऐसा जान पड़ता था कि जिस तरह झाड़ू की बहुत-सी सींकों को एक ही बन्द से बाँधा जाता है, उसी तरह गिनती-शुमार से बाहर इन लड़ने वालों की कमरें भी एक ही 'कमरबन्द' से बँधी हुई हैं।

निस्सन्देह हिन्दुस्तान को आराम और सुख-सुविधा से इस हद तक ख़ाली करने के लिए अगर इन चीज़ों को ढूंढ़ा जाए तो एक घास के तिनके के बराबर भी निशान न मिले। ऐसी ही झाड़ू की ज़रूरत थी। बहुत-से लश्कर सेनानायकों के बिना ही तैयार हो गए। बहुत-सी फ़ौजें अफ़सरों के बिना ही लड़ाई के लिए उठ खड़ी हुईं।..."

५. ज़मींदार और अमीर-उमरा की बेबसी और बेचारगी :

"बड़े-बड़े प्रकांड विद्वानों और ख्यातनामा व्यक्तियों की आबरू मिट्टी में मिला दी गई। और जिन लोगों के पास न धन था, न कोई प्रतिष्ठा, वह अकूत ज़र-जवाहर और मान-प्रतिष्ठा के मालिक हैं। जिसका बाप गलियों की ख़ाक छानता फिरता था वह हवा को अपनी सेवा में प्रस्तुत समझ रहा है।...बड़े-बड़े बहादुरों का यह हाल हो जाए कि वे अपने साये से डरें; सिपाही बादशाह और फ़कीर हरेक पर हुकूमत करने लगें।..."

६. जनसाधारण के सिपाही (विद्रोही) दिल्ली में इकट्ठा होते हैं :

ग़ालिब लिखते हैं कि जैसे ही इन लोगों ने दिल्ली में प्रवेश किया उनके विभिन्न दस्तों (टुकड़ियों) ने सबसे पहले वह सोना और चाँदी शाही खजाने में जमा कर दिया जो उनके पास था। उसके बाद वह बादशाह की सलामी के लिए लाल-किले में गये, और फिर एक विजेता के रौब के साथ शहर में घूमने निकले।

"हर तरफ़ से फ़ौजें जमा होना शुरू हो गयीं और इसी धरती (दिल्ली) की ओर रवाना हो गयीं।...बस, यह इस ज़माने की एक अजीब स्थिति है।

"अब दिल्ली के अन्दर और बाहर लगभग पचास हज़ार सवारों और पैदल की फ़ौज पड़ी हुई है।..."

७. हिन्दुस्तानी रियासतों के शासकों पर जनता के इस आन्दोलन का प्रभाव :

फ़र्रुख़ाबाद के प्रसिद्ध सेनानी तफ़ज्ज़ुल हुसैन ख़ाँ ने, जिनका बादशाह के साथ कभी कोई सेवा-सम्बन्ध नहीं रहा था, दूर ही से बादशाह की ड्योढ़ी को माथा नवाया और पत्र में अपने-आपको उनका पुराना सेवक घोषित किया।

"ख़ानबहादुर ख़ाँ, गुमराह, जो प्रसिद्धि चाहता था, और जो बरेली में कुछ लश्कर एकत्र करके सरदार बन बैठा था, एक-सौ-एक अशरफ़ियाँ, चाँदी के साज़-सामान से सजा हुआ हाथी और घोड़ा बादशाह की खिदमत में भेजा।...

"रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ बहादुर ने, जो इस इलाक़े में बाप-दादा के उत्तराधिकारी होने का दायित्व निभा रहे हैं और अंग्रेज़ी हुकूमत के साथ इनकी मैत्री का सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि ज़माना हज़ार बरस में भी किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरीक़े से इसको नहीं तोड़ सकता—विवश होकर केवल ज़बानी सन्देश भेजकर लोगों की ज़बान को बन्द किया।

"लखनऊ में···शरफ़ुद्दौला ने, जो बड़े अनुभवी और मामलात को समझने वाले थे···वाजिदअली शाह के दस वर्ष के लड़के को गद्दी पर बिठाल दिया, और उसको हिन्दुस्तान के शाहंशाह का वज़ीर और अपने-आपको पेशकार और नायब-वज़ीर (उपमंत्री) मान लिया।···

"शाहंशाह की क़िस्मत का सितारा इतना ऊँचा उठ गया कि दुनिया वालों की दृष्टि से ओझल हो गया।"

८. ब्रिटिश सैनिकों से मुक़ाबला :

"रात-दिन दोनों तरफ़ से गोलाबारी होती है जैसे ऊपर से पत्थर बरस रहे हों। मई-जून की गर्मियाँ हैं। धूप की तेज़ी रोज़-रोज़ बढ़ती जा रही है।···विभिन्न स्थानों से आये हुए सिपाही दिन चढ़े शेरदिल अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए जाते हैं और सूरज डूबने से पहले ही वापस आ जाते हैं।···"

९. हकीम अहसनल्ला ख़ाँ की हवेली में आग लगा दी गयी :

हकीम अहसनल्ला ख़ाँ अंग्रेज़ों के ख़ैरख़्वाह और तरफ़दार हैं···उनका घर, जो अपनी सुन्दरता और सजावट में चीन के किसी ललितकला मन्दिर के समान था, लूट लिया गया। छत को आग लगा दी गयी।"

१०. ब्रिटिश सिपाहियों का आक्रमण और बाग़ियों के पैर उखड़ जाना :

"सितम्बर की चौदह तारीख़ को पहाड़ी के दामन में बैठे हुए अंग्रेज़ों ने धूम-धड़क्के के साथ कश्मीरी दरवाज़े पर ऐसा हमला किया कि कालों की फ़ौज को भागते ही बना।···"

११. आख़िरी वक़्त तक जनता का आत्मरक्षात्मक संघर्ष :

ब्रिटिश सिपाहियों ने जब बाग़ी सिपाहियों से शहर छीन लिया तो जनता ने भी बाग़ियों का साथ दिया और गली-कूचों में आमने-सामने लड़ने और मुक़ाबिला करने लगे।

"दुष्ट और आवारा लोगों का यह गिरोह शेरदिल विजेताओं से उलझ पड़ा।···दो-तीन दिन तक कश्मीरी दरवाज़े से लेकर चौक तक तमाम रास्ते मैदाने-जंग बने रहे, दिल्ली दरवाज़ा, तुर्कमान दरवाज़ा, अजमेरी दरवाज़ा—ये तीनों दरवाज़े इस फ़ौज के अधिकार में रह गये।"

और जब दिल्ली पर ब्रिटिश सिपाहियों का अधिकार हो गया तो उसके परिणामस्वरूप—"*अनगिनती मर्द-औरतों के गिरोह, जिनमें मामूली लोग भी थे और हैसियत वाले भी,* इन तीनों दरवाज़ों से बाहर निकल गये।···"

१२. जनता की नैतिक दृढ़ता और साहसिकता :

ग़ालिब अपने मोहल्ले के निवासियों का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"अगर्चे गली का दरवाज़ा बन्द कर लिया गया था लेकिन अभी इतना हौसला बाक़ी था कि दरवाज़ा खोलकर बाहर चले जाते थे और खाने-पीने का सामान ले आते थे।"

१३. दिल्ली के आसपास और क़स्बों में आत्मरक्षात्मक संघर्ष :

७ अक्तूबर सन् १८५७ को अन्तिम और निर्णायक रूप से दिल्ली पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया, उस समय भी आस-पास के देहातों में जनता का निवारक और आत्मरक्षात्मक संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। ग़ालिब लिखता है :

"अभी बाग़ियों के बहुत-से गिरोह बरेली, फ़र्रुख़ाबाद और लखनऊ में जगह-जगह आग भड़काने और व्यर्थ ही मुक़ाबिला करने में जुटे हुए हैं। और उनके दिल, कि ख़ुदा करे ख़ून हो जाएँ, और उनके हाथ कि ख़ुदा करे बेकार हो जाएँ, इसी काम (लड़ाई) के लिए खुले हुए हैं।

"इधर सोहना और नूह के इलाक़े में मेवातियों ने बेतरह उपद्रव फैला रखा है, जैसे दीवाने ज़ंजीरों से मुक्त हो गये हों। तुलाराम नामक एक व्यक्ति···कुछ दिन रेवाड़ी में ऊधम मचाए रहा फिर शैतान ने ऐसी मति फेरी कि मेवातियों से मिल गया। यह गिरोह मैदानों और पहाड़ों में (अंग्रेज़) हाकिमों से लड़ रहा है। मालूम होता है कि हिन्दुस्तान की धरती पर हर तरफ़ तेज़ आँधियों और बढ़ती हुई आग का दौर-दौरा है।"

१४. एक घरेलू दृश्य : बारिश का पानी जमा करना :

१५ सितम्बर के बाद गल्ले की सब दुकानें बन्द कर दी गईं। मेहतर, धोबी, नाई और फेरीवाले शहर छोड़कर चले गए, जिसके फलस्वरूप दो दिन और दो रातों तक खाने और पीने को कुछ मयस्सर न हो सका। स्वाभाविक ही था, ग़ालिब की ज़िंदादिली के सोते सूखने लगे कि :

"एक दिन अचानक बादल आ गया, पानी बरसा, हमने (आँगन में) एक चादर बाँध ली और एक मटका उसके नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रख दिया, और (इस तरह) पानी हासिल किया, कहा जाता है कि बादल समुद्र से पानी लेता है और ज़मीन पर बरसाता है (लेकिन) इस बार यह अलोप-सा बादल पानी कहीं अमृत कुण्ड से लाया, मानो सिकन्दर ने जो चीज़ अपनी बादशाहत के दौर में ढूँढी थी, मुझ परेशाँ हाल ने वह निधि (अमृत) (इस) तबाही और बर्बादी के आलम में पाई।"

१५. लूटमार, हत्याकांड आदि :

दिल्ली शहर पर ब्रिटिश सैनिकों का अधिकार हो जाने के बाद परिस्थिति ने जो नया मोड़ लिया उसे ग़ालिब ने हाकिमों का 'क्रोधाग्नि' (शोलए गज़ब) नाम दिया है।

"विजेताओं ने रास्ते में जिसको भी पाया, क़त्ल कर दिया। शहर के आली खानदान और मान-मर्यादा वाले व्यक्ति अपनी इज़्ज़त-आबरू की दौलत को बचाने के लिए घरों के दरवाज़े बन्द करके बैठे रहे।"

ग़ालिब ने अचानक देखा कि—

"चौक के आगे क़त्ल और खून का बाज़ार गर्म है और रास्ता खतरनाक है।··· (हम लोग) बिल्कुल क़ैदियों की तरह ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। न तो कोई आता है कि कोई बात सुनने को मिले, न खुद बाहर जा सकते हैं कि अपनी आँखों से सारी घटनाओं को देखें।"

शहर में लूटमार का ज़िक्र करते हुए लेखक का बयान है—

"मैं जानता हूँ कि इस हमले में हुकुम यह है कि जो अधीनता स्वीकार कर ले उसे क़त्ल न किया जाए, माल छीन लिया जाय। और जो शख्स मुकाबला करे, माल के साथ उसकी ज़िन्दगी भी छीन ली जाय। जो लोग मारे गए उनके सम्बन्ध में यही खयाल है कि उन्होंने निश्चय ही अधीनता स्वीकार नहीं की, इसी वजह से उनको क़त्ल कर दिया गया।"

"ज्ञात हो कि दिल्ली की एजेण्टी के अधीन जो जागीरें हैं वे गिनती में सप्ताह के दिनों से कम या ज़्यादा नहीं हैं। झज्झर, बहादुरगढ़, वल्लभगढ़, लोहारू, फ़र्रुखनगर, दोजाना, पटौदी—इनमें से पाँच जागीरों के हाकिम, जैसा कि मैंने कहा, किले में मौजूद हैं और शेष दो जागीरदार पटौदी और दोजाना में आतंक के तीर का निशाना हैं।"

इस हंगामे के बाद दिल्ली की स्थिति एक बड़े क़ैदखाने की तरह हो गई थी। 'दस्तम्बू' के लेखक के शब्दों में—

"इस शहर में क़ैदखाना शहर से बाहर है और हवालात शहर के अन्दर। इन दोनों में अनगिनती लोगों को भर दिया गया है। (इन सीमित स्थानों में संख्या की भरमार को देखकर) ऐसा मालूम होता है कि आदमी में आदमी समाया जा रहा है। इन दोनों क़ैदखानों के जिन क़ैदियों को अलग-अलग दिनों में फाँसी दे दी गई है उनकी संख्या तो मौत का फ़रिश्ता ही जानता है। शहर में एक हज़ार से ज़्यादा मुसलमान नहीं पाओगे।···इस वीराने के वासी गिरोह में या तो वे लोग हैं जो शहर में रहने की इच्छा अभी लिये हुए हैं या बन्दी लोगों के सम्बन्धी हैं, या खैरात पाने वाले यानी पेंशनदार हैं।"

१६. ग़ालिब की पीड़ा, निराशा और भविष्य-चिन्ता :

स्वाभाविक ही था कि इस 'शहरे खमोशाँ' (श्मशानवत नगर) को देखकर ग़ालिब का दिल बुरी तरह टूट गया था। वह शहर, जिसमें हज़ारों व्यक्ति उनको जानते-पहचानते थे और हर घर में, हर बस्ती में उनके साथी-संगी और दोस्त थे, उनके लिए यह सोचना भी बड़ी टीस पहुँचाता था।

"शहर मुसलमानों से खाली हो गया है। लोगों के घरों में रात को चिराग़ नहीं जलता और किसी घर से धुआँ निकलता दिखाई नहीं देता।"

बेचारगी, पराजय और अभाव के इस आलम में शायर मुसलमानों को ग़रीबी, भूख और मौत की तरह बढ़ता हुआ देखता है। लेकिन फिर अचानक उसे इस घोर अन्धकारपूर्ण क्षितिज पर धुँधला-सा प्रकाश दिखाई देता है और वह एक सूफ़ी की-सी उम्मीद के साथ लिखता है :

चर गर कि ज़े-ज़ख्मा ज़ख्म बर-चंग ज़नद,
पैदास्त कि अज़ बह्‌र चे आहंग ज़नद।
दरपर्दए-नाखुशी खुशी पिनहानस्त :
गाज़र न ज़े-खश्म जामा बर-संग ज़नद।

(वादक साज़ के तारों पर मिज़राब से चोट करता है और स्पष्ट है कि इससे उसका उद्देश्य क्या होता है। खुशियाँ मुसीबतों के पर्दे में छिपी हुई हैं, धोबी गुस्से में आकर कपड़े को पत्थर पर नहीं मारता।) ●

रूपान्तरकार : **शमशेरबहादुर सिंह**

१. उद्धरणों का प्रस्तुत हिन्दी रूप फ़ारसी से डॉ० क़मर रईस, (रीडर, उर्दू विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा किए गए उर्दू अनुवाद पर आधारित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिर्ज़ा ग़ालिब—अन्तर्विरोधों के बीच

नईम अहमद

ग़ालिब एक महान् कवि और गद्यकार के अतिरिक्त उस्ताद भी थे। उन्होंने अपने शिष्यों की रचनाओं पर इस्लाहें की थीं वे आज इनके पत्रों की सूरत में मौजूद हैं। इन्होंने इन पत्रों में शायरी, ज़बान और अपने या किसी अन्य व्यक्ति के काव्य पर विचार प्रकट किये हैं, ये तमाम पांडुलिपियां ज्ञान का अमूल्य भण्डार हैं। इनसे कवि ग़ालिब के दृष्टिकोण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस लेख में ये नुकात एकत्रित करके प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

ग़ालिब हिन्दुस्तान के फ़ारसी विद्वानों, कोशकारों और कवियों को प्रामाणिक नहीं मानते थे। एक पत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि हिन्दुस्तानियों में हज़रत अमीर ख़ुसरो के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति की ज़बान को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता—

"अहले हिन्द में सिवाय ख़ुसरो देहलवी के कोई मुसल्ले-मुससुबूत नहीं, मियाँ फ़ैज़ी की भी कहीं-कहीं ठीक निकल जाती है, फ़रहंग लिखने वालों का मदार क़यास पर है, जो अपने नज़दीक सही समझा, वह लिख दिया। निज़ामी व सईदी वग़ैरह की लिखी हुई फ़रहंग हो तो हम उसको मानें—हिन्दियों को क्योंकर मुसल्लेमुससुबूत जाने। गाय का बच्चा बज़ोरे सहर आदमी की तरह क़लाम करने लगा, नबी इस-राइल उसको ख़ुदा समझे···।"[1]

ग़ालिब ने कई पत्रों में विभिन्न व्यक्तियों को अपने इस दृष्टिकोण से आगाह किया था। इसी राय के इज़हार की वजह से उन्हें 'क़तील' के जानने वाले यानी हिन्दोस्तान के विभिन्न फ़ारसीदानों के ख़िलाफ़ जिहाद भी करना पड़ा। हिन्दुस्तानी फ़ारसी के इन प्रेमियों का यह विचार था कि हमारी फ़ारसी भी ईरानियों की भाषा की भाँति न केवल दुरुस्त है बल्कि मुस्तनद है। ग़ालिब की दलील यह थी कि केवल उन लोगों की भाषा मुस्तनद हो सकती है जिनकी मातृभाषा फ़ारसी हो।[2]

उनका यह विचार था कि कोई व्यक्ति फ़ारसी भाषा में कविता करने की विद्वत्ता के कारण ही भाषाशास्त्री नहीं बन सकता। उसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह 'मोज़ूंतबाअ" है और वास्तव में ऐसे लोगों की 'मोज़ूं तबई' ने ही भाषा को ख़राब और लोगों को भाषा के सम्बन्ध में गुमराह किया था।[3] ये लोग फ़ारसी के शायराना मिज़ाज से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उनका ज्ञान केवल उस सीमा तक महदूद था जो पाठशालाओं में बच्चों को पढ़ाया जाता है। और इनका शब्द-भण्डार केवल इन शब्दों पर आधारित था जो मुतस्सदी नस्र में दर्ज करते हैं।[4]

फ़ारसी के सम्बन्ध में इस विवाद में ग़ालिब की इल्मियत बड़े भरपूर अन्दाज़ से बेनकाब हुई है। वह हिन्दी फ़ारसी गवैयों की ज़बानदानी को टकसाल-बाहर क़रार देते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उनके ख़्याल में विदेशी भाषा से जानकारी बहम पहुँचाना मुमकिन ही नहीं। वे लिखते हैं कि भाषा और साहित्य का ज्ञान बड़ी मेहनत, धैर्य और ज़ेहनी नज़्म चाहता है—

"जब रोदकी व अन्सरी व ख़ाक़ानी व रसीद व तुआत और उनके इम्साल व नज़ाइर का कलाम व इस्तीफ़ा देखा जाए और उनकी तरकीबों से आशनाइ बहम पहुँचे और ज़हन अऊजाज की तरफ़ न ले जाए तब आदमी जानता है कि यह फ़ारसी है।"[5]

इस सम्बन्ध में ग़ालिब का वह पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो उन्होंने 'सुरूर' को इसलिए लिखा था कि वह उसे हज़रत साहिबे आलम मारहरवी को सुनाकर उनकी नाराज़गी दूर कर दें। साहिबे आलम बिगड़े इसी बात पर थे जिस पर और बहुत-से लोग क्रुद्ध हुए थे। ग़ालिब ने इस पत्र (रुक़्क़े) में फ़ारसी शायरी के भाँति-भाँति के रंगों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर संकेत करते हुए विभिन्न उस्तादों के तर्ज़ेखास की तरफ़ तवज्जो दिलाई है और यह कहा है कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी ज़बान व बयान में 'चीज़ दीगर' से मेहरूम रहे जो ईरानी कवियों की रचनाओं में हैं—

"···इस रूक्क़े में एक मीज़ान अर्ज़ करता हूँ, हज़रत साहब इन साहबों के कलाम को यानी हिन्दियों के अशआर को 'क़तील' और 'वाक़िफ़' से लेकर 'बेदिल' और 'नासिर अली' तक इस मीज़ान में तोलें और रोदकी व फिरदौसी से लेकर खाक़ानी व सनाई व अनवरी वग़ैर हम हज़रते सईदी तर्ज़े खास के मूजिद हुए। फ़ुग़ानी और एक शेवार खास··· हुआ। ख्याल हाय नाज़ुक और मआनीए बलन्द लाया, इस शेवाह की तकमील की 'ज़हूरी' व 'नज़ीरी' व 'अर्फ़ी' व 'नूई' ने। सुब्हान अल्लाह क़ालिबे सुखन में जान पड़ गई। इस रविश को बाद इसके साहिबाने तबाअ ने सलासत का चर्बा दिया। 'साइब' व 'कलीम' व 'सलीम' व 'क़ुदसी' व 'हकीम' 'शफ़ाई' इस ज़ुमराह में हैं 'रोदकी' व 'असदी' व 'फ़िरदौसी'। ये शेवाह 'सईदी' के वक़्त में तर्क हुआ और सईदी के तर्ज़ ने बसबब सहले हमतनाअ होने के रिवाज न पाया। फ़ुग़ानी का अन्दाज़ फैला और इसमें नये-नये रंग पैदा होते गये तो अब तीन तर्ज़ें ठहरी हैं: (१) 'खाक़ानी': इसके अक़रान। (२) 'ज़हूरी': इसके इम्साल। (३) 'साइब': इसके नज़ायर···।"[६]

यह पत्र ग़ालिब के गहन अध्ययन और कटु आलोचना का प्रमाण है। इससे यह बात साफ़ है कि उनकी फ़ारसीदानी के बलंद बांग दावे खोखले नहीं थे।

ग़ालिब ने इसी पत्र में यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तानी शायर फ़ारसी में 'चीज़े दीगर' नहीं पा सके, परन्तु उर्दू में वह सफल हुए। इस ज़मीन में उन्होंने 'मीर' के दो अशआर और 'क़ायम' व 'मोमिन' का एक-एक शेर बतौरे मिसाल दर्ज किया है और यह लिखा है कि—

"नासिख के हाँ कमतर और आतिश के हाँ बेश्तर ये तेज़ नश्तर हैं।"

ग़ालिब कलाम की इस्लाह इस तरह करते थे कि जिस शेर में तबदीली का कोई मौक़ा न होता उसे उसी तरह रहने देते। अगर किसी जगह कोई लफ़्ज़ बदलना होता तो इस परिवर्तन का कारण भी लिखते। इस पद्धति से शिष्य को यह लाभ होता कि वह इस बात को समझ जाता और फिर आगे ऐसी ग़लती की गुंजाइश न रहती।

अब्दुर्रज़ाक शाकिर की किसी ग़ज़ल के मतले का एक मिसरा यह था—

"सरखुश सरशार मस्तमयल्ला"

ग़ालिब ने उन्हें यह लिखा कि फ़ारसी में सरशार प्याले की सिफ़त है और इसके मानी हैं लबरेज़।

इसलिए शराब पीने वाले को लबरेज़ नहीं कहा जा सकता। उर्दू में 'मस्त व सरशार' मुतारादिफ़ अर्थों में बोला जाता है, लेकिन उर्दू का यह चलन फ़ारसी के लिए पसन्द नहीं।

'शाकिर' की इसी ग़ज़ल पर और इसलाहें हैं: 'मी रसद बर बादह अलख' को ग़ालिब ने 'मी रसद बर शीशा अलख' कर दिया। 'ज़ लहद चूँ खाक जस्तम अलख' पर ग़ालिब ने लिखा—'खाक को जस्तन से क्या इलाक़ा ?' 'नक़द जां रा महर बस्तम यल्ला' में ताअक़ीद माअनी के एब की तरफ़ इशारा किया, वग़ैरह।

मिर्ज़ा 'तफ़्ता'[७] को शब्द 'फ़र' के प्रयोग में कुछ सोच-विचार था ग़ालिब ने उन्हें लिखा कि 'फ़र' और 'फ़राह' शब्द 'जाह' के मुतारादिफ़ हैं, इसलिए 'आलीजाह' और 'सिकन्दर जाह' या 'मुज़फ़्फ़र फ़र' और 'फ़रीदी फ़र' की तरकीबें दुरूस्त हैं।

मिर्ज़ा 'तफ़्ता' ने एक शेर में शब्द 'बेपीर' बाँधा था, ग़ालिब ने उसे ग़लत क़रार दिया। इसके जवाब में मिर्ज़ा 'तफ़्ता' ने फ़ारसी के एक बहुत प्रसिद्ध और माने हुए कवि मिर्ज़ा जलाल 'असीर' के कलाम से सनद पेश की, ग़ालिब इसके उत्तर में उन्हें लिखते हैं कि—

"लफ़्ज़े 'बेपीर' तौरानी बच्चा हाय हिन्दी नसराद का तराशा हुआ है जब मैं अशआरे उर्दू में अपने शागिर्दों को नहीं बाँधने देता तो तुमको शेरे फ़ारसी में क्योंकर इजाज़त दूंगा? मीर्ज़ा जाल 'असीर' अलेह रहमत मुख़्तार हैं और उनका कलाम सनद है, मेरी क्या मजाल है कि उनके बाँधे हुए लफ़्ज़ को ग़लत कहूँ। लेकिन तआज्जुब है कि अमीरज़ादाह ईरान ऐसा लिखे।"

इस कथन से स्पष्ट है कि ग़ालिब भाषा के मामले में अपने मत और अपने निर्णय पर विश्वास करते थे। वह हिन्दुस्तानी विद्वान और पंडित ही नहीं बल्कि खुद ईरानियों की बाज़ उन तरकीबों को भी ग़लत समझते थे जो सुबुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के प्रभाव के कारण इनके कलाम में स्थान पा गई थीं।

ग़ालिब अल्फ़ाज़ व तराकीब के इस्तेमाल में भी बड़े शुद्धता-प्रेमी थे। वह स्वयं आमियाना अल्फ़ाज़ और तरकीबें बाँधने से जहाँ तक संभव था गुरेज़ करते थे और अपने शिष्यों को भी यही सुझाव देते थे। इनके पत्रों में बाज़ जगह ऐसे वाक्य मौजूद हैं जिनसे इनके इस दृष्टिकोण को समझने में बहुत अधिक सहायता मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़ता' ने इनकी एक इसलाह के ख़िलाफ़ यह जवाज़ प्रस्तुत किया कि आमतौर पर लोग ऐसा नहीं लिखते, इस पर ग़ालिब ने लिखा—

"देखो फिर तुम दंगा करते हो। वही 'बेश' व 'बेशतर' का क़िस्सा निकला, ग़ल्ती में जम्हूर की पैरवी क्या फ़र्ज़ है?"

इन बयानों से यह परिणाम कदापि नहीं निकालना। चाहिये कि ग़ालिब अपने सिवा सबको ग़लत समझते थे। हाँ वह किसी बात को महज़ इसलिए मानने को आमादह नहीं होते थे कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की सनद मौजूद है। वह वास्तव में 'इन्टेलेक्चुअल' थे और अक़्ल की कसौटी पर पूरी न उतरने वाली चीज़ों को रद्द कर देते थे। परन्तु यदि कभी इनके दावे के ख़िलाफ़ प्रमाण मिल जाता तो अपनी ग़ल्ती को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते।

" 'शिस्त बस्तन' जब 'ज़हूरी' के हाँ है तो बान्धे, ये रोज़मर्राह और हम रोज़मर्राह में उनके पैरों हैं।"

—बनाम मिर्ज़ा 'तफ़ता'

मिर्ज़ा ग़ालिब बाज़ वक़्त इस्लाह के काम से ऊब जाते। मिर्ज़ा 'तफ़ता' बड़े ज़ूदगो थे। एक बार ग़ालिब सख़्त बीमार हो गये, परन्तु ये अपना कलाम भेजते रहे और जल्दी इस्लाह देने का तक़ाज़ा भी किये गए। ग़ालिब ने उन्हें समझाया कि मैं बहुत बीमार हूँ, बैठ भी नहीं सकता, इफ़ाक़ा होने के बाद ही इस्लाह दे सकता हूँ। परन्तु 'तफ़ता' के जोशे-शायरी और तलबे इस्लाह की शिद्दत पर इसका कोई असर न हुआ। ग़ालिब ने तंग आकर उन्हें लिखा कि हाँ मैं अच्छा हूँ तुम कलाम भेजो। वह इस व्यंग्य को न समझे और मासूमियत के साथ ताज़ा कलाम भी भेजा और फिर तक़ाज़ा भी कर बैठे। ग़ालिब के सब्र का पैमाना लबरेज़ हो गया। और उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्ण अन्दाज़ में 'तफ़ता' को यह पत्र लिखा जो उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है!

"···मैंने जो लिखा था कि मैं *अच्छा हूँ*, उसको आप (सच) समझकर ख़ुदा का शुक्र बजा लाए। वह जो मैंने लिखा था कि शिद्दते मर्ज़ का बयान मुबालग़ाए शायराना, उसको भी आपने सच जाना होगा, हालांकि ये दोनों कल्में अज़राहे तज़आमेज़ थे···जब तुमने किसी तरह बयान वाक़ई को बावर न किया, तो मैंने तुम्हें लिख भेजा कि अच्छा हूँ और ये कलमा तुम्हें मैंने जब लिखा है कि अहद कर लिया है कि जब तक दम में दम है और हात में जुम्बिशे क़लम है जब तक मौक़े इस्लाह ख़्याल में आ सकता है, आज जो तुम्हारा दफ़्तर पहुँचेगा, उसको कल रवाना कर दिया करूँगा मुज़-मिलन हाल मेरा ये है कि क़रीब बमर्ग हूँ दोनों हाथों में फोड़े, पाँवों में वरम, न वो अच्छे होते हैं न ये रफ़आ होना है। बैठ नहीं सकता; लेटे-लेटे लिखता हूँ। कल तुम्हारा दो परक़ा आया। आज सुबह को लेटे-लेटे उसको देखकर तुम्हें भिजवाया। ज़न्हार तुम मुझे तन्दुरुस्त समझे जाओ और दफ़्तर के दफ़्तर भेजते रहो, एक दिन से ज़्यादा तवक़ुफ़ न करूँगा। क़रीबे मर्ग हूँ तो बला से!"

ग़ालिब ने मुग़ल बादशाह, विभिन्न नवाबों और अंग्रेज़ अफ़सरों की शान में बहुत से क़सीदे लिखे थे, लेकिन उनके क़सीदे भी बक़ौल ख़ुद उनके दूसरे क़सीदागो कवियों से बिलकुल भिन्न हैं। 'तफ़ता' ने इनसे अपने एक दीवान की तक़रीज़ लिखवाई मगर इसमें इनके कलाम की जितनी तारीफ़ की गई थी उसे इन्होंने कम समझा और ग़ालिब को शिकायती ख़त लिखा। ग़ालिब ने अपने अज़ीज़ शागिर्द का दिल भी रखा यानी इस तक़रीज़ में कुछ तबदीली कर दी और उन्हें अपना ज़ावियाए निगाह भी समझाने की कोशिश की। इस ख़त में उन्होंने दावा किया है कि इनकी मद्दाअसराई का अन्दाज़ क़तई जुदागाना है। अपने दावे के सुबूत में दलीलें देते हुए लिखते हैं—

"···क्या करूँ? अपना शेवा तर्क नहीं किया जा सकता। वह रविश हिन्दुस्तानी फ़ारसी लिखने वालों की मुझको नहीं आती कि बिल्कुल भाटों की तरह बकना शुरू करें। मेरे क़सीदे देखो तो तशबीब के शेर बहुत पाओगे और मदाह के शेर कमतर। नस्र में भी यही हाल है, नवाब मुस्तुफ़ा ख़ाँ के तज़किरे की तक़रीज़ को मुलाहिज़ा करो कि उनकी मदाह कितनी है मिर्ज़ा रहीम उद्दीन बहादुर 'हया' तख़ल्लुस के दीवान के दीबाचे को देखो, वह जो तक़रीज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दीवाने हाफ़िज़' *की बमूजिब* फ़रमाइश जान जाकोब बहादुर के *लिखी* है उसको देखो कि फ़क़त एक बैत में उनका नाम और उनकी मदाह आई है और बाकी सारी नस्र में कुछ और ही मतालिब हैं। वल्लाह अगर किसी शाहज़ादे या अमीरज़ादे के दीवान का दीबाचा लिखता तो उसकी इतनी मदाह न करता जितनी तुम्हारी मदाह की है। हमको और हमारी रविश को अगर पहचानते तो इतनी मदाह को बहुत जानते। किस्सा मुख्तसिर, तुम्हारी खातिर की और एक फ़िक़रा तुम्हारे नाम का बदलकर इसके एवज़ एक फ़िक़रा और लिख दिया है। इससे ज़्यादा, भई, मेरी रविश नहीं। ज़ाहिरातुम खुद फ़िक्र नहीं करते और हज़रात के बहकाने में आ जाते हो। वो साहब तो बेशतर इस नज़्म व नस्र को मोमल कहेंगे। किस वास्ते कि उनके कान इस आवाज़ से आशना नहीं जो लोग कि क़तील को अच्छे लिखने वालों में जानेंगे, वह नज़्म व नस्र की खूबी को क्या पहचानेंगे ?"

अलफ़ाज़, तरकीबों और मुहावरों के इस्तेमाल पर पूरी तरह ग़ौर करना, अपने मुआमले और ग़ौर व फ़िक्र के नतीजे को मुसल्लिमुससुबूत उस्तादों की पैरवी से बरतर समझना, मदाह में भी तारीफ़ के बजाए, 'कुछ और ही मतालिब' पैदा करना, इन लोगों की राय को कोई एहमियत न देना, जो लुग़त की बैसाखी के सहारे के बग़ैर क़दम नहीं उठा सकते, अपनी आवाज़ के 'नाआशना' होने, दूसरों से मुन्फ़रिद होने का एहसास और आम लोगों की पसन्द व नापसन्द से बेनियाज़ी का यह अन्दाज़ 'ग़ालिब' के कलाम में भी जारी व सारी है। ग़ालिब उर्दू के अकेले कवि हैं जिन्हें उनकी ज़िन्दगी ही में नहीं बल्कि उनके मरने के कुछ अर्से बाद तक भी फ़ारसीगो की हैसियत से ज्यादा क़ाबिले ज़िक्र समझा जाता रहा। खुद 'ग़ालिब' का भी यही दावा था। उन्होंने अपने अशआर में जाबजा अपने उर्दू कलाम को फ़ारसी कलाम से बहुत कम दर्जा क़रार दिया है।

ग़ालिब की फ़ारसी भाषा शेरो-अदब से यही वाकफ़ियत उनकी उर्दू शायरी में भी प्रगट हुई। वह अपनी फ़ारसी शायरी पर घमंड करते थे और उर्दू शायरी को कम अहमियत देते थे। आखिरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के उस्ताद ज़ौक से उन्हें मासराना चशमक थी। ज़ौक का सरमाये नाज़ उनका उर्दू कलाम है। ग़ालिब उन्हें तंज़िया अंदाज़ में मुखातिब करते हुए कहते हैं कि मेरी उर्दू शायरी तो मेरे दबिस्ताने सुखन की मुरझाई हुई पत्ती है। अगर कोई रंगारंग नक्श देखना चाहे तो मेरे फ़ारसी कलाम का अध्ययन करे, मेरी उर्दू शायरी तो बेरंग है।

फ़ारसी से इसी लगन की वजह से उनके चौबीस वर्ष तक की उम्र तक के कहे हुए कलाम पर फ़ारसी ज़बान की ऐसी छाप है कि मुझे उसे उर्दू मानने में तकल्लुफ़ है। महाकवि मीर ने 'नुक़ाते शोअरा' में लिखा है कि ऐसे अशआर या ऐसे मिसरे, जिनकी ज़बान फ़ारसी शब्दों पर आधारित हो उन्हें मेआरी उर्दू या मेआरी शायरी नहीं माना जा सकता। मीर के बाद के तज़किरा निगार के यहाँ इस ख्याल से साफ़-साफ़ या बिलवास्ता इत्तिफ़ाक मौजूद है। मीर ने अपने दौर के पहले के कई फारसी शायरों के उर्दू कलाम को इसी कसौटी की बुनियाद पर लचर और ग़ैरफ़सीह क़रार दिया है। मीर के एक और समकालीन और उस्तादेज़माना मुहम्मद रफ़ी सौदा ने भी अपने एक शेर में यही राय दी है। मिर्ज़ा जानेजाना अपने दौर के एक सूफ़ी बुज़ुर्ग जो फ़ारसी और उर्दू के अच्छे शायर थे लेकिन उनकी उर्दू पर फारसी की गहरी छाप थी। सौदा ने इस बयान की आलोचना करते हुए कहा है कि ऐसी शायरी रोड़ा है बाट का। ग़ालिब के चौबीस साल यानी १८२१ ई० तक की शायरी का यही रंग है। उन पर इस वक्त तक फ़ारसी के मशहूर शायर बेदिल का असर था। ग़ालिब इस बात को इस तरह स्वीकार करते हैं :

असद हर जा सुखने तरहे बाग़े ताज़ा डाली है
मुझे रंगे बहारे ईजादी 'बेदिल' पसंद आया।

इस दौर की शायरी में क़सीदे और ग़ज़लें दोनों में फ़ारसी शब्द तरकीबें, बंदिशें ही नहीं बल्कि कई जगह तो मिसरे-के-मिसरे और शेर-के-शेर बिल्कुल फ़ारसी में हैं। कहीं कहीं पूरे मिसरे या शेर में उर्दू का केवल एक शब्द आया है। उदाहरण के लिए एक शेर में लिखते हैं—

मौजे खमयाज़ा यक नशा च स्लाम वच कुफ़्
कि जी यक खते मुस्तर चे तौहम च यकुम
किबलओ अब्रुए बुत यक रहे ख़्वादी शौक
काबओ बुतकदा यक महमिले ख्वाबे संगी

इस दौर की गज़लों में बहुत-सी तरकीबें खालिस फ़ारसी तरकीबें हैं। उदाहरण नवाज़िशे नफसे आश्ना, कमाले बन्दगिये गुल, खमीदन हाये चंग।

ग़ालिब के उर्दू कलाम का यही फ़ारसीपन, यही ग़ैर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्दूपन था जिसकी वजह से उसे पसन्द नहीं किया जाता था। ग़ालिब को इस बात का एहसास था। पहले उन्होंने तरह-तरह से खुद को बहलाने का प्रयत्न किया परन्तु बाद में उन्हें उर्दू वालों के सामने हथियार डालने पड़े। और अपना अन्दाज़े बयान बदलना पड़ा। लेकिन नापसन्द किए जाने का एहसास डसता रहा। आख़िर वे ज़ेहनी कशमकश में मुबतिला हो गये। एक मुक़ाम वह आया जब उनकी समझ में न आता था कि शेर कहें या तर्क कर दें।

मुशकिल है ज़बस कलाम मेरा ऐ दिल
सुन सुन के इसे सुख़नवराने कामिल
आसां कहने की करते हैं फ़रमाइश
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल

आखिर में ग़ालिब ने वही फ़ैसला किया जो उर्दू वाले चाहते थे। इसलिए उन्होंने १८२१ तक के अपने दीवान की तरतीब के वक्त अपने अशआर की बड़ी तादाद निकाल दी। ये वही अशआर थे जिन पर ग़ालिब को घमंड था और जिनके बारे में ग़ालिब का दावा था कि "ज़ाहिल इसे सुनकर मलूल होते" और उन्हें मोहयल करार देते थे। ये तमाम अशआर पेचीदा मज़ामीन और समझ में न आने वाले इस्ते-आरों, तशबीहों और बोझल तरकावों पर मुश्तमिल हैं। यह दीवान 'नुसख़मे हमीदया' के नाम से मशहूर हुआ।

ग़ालिब १८२६ तक अपने इस कलाम की इस्लाह करते रहे। बहुत-सी गज़लें तो इन्होंने रद्द कर ही दी थीं। लेकिन बाज़ गज़लों की इस्लाह की, बहुत से शेर और मिसरे बदले। यही वह ज़माना (१८२१ से १८२६) है जब वे उर्दू के लबो-लहज़े में उसके अपने मुनफरिद शेरी मिज़ाज के मुता-बिक शेर क़हने लगे थे। ग़ालिब के इन्हीं उर्दू अशआर की वजह से आज उन्हें उर्दू का सबसे बड़ा शायर माना जाता है। लेकिन उनके इस मुन्तखिब दीवान पर अब्दुला खाँ ओज ने खुद उनके मुंह पर फ़बती कसी थी कि इन चंद वरक़ों की बिना पर तुम साहिबे-दीवान नहीं बन सकते।

डेढ़ जुज़ पर भी तो है मतलओ मक़्ता ग़ायब।
ग़ालिब आसान नहीं साहिबेदीवाँ होना॥

लेकिन इसी डेढ़ जुज़ को डॉ० अब्दुल रहमान बिजनौरी ने 'इलहामी किताब' करार दिया है। हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' और 'मुकद्दमे शेरो शायरी' में इसकी तारीफ़ की है। और आज तक इक़बाल के सिवा उर्दू के इसी दीवान पर सबसे ज़्यादा किताबें लिखी गयी हैं। उर्दू वाले आलमी अदब के मुक़ाबले अपनी इसी किताब को पेश करते हैं। और यूरोप-अमरीका के उर्दूदाँ भी इस दीवान और इस लेखक के भक्त नज़र आते हैं। आख़िर इस कायापलट का कारण क्या है?

: ३ :

इस परिवर्तन के कारण ग़ालिब के कलाम की रंगारंगी है। दार्शनिक दिमाग़ रखने वाले को इसमें दार्शनिक मुशिगाफ़ियां नज़र आती हैं, आशिक मिज़ाज को हुस्नो इश्क़ की कार-फरमाई पसंद आती है। किसी को सूफी विषयों से लगाव है और कोई ग़ालिब की शोख़ी और व्यंग्य पर जान देता है।

लेकिन ग़ालिब की कविता की सबसे बड़ी मुनफ़रिद विशेषता जोश, उत्साह, उमंग, तड़प, वलवला है। वह ख़्वाहिश-परस्त और ख़्वाहिश-पसंद ही नहीं है बल्कि नाकाम ख़्वाहिशों, नाउम्मीदियों और यासो-हसरत में भी जीवन, सरखुशी-तमन्ना के पहलू और जवाज़ ढूंढ़ निकालता है।

ग़ालिब कहता है कि बहार का मतलब फूलों का खिलना नहीं है। बहार आये तो इस जोश से आये कि गुलाब सरो की बुलन्दी तक पहुँच जाये। उत्साह का हक़ तो जब अदा हो सकता है जब कि प्राकृतिक बंधन समाप्त हो जाएँ। बस्ती में बुलन्दी की शान पैदा हो जाये।

समझ इस फस्ल में कोताहिये नश्शोनुमा ग़ालिब
अगर गुल सरो की कामत पे पैराहन न हो जावे

उसके नज़दीक बहार की कल्पना ऐसी बहार की कल्पना है कि बाग़ की शादाबी, रंगीनी और सनाई से मुरग़ाने चमन मस्त हो जायें। घास और फूलों की हलक इतनी बढ़ जाये कि परिन्दों की बुलन्द परवाज़ी को छूने लगे और उनसे न आराम से बैठा जाय न उड़ा जाय।

है जोशे गुल बहार में यां तक कि हर तरफ़
उड़ते हुए उलझते हैं मुर्ग़े चमन के पांव

ग़ालिब हुसूल मक़सद से अधिक प्रयत्न को अधिक प्रिय रखता है। आरज़ुओं और उम्मीदों की प्राप्ति की कशमकश और जदोजेहद उसे सरमस्ती के आलम में ले जाती है। इस आलम-बेखुदी में वह सरशारी और कैफ़ होता है कि लोक-परलोक से बेख़बर हो जाता है।

अजब निशात से जल्लाद के चले हैं हम आगे
कि अपने साये से सर पांव से है दो क़दम आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ुदा के वास्ते दाद इस जुनूने शौक़ की देना
कि इसके दरपे पहुँचते हैं नामाबर से हम आगे

बहार के जलवे से यही दिलबस्तगी इसके रोम-रोम में समा गयी है और इसे महबूब के नकशे-कदम में फ़िरदौस का आलम दिखाई पड़ता है।

जहाँ तेरा नक़्शे क़दम देखते हैं
ख्याबाँ-ख्याबाँ अरम देखते हैं

महबूब मुजस्सिम स्वर्ग बन गया है और रास्ते के धूल में फूलों का जलवा नज़र आता है।

ये किस बेहशते शमायद की आमद आमद है
कि नहीरे जलवये गुल, रह गुज़र में ख़ाक नहीं

इस मुजस्सिम स्वर्ग की कल्पना में अगर मनुष्य मर जाये तो उसकी क़ब्र की मिट्टी भी फूलों की सेज बन जायेगी। गोया शौक का वफ़ूर और कल्पना की उड़ान हर तकलीफ़ को आराम बना सकती है।

बस कि हैं हम एक बहारे नाज़ के मारे हुए
जलवये गुल के सिवा गर्द अपने मदफ़न में नहीं।

ग़ालिब की कल्पनात्मक दुनिया में हर प्राकृतिक वस्तु बदल गयी है। शराब इसके यहाँ जज़ेब का मुतरादिफ़ है। यह वह चीज़ है कि मिट्टी में जान डाल दे, अचल को चल कर दे और ख़ाक को आसमान की तरफ़, पस्ती को बुलन्दी तक उठना सिखा दे :

हैं बसकि जोशे बादह से शीशे उछल रहे
हर गोशये बिसात है सर शीशा बाज़ का।
देख कर तुझको चमन बसकि नमू करता है
ख़ुद ब ख़ुद पहुँचे हैं गुल गोशये दस्तार के पास।

तड़प और जोशे-जुनू ऐसी चीज़ है कि दर-दीवार नाचने लगे, दर दीवार और दीवार दर बन जाये, मुर्दे में जान पड़ जाये और उमंग एवं मस्ती के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहे—

हुई है किस कदर अर्ज़ानिए मय जलवा
कि मस्त है तेरी कूचे में हर दरो-दीवार।
न पूछ बेख़ुदिये ऐश मुक़द्दम सैलाव
कि नाचते हैं पड़े सर-बसर दरो-दीवार।

शरीर को प्राण, अचल को चल और मृतक को जीवित कर देने का यह रहस्य मनुष्य की लगन, इस शौक़ के असीम होने से उत्पन्न होती है। प्रकृति-विजय का यह हौसला और पदार्थ को बदल डालने का यह विश्वास ग़ालिब के काव्य की मुख्य विशेषता है—

बला से हैं जो ब पेशे नज़र दरो-दीवार
निगाहे शौक़ को हैं बालों पर दरो-दीवार।

अनुभूति की यह अधिकता ग़ालिब को चैन से नहीं बैठने देती। वे निश्चित समस्याओं पर फिर से विचार करना चाहते हैं। फ़ैसलों का पुनर्निरीक्षण करना चाहते हैं। सफलता की आशा न होने पर भी प्रयत्न करना चाहते हैं—संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का यह संगम बड़े भरपूर अन्दाज़ में प्रकट हुआ है। वे कहते हैं कि आख़िर हम किसी परम्परागत कथन को पूर्ण सत्य क्यों मान लें? जीवन जो नयी संभावना के क्षितिजों का उद्घाटन कर रहा है। इन्हें अपना आधार क्यों न बनायें!

अपना नहीं वो शेवा कि आराम से बैठें
इस दर पै नहीं बार तो काबा ही को हो आयें।

× × ×

क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले एक-सा जवाब
आओ न हम भी सैरे कोहेनूर को चलें।

आकांक्षाओं और अपूर्ण आशाओं, अपूर्ण अरमानों को वे निराशा, अनास्था और कुण्ठा से अच्छा समझते हैं। क्योंकि राख में शोले न हों मगर चिनगारियाँ तो होती हैं—गर्द में तो कुछ भी नहीं होता। यह 'कुछ' 'सब' का जवाब नहीं मगर 'नहीं' से श्रेष्ठ है। जीवन मृत्यु की अपेक्षा आदरणीय है।

आता है दाग़े हसरते दिल का शुमार याद,
मुझसे मेरे गुनाह का हिसाब ख़ुदा न माँग।

× × ×

मानए दश्त नवर्दी कोई तदबीर नहीं,
एक चक्कर है मेरे पाँव में जंज़ीर नहीं।

× × ×

उस लब से मिल ही जायेगा बोसा कभी तो हाँ
शौक़े, फ़ुसूलो, जुर्रते-रिन्दाना चाहिए।

अनुभूतिहीन को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है। जिसे यह विश्व, इसके दृश्य, दुनिया की भोग्य वस्तुएं और कष्ट प्रभावित नहीं करते, वे व्यक्ति आत्महत्या कर लें तो अच्छा है, क्योंकि पत्थर की भाँति जीवन व्यतीत करने से मृत्यु की वेदना और कष्ट उठाना अधिक आनन्दकर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ंजर से चीर सीना, अगर दिल न हो दो नीम
दिल में छुरी चुभो मिर्ज़ा गर ख़ूचकर नहीं।

ग़ालिब का यही जोश, भावना और उमंग इसे दुनिया के आनन्द से भरपूर जोखिम उठाने को उत्साहित करता है। वे उर्दू के एकमात्र शायर हैं, जिसने रूप और आनन्द की आकांक्षा को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। मीर ग़ालिब से बड़ा शायर है। मीर का काव्य ग़ालिब की अपेक्षा कई गुना अधिक है। लेकिन मीर के काव्य में अपने-आपकी अधिक चर्चा है। इच्छा और उमंग मीर के यहाँ भी है लेकिन दुनियादारी नहीं है, इसलिए मीर को ग़ालिब से कम महत्त्व मिला। यह सौ वर्ष में या वर्तमान युग में ग़ालिब जिन लोगों का प्रिय रहा, वे भी इसकी तरह अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के लोग रहे हैं। ग़ालिब को ऐसे तमाम लोगों ने पसन्द किया है जो दुनिया के पीछे बेतहाशा भागे हैं। जिन्होंने अवसरवाद, खूबसूरत फ़रेबी, किसी भी माध्यम से प्रतिष्ठा और ख्याति अर्जित करने की खातिर अपने आदर्शों का बलिदान किया है। ऐसे लोग ग़ालिब में अपने अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व को पूर्ण होता देखते हैं और इन्हें ग़ालिब में अपनी कमज़ोरियों का समाधान मिलता है। ग़ालिब को पसन्द करने और सराहने में चेतन एवं अवचेतन अथवा अर्द्धचेतन रूप में आन्तरिक, हार्दिक, मानसिक एवं दृष्टि की शान्ति मिलती है।

ग़ालिब भावना की सन्तुष्टि और आनन्द की प्राप्ति की इच्छा बड़े कलात्मक रूप में व्यक्त करते हैं। ग़ालिब की शैली में लखनवी शायरों यथा—इन्शाअल्ला खाँ 'इन्शा' और कलन्दर बख्श ज़ुरायद की तरह नारी के अंगों तक ही सीमित नहीं रहती। लखनऊ के शायरों की तरह कंघी, चोटी, अंगिया, कुर्ती या गाल, छाती, नाभि, कमर और पिंडली में ग़ालिब खो नहीं जाता। इसको हसीन लिबास या शरीर के भागों से सेक्स-सन्तोष नहीं होता। ग़ालिब शरीर के हिस्सों को अलग-अलग नहीं बाँटता बल्कि वह उसे एक सम्पूर्ण इकाई समझता है। और इस इकाई से पूर्णरूपेण आनन्द उठाना चाहता है।

ग़ालिब ने एक लम्बी ग़ज़ल में अपनी सेक्स की माँग और आनन्द-प्राप्ति की इच्छा को बड़े साहस के साथ स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। तनहाई हो, शराब हो, हुस्न श्रृंगार किये हुए हो, आशिक भी नशे में हो और हसीना भी नशे के आलम में हो कि, शराब पीने के कारण उसका चेहरा उपवन की तरह रंगीन हो जाता है :

मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किये हुए
जोशे-क़दह से बज़्मे चिराग़ाँ किये हुए
माँगे हैं फिर किसी को लबे बाम पर हवस
जुल्फ़े सियाह रू पे परेशाँ किये हुए।
चाहे है फिर किसी को मुकाबिल पे आरज़ू
सर मय से तेज़ दश्नए मिज़गाँ किये हुए।
एक नौ बहारे नाज़ को ताके हैं फिर निगाह
चेहरा फरोग़े मय से गुलिस्ताँ किये हुए।

ग़ालिब ने एक स्थान पर और कहा है कि इश्क़-मुहब्बत पूजने का नाम नहीं है। यह भावना आध्यात्मिक नहीं है, यह तो शरीर की भूख को व्यक्त करने का एक रास्ता है। उर्दू के किसी शायर ने शरीर की इस भूख को इस प्रकार नहीं बिखराया है और न ऐसा दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है। अपनी शारीरिक इच्छाओं को दार्शनिक रूप देना और इश्क को केवल आध्यात्मिक समझने वालों का इस प्रकार खुले रूप में उपहास करना ग़ालिब के ही बूते की बात है :

ख्वाहिश को अहमकों ने परस्तिश दिया करार।
क्या पूजता हूँ उस बुते बेदादगर को मैं।

ग़ालिब की स्पष्टवादिता सीमाहीन है वह अपने महबूब से भी दोटूक कह सकता है कि मुहब्बत वियोग में सुलगने का नाम नहीं है। यह तुम्हारी अदाओं का नाम भी नहीं है बल्कि शरीरों के संयोगों का नाम भी नहीं है। इस अनुभूति की पूर्ति दूरी से नहीं बल्कि शारीरिक सान्निध्य से ही हो सकती है—

गुंचए नाग़ुग़ुप्ता को दूर से मत दिखा कि यूं
बोसे को पूछता हूँ मैं मुँह से मुझे बता कि यूं।

× × ×

हमसे खुल जाओ बवक़्ते-मयपरस्ती एक दिन
वरना हम छेड़ेंगे रखकर उजरेमस्ती एक दिन।

× × ×

बोसा देते नहीं और दिल पे है हर लहज़ा निगाह
जी में कहते हैं कि मुफ़्त आये तो माल अच्छा है।

ग़ालिब सौंदर्य से आनन्द भी उठाता है और उसके पदार्थ पर भी सोचता है। इस प्रकार वह भोग और आनन्द में दार्शनिकता मिला देता है। ग़ालिब की इसी अदा पर दुनियादार जान देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही वह अन्दाज है जो इन्हें अपनी शारीरिक भूख पर पर्दे डालने में मदद देता है।

ये परी चेहरा लोग कैसे हैं
ग़म जओ, असबओ अदा क्या है।
शिकने जुल्फ़े अम्बरी क्यों है
निगहे चश्मे सुरमा सा क्या है।

ग़ालिब का यह आनन्द का स्वरूप वह अन्दाज़ है, जो दुनियादार और अवसरवादियों को उनकी भोग प्रवृत्ति से इनकार करवाकर भी दुनिया से चिपटे रहने के प्रयास में सहारा देता है। ये लोग भोगवृत्ति पर गर्व और उसकी बिना झिझक अभिव्यक्ति ग़ालिब से सीखते हैं—

बोसा नहीं न दीजिए दुश्नाम ही सही
आखिर जुबां तो रखते हो तुम गर दहां नहीं

×

गो हाथ को जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है
रहने दो अभी साग़रो मीना मेरे आगे।

ग़ालिब का यही ज्ञान, बौद्धिक उपज, अनुभूति, हार्दिक और बौद्धिक अन्तर्विरोध हैं, जिन्होंने इसे इतना लोकप्रिय किया है और इसके अनुकरण की बराबर कोशिश की गई है लेकिन वह हर बात में एकदम अलग था। उसके अनुकरण में भी कोई सफल नहीं हो सका।

अनुवाद : असग़र वजाहत
सुहेला नश्तर

१. "मकातबे ग़ालिब" मुर्तब्बा : अर्शी।
२. मियाँ अन्ज़ "फ़रहंगे जहाँगीरी" शेख़ रशीद शाक़िम "फ़रहंगे रशीद" अज़माइ अज्म में से नहीं। हिन्द उनका मोलिद, माख़ूज उनका अशआरे क़दमा, हादी उनका क़ियास, टेकचन्द और स्यालकोटिमल उनके पेरो।
—"मकातीबे ग़ालिब" मुर्तबा : अर्शी-८३
३. ...ये लोग (ख़लीफ़ा शाह मोहम्मद और माधूराम, ग़नीमत एवं क़तील) राहे सुखन के ग़ोल हैं, आदमी के गुमराह करने वाले, ये फ़ारसी को क्या जाने, हाँ तबाए मोज़ं रखते थे, शेर कहते थे।
—"ख़तूते ग़ालिब", मुर्तब्बा महेशप्रशाद ११६
४. "ख़ुतूते ग़ालिब", मुर्तब्बा "महर" ३२७-३२८।
५. "मेहर" ३२८।
६. उर्दूए मुअल्ला ११०।
७. मुन्शी हरगोपाल 'तफ़ता' 'ग़ालिब' के अज़ीज़तरीन शिष्यों में सम्मिलित थे। ग़ालिब उन्हें प्रेम में 'मिर्ज़ा तफ़ता' कहा करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब

विश्वनाथ त्रिपाठी

ग़ालिब के यहाँ बातों को उलझा-उलझाकर इस तरह पेश किया जाता है कि शायरी से गहरा लगाव न रखने वाला थोड़ी ही देर में "मगर इनका कहा ये आप समझें या ख़ुदा समझे" से सहमत होकर बेहतर और ज्यादा ज़रूरी कामों में लग जाएगा। इस उलझाव का सबसे ज्यादा फ़ायदा मिर्ज़ा ग़ालिब (कवि) को हुआ है। उनकी शायरी समझदार प्रशंसकों को ही अपनी तरफ़ खींचती है। ग़ालिब के दिल का रास्ता उसके दिमाग़ से होकर गुज़रता है, और उनका दिमाग़ एक बीहड़ जंगल है, जिसमें रास्ता पाने के लिए टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चलना पड़ता है। ग़ालिब ने अपना व्यक्तित्व, जोकि उनके काव्य का स्रोत है, निहायत हिफ़ाजत से छिपा रखा है। और उसकी भी मिर्ज़ा को कसक है :

खुलता किसी पे क्यों, मिरे दिल का मुआमलः
शेरों के इन्तिखाब ने रुस्वा किया मुझे।

मिर्ज़ा ग़ालिब बहुत बड़े शायर हैं। लेकिन उर्दू का शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो शायरी से इतना बेनियाज़ हो। यह बात बिलकुल उलटी लगती है। लेकिन हिन्दी कविता के पाठक भक्त कवियों को याद कर लें तो बात साफ़ हो जाए। तुलसीदास ने कभी भी कवि-कर्म को गौरव नहीं दिया। मिर्ज़ा ग़ालिब भी कवित्व से अपना लगाव एक झटके में तोड़ सकने की सामर्थ्य रखते थे और सिपाही के पेशे पर नाज़ फ़रमा सकते थे—

कुछ शायरी जरीअए इज्जत नहीं मुझे

शहर में अपनी आबरू की हकीकत समझने वाले ग़ालिब शाइरी की भी हकीकत समझते थे।

शाइरी के बारे में मिर्ज़ा ने अपने विचार पत्रों में भी व्यक्त किए हैं। मुंशी हरगोपाल तफ़्ता को लिखते हैं—"मैंने कब कहा था कि तुम्हारा कलाम अच्छा नहीं। मैंने कब कहा था कि दुनिया में कोई सुखन-फहम कद्रदां न होगा। मगर बात ये है कि तुम मश्के सुखन कर रहे हो और मैं मश्केफ़ना में मुस्तगर्क़ हूँ। बूअली सीना के इल्म को और नज़ीरी के शेर को ज़ाया और बेफ़ायदा और मौहूम समझता हूँ। ज़ीस्त बसर करने को कुछ थोड़ी-सी राहत दरकार है और बाकी हिकमत और सल्तनत और शायरी और साहरी सब ख़ुराफ़ात है।" उनकी कविता पढ़कर लगता है कि वे ज़िन्दगी भर ज़िन्दगी की जटिल समस्याओं से उलझते रहे। क़िस्मत ने उन्हें ज़िन्दगी भी ऐसी ही बख्शी थी कि समस्याओं को सुलझाने में उनकी मदद को कोई न आया। जीवन की क्रूरतम भौतिक और घटनागत विडम्बनाएँ उन्हें झेलनी पड़ीं। ख़ुदा शायद दूसरों के लिए तो था ग़ालिब के लिए नहीं था। वह औरों की मदद के लिए तो आया ग़ालिब की मदद के लिए एक बार भी नहीं आया। उन्हें ज़िन्दगी की मुसीबतों से उम्र भर तनहा लड़ना पड़ा। यहाँ ग़ालिब की निराशा के पीछे उनके जीवन की असफलताओं और हृदय-विदारक घटनाओं पर एक निगाह डाल लेना ज़रूरी है। "पाँच वर्ष की आयु में बाप का और आठ-नौ वर्ष की आयु में चचा का साया सर से उठ गया। एक सम्पन्न ननिहाल में माँ के बेरंग आंचल के नीचे बचपन व्यतीत किया और आरंभिक युवावस्था की चन्दरोज़ा फ़ुरसते गुनाह के बदले उम्र भर की असफलता, विफलता, उत्ताप और जलन मिली। अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु से जीवन की निर्ममताओं का सामना करने के लिए अकेले मैदान में उतरना पड़ा। आय का कोई साधन नहीं था। बाप और चचा की मृत्यु के बाद जो जागीर पालन-पोषण के लिए थी अधिकांश लोग खा गए और ग़ालिब उम्र भर हाथों में अर्ज़ियां और कसीदे लिए हुए देहली, लखनऊ, कलकत्ता, कानपुर दर-बदर ठोकरें खाता फिरा, अयोग्य धनवानों और अंग्रेज़ अफ़सरों की झूठी प्रशंसा में हृदय-रक्त उगला और उसके बाद भी कर्ज़ की शराब पी और भीख पर ज़िन्दगी गुज़ारी। मरते समय भी यह कटु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति साथ थी कि विधवा पत्नी पर ग़रीबी और निर्धनता में क्या बीतेगी। यह भी हुआ कि ऋणदाताओं की नालिश और डिग्रियों के डर से घर में छिपकर बैठना पड़ा और किसी शत्रु के षड्यंत्र से जुए की लत में कैदखाने का अपमान सहना पड़ा। मुगल दरबार में वह आदर पद भी न मिला जो निम्नतर कोटि के कवियों को प्राप्त हो रहा था और आयु के अन्तिम चरण में एक बौद्धिक वाद-विवाद के अपराध में बरसों माँ-बहन की गालियाँ खानी पड़ीं। युवावस्था में युवती प्रेयसी का जनाज़ा आँखों के सामने उठ गया। घर में बच्चों के खेल-कूद के बजाय उनकी लाशें नज़र आईं। जिस भाँजे को गोद लिया था वह जवान मर गया। बन्धु-बांधव आँखों के सामने कत्ल हुए।" सरदार जाफ़री के इस कथन में निरी घटनाओं और तथ्यों का उल्लेख मात्र किया गया है, मिर्ज़ा के साथ यह सब हुआ था।

जीवन को निस्सार धनी भी कहते हैं और गरीब भी—सुखी भी और दुखी भी। जीवन के दुखों पर एक पृष्ठ सचित्र साप्ताहिकों में भी अध्यात्म-चर्चा के कालम में रहता है। लेकिन दुख और दुख में अन्तर होता है। सारी सुख-सुविधाओं में सड़ने वाले व्यक्ति का दुःख अपच और अजीर्ण का दुख है और जीवन के अभावों से जूझते रहने वाले आदमी का दुःख भूखे का दुःख है। जीवन निरर्थक सुखी-दुखी दोनों के लिए हो सकता है किन्तु विभिन्न कारणों से। कारणों की विभिन्नता को रेखांकित करके समझना ज़रूरी है। इसीलिए अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए जीवन यदि एक स्तर पर निरर्थक है तो दूसरे स्तर पर कई गुना सार्थक भी। जीवन उसके लिए निरर्थक रहा किन्तु जीवन के प्रति उसकी लालसा अपार होती है। ग़ालिब के यहाँ यह लालसा मिलती है। जो ग़ालिब के कलाम में अभिव्यक्त जीवन की निरर्थकता और सार्थकता के इस परस्पर-विरोध को निराशा और लालसा के इस साहचर्य को नहीं देख पाते वे इस शेर को क्या समझेंगे—

तेरे वादे पर जिए हम तो यह जान झूठ जाना
कि खुशी से मर न जाते अगर एतबार होता

ग़ालिब की निराशा के पीछे ग़ालिब की असफलताएँ हैं—इन्हीं असफलताओं ने उन्हें चीज़ों को शक की निगाह से देखना सिखाया है। उनकी महानता इस बात में है कि घोर असफलताओं और निराशाओं ने न तो उन्हें तोड़ा न विक्षिप्त बनाया—बल्कि सन्देह करने की दृष्टि देकर मोह-मुक्त किया और बुद्धि पर भरोसा करना सिखाया। ग़ालिब जिस युग में पैदा हुए थे उसे समाज-शास्त्री क्षयिष्णु युग कहते हैं—अधिकांश उर्दू साहित्य पर यह क्षयिष्णुता घिरी हुई है। ग़ालिब के यहाँ उनकी ज़िन्दगी और ज़माने का बिखराव है किन्तु सस्ती भावुकता कहीं नहीं है। वे अपने ज़माने पर ही नहीं दुःख और भावुकता पर भी व्यंग्य कर सकते हैं। दुःख पर व्यंग्य कर सकने की सामर्थ्य उसी में होती है जिसका दुख सजीव होता है। भावुकता एक सीमा तक चलकर थक जाती है, स्थितियों की पीड़ा का निरन्तर बोध बुद्धि बनाए रखती है। ग़ालिब के यहाँ थककर सो जाने वाली भावुकता नहीं, पीड़ा को जगाए रखने वाली मोह-मुक्त बुद्धि है। इसी लिए वे ज़िन्दगी, प्रतिष्ठा, मज़हब, जन्नत और शायरी सबकी हक़ीकत पहचानते हैं। इसीलिए उनकी शम्मा हर रंग में सहर तक जल सकती है. यानी उनकी पीड़ा चुकती नहीं। आप अब यह भी ग़ौर फ़रमा सकते हैं कि ग़ालिब ने ज़ौक़ के मिसरे "मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे" की दाद क्यों दी होगी। यह ज़ौक़ का लिखा हुआ ग़ालिब का मिसरा है।

ग़ालिब के पत्रों में ग़ालिब की सहृदयता, परदुखकातरता, गहरी संवेदना के पर्याप्त और स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनके पत्र, जिनमें उनके जीवन की सच्ची झाँकियाँ मिलती हैं, उनकी कविताओं की कुंजी हैं। अपने मित्रों से उनका कितना गहरा लगाव था, दूसरों की तकलीफ़ उन्हें कितना द्रवित कर सकती थी, इसका पता हमें उनके पत्रों से लग जाता है। एक खत में लिखते हैं—"जिस शहर में रहूँ उस शहर में तो भूखा-नंगा नज़र न आए। खुदा का कोपभाजन, ख़ल्क का मरदूद, बूढ़ा नातवान, बीमार, फ़कीर, दरिद्रता में गिरफ्तार मेरे और मुआमिलात-ए-कलाम-ओ-कमाल से कत्-ए-नज़र करो। वह जो किसी को भीख माँगते न देख सके और खुद-दर-बदर भीख माँगे वह मैं हूँ।" वही व्यंग्य, गहरी पीड़ा की तीव्र अनुभूति और पीड़ा को चीरकर जीवन के वरदानों को प्राप्त करने की अदम्य लालसा यहाँ भी है। यानी मिर्ज़ा खुद दर-ब-दर भीख माँगने की हालत में रहते हुए भी किसी को भीख माँगते न देख सकने की लालसा हृदय में सँजोए हैं। यह वही मिर्ज़ा हैं जो नवाब रामपुर को खतों में अपने को 'खुशनूदी का ग़ालिब' 'इनायत का ग़ालिब' लिखते हैं और "तुम सलामत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहो हज़ार बरस । हर बरस के हों दिन पचास हज़ार" लिखते हैं । अन्य कवि इतने पर शायरी और स्वाभिमान की हक़ीक़त न समझें, शायरी को ज़िन्दगी की कटुता से अलग-थलग रख-कर गुलो-बुलबुल की दुनिया तक सीमित रखें तो रखें, मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसों में न थे ।

'ख़ुदा' और 'जन्नत' के बारे में ग़ालिब की जो धारणा उनके कलाम में व्यक्त हुई है, उस पर ध्यान देने की ज़रूरत है । 'ख़ुदा' से सम्बन्धित एक शेर खुद ग़ालिब को निहायत पसन्द था, मुंशी हरगोपाल 'तफ़्ता' को एक खत में उन्होंने लिखा था—"मेरा हाल इस फ़न में अब ये है कि शेर कहने की रविश और अगले कहे हुए अशआर—सब भूल गया । मगर, हाँ, अपने हिन्दी कलाम में से डेढ़ शेर याने एक मकता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाह-गाह जब दिल उलटने लगता है, तब दस-पाँच बार ये मकता ज़बान पर आ जाता है :

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे के ख़ुदा रखते थे ।

ज़िन्दगी की कटुता और अनवरत असफलताओं ने ग़ालिब को यह कहने पर विवश कर दिया था कि ख़ुदा उनसे विमुख रहा । आज से सौ साल पहले मरने वाले ग़ालिब ख़ुदा की शान के खिलाफ इससे ज़्यादा और कुछ नहीं कह सकते थे ।

ख़ुदा के ही बारे में ग़ालिब का एक और शेर भी विचारणीय है :

न था कुछ, तो ख़ुदा था, कुछ न होता, तो ख़ुदा होता
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता

इस शेर को मारफ़त और तसव्वुफ़ का शेर कहा और समझा जाता है । बड़ी-बड़ी बारीकियाँ निकाली जाती हैं इस शेर में । लेकिन एक भाव जो इस शेर में साफ़ है, वह यह कि ख़ुदा के होने की स्थिति कुछ न होने पर ही दिखलाई पड़ती है । पहले मिसरे को देखिये, ख़ुदा कब था—जब कुछ न था, ख़ुदा कब होता । जब कुछ न होता । अब जबकि ग़ालिब है तो ख़ुदा कहाँ है । पहले मिसरे की रोशनी में जवाब होना चाहिए कि 'नहीं है', यानी ख़ुदा और कुछ (जिसमें ग़ालिब की भी स्थिति शामिल है) की स्थिति साथ-साथ नहीं है । मेरा अभिप्राय यह सिद्ध करना नहीं है कि ग़ालिब नास्तिक थे, नास्तिक वे हो ही नहीं सकते थे । मज़हबी एतबार से उन्होंने ईश्वर का अस्तित्व कभी अस्वीकार नहीं किया । हाँ, वे ख़ुदा से मोहमुक्त अवश्य हो चुके थे ।

ख़ुदा के बारे में ग़ैर-ज़िम्मेदाराना ढंग से कहने के खतरे थे । इसके अलावा आख़िरकार ग़ालिब अपने युग की सीमाओं को एक सीमा तक ही लाँघ सकते थे । लेकिन जन्नत के बारे में न कोई ऐसा ख़तरा था न कोई अन्देशा । ग़ालिब ने ख़ुदा को तो थोड़ा-बहुत बख्श दिया, लेकिन उसके साम्राज्य जन्नत को तो पूरी तरह ध्वस्त कर दिया । उन्होंने साफ कहा :

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन
दिल को ख़ुश रखने का ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है ।

'जन्नत' का ख़याल उसका दिल कैसे ख़ुश रख सकता है जो जानता है कि यह दिल ख़ुश रखने का ख़याल है । दूसरे मिसरे में 'अच्छा ख़याल' का सीधा मतलब 'महज़ ख़याल' है, अवास्तविक है ।

'जन्नत' पर कहा गया मिर्ज़ा का एक और शेर भी विचारणीय है :

सुनते हैं जो बहिश्त की तारीफ़ सब दुरुस्त
लेकिन ख़ुदा करे वो तेरी जल्वागाह हो ।

पहले मिसरे के 'तारीफ़ सब दुरुस्त' का मतलब है 'तारीफ़ सब ग़लत' । 'दुरुस्त' का मतलब नाकाफ़ी या 'अनाकर्षक' भी हो सकता है । दरसल 'दुरुस्त' के अर्थ दुरुस्त, नाकाफ़ी, अना-कर्षक—तीनों हैं ।

मैं पहले मिसरे का अर्थ यों समझता हूँ, बहिश्त की जो तारीफ मामूली, सीधे-सादे या नासमझ लोग करते हैं, वो इनके लिए तो दुरुस्त होगी लेकिन मिर्ज़ा के लिए उन विशेष-ताओं से मुक्त जन्नत अपूर्ण और अनाकर्षक है । वस्तुतः 'दुरुस्त' का अर्थ यों है । दुरुस्त = दुरुस्त × अपूर्ण × अना-कर्षक । आगे भी देखिए—जन्नत या बहिश्त ख़ुदा की बनाई या यों कहिए सजाई हुई जगह है, और उसको 'दुरुस्त' कहते हुए ग़ालिब ख़ुदा से ही प्रार्थना करते हैं कि वह जगह उनके प्रिय की जल्वागाह हो तो उनका मन रमे । काशी में अपने आदरणीय मित्र केदारनाथ सिंह से एक शब्द सुना था 'काम्प्लेक्स डिलाइट' (मिश्रित भावाभिव्यक्ति का आनन्द) । यह बहुत 'काम्प्लेक्स डिलाइट' ग़ालिब की रचना में मिलती है, यह उनकी रचनाओं की विशेषता है । सम्भवतः इसीलिए उनकी पंक्तियों के विभिन्न अर्थ किए जाते हैं । लेकिन मुझे लगता है कि ऐसी रचनाओं में जिन अर्थों की विभिन्नता कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है वे सब मिलकर एक प्रमुख अर्थ की रचना करते हैं। सूरदास की एक पंक्ति 'नंद ब्रज लीजो ठोंकि बजाय' में ही 'ठोंकि बजाय' में जो विभिन्न भाव-छायाएँ अभिव्यक्त हुई हैं उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भाव पंचामृत' कहा है। अस्तु—

बहिश्त की 'दुरुस्तगी' से घबड़ाकर ग़ालिब ने कहा होगा

क्यों न फिरदौस में दोजख को मिला लें यारब
सैर के वास्ते थोड़ी सी फ़िज़ा और सही

ग़ौर करने की बात है कि दोज़ख की थोड़ी-सी और फ़िज़ा सैर के लिए है। ज़ाहिर है कि लाखों बरस की हूरें बहुत जल्द 'अजीरन' हो जाएँगी—इसे मिर्ज़ा जानते थे और फिर सैर करने के लिए अपनी असल जगह पर आ जाने का बन्दोबस्त करना चाहते थे। यह उन्हीं का मिसरा है न—

काफ़िर हूँ गर न मिलती हो राहत अज़ाब में।

मतलब यह कि ग़ालिब ऐसे शायर हैं जिनकी आस्था खुदा, जन्नत, शाइरी सबसे डिगी हुई है—उनकी शाइरी में उनकी इसी डिगी हुई आस्था को वाणी मिली है। आस्था का यह डिगना ही उनकी मोह-मुक्ति का कारण है। ज़िन्दगी तल्ख़ और खुदा, आक़बत, शाइरी सबसे मोह-भंग—इस स्थिति ने ग़ालिब में एक अजीब 'सिनिसिज़्म' पैदा कर दिया है। वे अच्छी-से-अच्छी स्थिति की कल्पना करते हैं और उसे अपनी सर्वदाही संदिग्ध दृष्टि से ध्वस्त कर देते हैं। इस कथन के उदाहरण में अनेक पंक्तियाँ पेश करना चाहूँगा :

अगर और जीते रहते येही इन्तजार होता।

घर हमारा जो न रोते भी तो बीरां होता
बह्र गर बहर न होता तो बयाबां होता।।

तंगिए दिल का गिला क्या, ये वो काफ़िर दिल है
कि अगर तंग न होता तो परीशां होता।

प्रिय से मिलन की स्थिति कितनी सुखद होती है। और ग़ालिब का माशूक भी असाधारण रूप से कृपालु है लेकिन ग़ालिब का सन्देह इस सुखद मिलन को भी चौपट करके रख देता है :—

सोहबत में ग़ैर की न पड़ी हो कहीं ये ख़ू
देने लगा है बोसा बिग़ैर इल्तिजा किए।

या कि भरा हुआ जाम सामने पाकर भी वे सोचने लगते हैं :

साक़ी ने कुछ मिला न दिया हो शराब में

यों ग़ालिब को 'होता' रदीफ़ से बहुत प्यार है। ग़ालिब ने अपने बारे में खुद कहा है कि लोगों को उनका 'वो हर इक बात पर कहना कि यूँ होता तो क्या होता' याद आता है (आएगा) यह 'रदीफ़' ग़ालिब के स्वभाव का 'सिनीसिज़्म' तो ज़ाहिर ही करता है, एक दमघोंटू वातावरण को चीरकर एक सुखद वातावरण की सृष्टि की कल्पना शक्ति और लालसा का भी संकेत देता है। ग़ालिब ने अपार निराशा से अपने को दो साधनों से सुरक्षित रखा है, व्यंग्य से और अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा से।

ग़ालिब व्यंग्य एक ख़ास अन्दाज़ से करते हैं। उनका व्यंग्य विरोध-संधि पर आधारित होता है। ग़ालिब के यहाँ खुशी अक्सर ग़म के पेट में से निकलती है। ग़म और खुशी दोनों विरोधी भाव हैं लेकिन ग़ालिब के यहाँ वे एक साथ नहीं, एक-दूसरे से आलिंगनबद्ध या कारण-कार्य रूप में मिलें और आपका ध्यान न ग़म पर जाएगा न खुशी पर बल्कि ग़म और खुशी के विरोध-साम्य पर अटका रहेगा। बात यह है कि कष्टों ने ग़ालिब को अपनी सीमा भी बता दी है। कष्टों की सीमा उनकी समाप्ति भी है। ज्ञान की अग्नि कष्टों को भी जलाती है।

जिस चीज़ पर हमारा बस नहीं उसे हम स्वीकार कर लेते हैं। ग़ालिब के इस स्वीकार में दुःख-सुख और स्वीकृति की अनिवार्यता का व्यंग्य मौजूद होता है :

कफ़स में मुझसे रूदादे चमन कहते न डर हमदम
गिरी है जिसपे कल बिजली वो मेरा आशियाँ क्यों हो

दूसरे मिसरे के 'क्यों हो' में अपने आशियाने पर है बिजली गिरने की अनिवार्यता की स्वीकृति, उस अनिवार्यता से उत्पन्न अनुद्विग्नता यानी सुकूते-यास है। ये समूची भाव सरणि यानी नियति की क्रूरता की अनिवार्यता उसकी स्वीकृति और अनुद्विग्नता एक-दूसरे से मिलकर ग़ालिब को अपने से ही अलग करके तटस्थ बना देते हैं और फिर अपने पर ही व्यंग्य करने की क्षमता प्रदान करते हैं। ग़ालिब का ऐसा द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व यानी उनके ही व्यक्तित्व से तटस्थ एक और व्यक्ति इन पंक्तियों में भी प्रकट हुआ है :—

हम भी दुश्मन तो नहीं हैं अपने
ग़ैर को तुझसे मुहब्बत ही सही।

उनकी अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा इन जैसे शे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्यक्त हुई है :

है कहाँ तमन्ना का दूसरा कदम यारब ।
हमने दश्ते इमकाँ को इक नक़्शे पा पाया
मंजर इक बुलन्दी पर और हम बना सकते
अर्श के इधर होता काश के मकां अपना ।

और वह निहायत मशहूर शेर :

हज़ारों ख़ाहिशें ऐसी कि हर ख़ाहिश पे दम निकले
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।

घोर निराशा और असफलता के बीच मिर्ज़ा ने लालसा-पूर्ति की यह इच्छा बनाए रखी और एक चीज़ और बनाए रखी—'हसरते तामीर', निर्माण की इच्छा। सब-कुछ मिट जाने पर भी मिर्ज़ा की 'हसरते तामीर' नहीं मिटती। यह हसरत उनके जगत्-प्रेम का प्रतीक है। इसे प्रगतिशीलता का 'क्लीशे' न समझिए। मिर्ज़ा का शेर है :

हुआ हूँ इश्क की ग़ारतगरी से शर्मिन्दा
सिवाए हसरते-तामीर घर में ख़ाक नहीं

घर में क्या था कि तेरा ग़म जिसे ग़ारत करता
वह जो रखते थे हम इक हसरते-तामीर सो हैं।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की फ़ारसी कविता

नूरुलहसन अन्सारी

हिन्दुस्तान की फ़ारसी शायरी परिमाण और स्तर की दृष्टि से उतनी ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीन है जितनी ईरानी शायरी। ग्यारहवीं सदी ईस्वी में लाहौर ग़ज़नवी साम्राज्य का पूर्वी शासन-केन्द्र था। यहाँ, ईरानियों के साथ-साथ, हिन्दुस्तानी काव्य-रसिकों ने भी फ़ारसी ज़बान में अपनी रचना के जौहर दिखाने शुरू किये। उस युग से लेकर ग़ालिब के समय तक, लगभग नौ सौ साल तक, हिन्दुस्तानी कवि कलाविद और विद्वान् अपनी मौलिक रचनाओं और सम्पादित कृतियों से फ़ारसी काव्य और काव्येतर साहित्य का दामन अनमोल मोतियों से भरते रहे। इस लम्बे अर्से में हिन्दुस्तान की धरती से फ़ारसी के जो महान् कवि उठे, उनमें ख़ुसरो, बेदिल और ग़ालिब सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

ग़ालिब ईरानी नहीं थे। उनकी मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी। उनके बाप-दादा तुर्किस्तान से आये थे और तुर्की बोलते थे। लेकिन ग़ालिब ईरान के आशिक़ और ईरानी फ़ारसी के इतने बड़े प्रेमी थे कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी को बिलकुल ख़ातिर में नहीं लाते थे। इस सिलसिले में उन्होंने तमाम हिन्दुस्तानी शायरों और साहित्यविदों से लड़ाई मोल ली। लेकिन यह अजीब स्थिति है कि ख़ुद ग़ालिब की फ़ारसी हिन्दुस्तानी फ़ारसी है; और उनकी शायरी 'सब्के-हिन्दी।'[1]

ग़ालिब की फ़ारसी शायरी की महत्ता इसी हिन्दुस्तानियत में निहित है। इनका समय वह है जब हिन्दुस्तान में फ़ारसी शायरी का सूरज लगभग डूब चला था, और ईरानी शायरी फ़क़त भटई और शाब्दिक बाज़ीगरी का शिकार थी। ऐसे ह्रासकालीन युग में ग़ालिब ने फ़ारसी शायरी में व्यापक और गहरे सन्दर्भ में जीवन्त समस्याएँ प्रस्तुत कीं और उसे सार्वभौम और स्थायी मूल्य प्रदान किया। अपनी फ़ारसी शायरी पर ख़ुद ग़ालिब को इतना नाज़ था कि वह अपने उर्दू दीवान को 'मज्मूअए-बेरंग' कहते थे—अर्थात् ऐसा संकलन जिसमें कोई रंग न हो। और फ़ारसी दीवान के बारे में उनका दृढ़ विश्वास यह था कि—यदि काव्य एक धर्म है तो उनका फ़ारसी दीवान उसकी दिव्य वाणी है।

---

१. ईरानी विद्वान् फ़ारसी शायरी की हिन्दुस्तानी शैली को 'सबके-हिन्दी' नाम से अभिहित करते हैं।

फ़ारसी शायरी की तीन परम्पराएँ हैं—(१) ख़रासानी फ़िरदौसी, हाफ़िज़, ख़ैयाम इसी परम्परा के हैं। आज भी यही परम्प केन्द्रीय और स्तरीय मानी जाती है। सीधी भाषा और स्वाभाविक भावस्थितियों की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। (२) इरा या आज़रबाइजानी। इस परम्परा के बड़े कवि ख़ाक़ानी और निज़ामी हैं। यहाँ दुरूह और क्लिष्ट शैली के दर्शन होते हैं। (हिन्दुस्तानी या 'सब्के-फ़ारसी';। आरम्भ विशेषतया अकबर के युग से होता है। ईरानियों के कथनानुसार यह शैली स्टैण्ड नहीं : सीधी स्वाभाविक भाषा का अभाव है, भाव पेचीदा हैं, कल्पना की बहुलता है, और दार्शनिकता का प्रदर्शन। भारत विद्वानों के अनुसार यह दृष्टिकोण ईरानियों के राष्ट्रीय दम्भ और दृष्टिसंकोच का परिचायक है। वस्तुतः वे अभी हिन्दुस्ता फ़ारसी शायरी का सही मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ रहे हैं। मगर ईरानी आलोचकों की दुनिया में यह स्थिति अब बदल लगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़-मा गर्मस्त ईं हंगामा बिन्गर शोरे-हस्ती रा
क़यामत मी-दमद अज़ पर्दए-खाके कि इन्साँ शुद

संसार की सारी धमाधमी हमारे दम से है। मनुष्य केवल एक मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला, मगर देखो कैसी क़यामत जगा रहा है।

आराइशे-ज़माना ज़े-बेदाद कर्दा-अंद
हर ख़ूँ कि रेख़्त ग़ाज़ा-ए-रूए-ज़मीं शिनास

ऐसा लगता है कि अत्याचार से ही दुनिया की शोभा बढ़ी है। जब किसी का रक्त बहता है तो भूमि के गालों को उबटन की तरह निखार देता है।

बया दरीद गर् ईं जा बुवद ज़बाँदाने,
ग़रीबे-शहर् सखुनहा-ए-गुफ़्तनी दारद।

लोगो! मैं तुम्हारे नगर में अजनबी हूँ और कुछ बातें कहना चाहता हूँ। यदि कोई मेरी भाषा समझ सके तो उसे लाओ और मेरी दुःख की कहानी सुनो।

ता बादा तल्ख़तर शवद् औ सीना रेशतर
बिगुदाज़म आबगीना ओ दर-साग़र अफ़गनम्!

मैं आबगीना (शराब का गिलास) पिघलाकर जाम में उँडेल लेता हूँ ताकि उससे शराब की तलखी और बढ़ जाये और छाती भी और ज्यादा छलनी हो जाए।

बादा बवाम ख़ुर्दा-ओ ज़र ब-क़िमार बाख़्ता,
देह् कि ज़े-हर्चे नासज़ास्त हम ब-सज़ा न कर्दाएम्!

अफ़सोस! हमने दुनिया के बुरे काम भी सलीके से नहीं किये। शराब उधार लेकर पी और पैसे जुए में हार गए।

दीगर अज़-ख़ेशम् ख़बर न बुवद्, तकल्लुफ़ बरतरफ़;
ईं-क़दर दानम् कि 'ग़ालिब' नाम यारे दाश्तम्!

सच तो यह है कि अब मुझे अपनी भी खबर नहीं। हाँ! इतना याद है कि ग़ालिब नाम का एक मित्र था। अर्थात् मेरा अस्तित्व स्वयं मेरे लिए भूतपूर्व की याद हो गया है।

ता चे-संजम दोज़ख़् ओ कौसर, कि मन् नीज़ ईं चुनीं
आतशे दर-सीना ओ आबे ब-साग़र दाश्तम!

मुझे नरक का भय या कौसर की इच्छा नहीं है, क्योंकि मेरी छाती की अग्नि नरक से कहीं तीव्र है और मेरे प्यारे प्याले की शराब कौसर से अधिक स्वादिष्ट है।

दोश बर-मन अर्ज़ कर्दन्द् इंचे दर-कौनैन बूद
लाँ हमा कालाए-रंगारंग दिल बरदाश्तम्!

कल मेरे सामने सारे संसार का धन रखा गया। मैंने उसमें से केवल एक रंग-बिरंगी चीज़ चुन ली। वह मेरा मन था। मानो यही सारे संसार की सबसे मूल वस्तु है।

परतवे-मह्‌र सियाहे ज़े-गलीमम् नबरद
साया अम् साया शब् ओ रोज़ बराबर दारम्!

सूर्य का प्रकाश सारी दुनिया को जगमगा देता है अपितु भाग्य की कालिख शेष रहती है। ग़ालिब कहते हैं कि मेरी काली कमली की स्याही सूर्य की किरणों से दूर नहीं होगी। मैं छाया की तरह का अँधेरा हूँ। मेरे लिए रात और दिन बराबर हैं।

आग़श्ताएम् हर सरे-ख़ारे ब-ख़ूने-दिल:
क़ानूने-बाग़बानिए-सहरा नवश्ताएम्!

हमने रेतीले मैदानों की बागबानी का एक नया दस्तूर निकाला है और वह यह है कि हर काँटे की नोक को हृदय के रक्त से सींचा है।

दीदेम कि मय् मस्तिए-असरार न दारद
रफ़्तेम् ओ ब-पैमाना फ़िशर्देम जिगर हम!

जब हमने यह देखा कि शराब से इल्मे असरार (भेदों को खोलने वाला ज्ञान) की-सी मस्ती पैदा नहीं हुई तो हमने उसमें अपने जिगर का रक्त भी निचोड़ दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगर क़लीम शवद हमज़बाँ सख़ुन न कुनेम
व-गर ख़लील शवद मेहमाँ बिगर्दानेम !

यदि आज मूसा भी बात करने के लिए आएँ तो बात न करें। आज यदि इब्राहीम भी अतिथि के रूप में आयें तो उन्हें लौटा दें। आओ फूल बरसायें और मार्ग में पानी के बजाय गुलाब का छिड़काव करें। मदिरा का प्रबन्ध करें और पैमाने गर्दिश में लायें।

नक़्दे-ख़िरदम्, सिक्कए-सुल्ताँ न परीरम्;
जिन्से-हुनरम्, गर्मिए-बाज़ार न दानम !

मैं स्वयं बुद्धि का भंडार हूँ; मैं बादशाही सिक्का लेकर क्या करूँ ? मैं कला का धन हूँ, मुझे बाज़ार के उतार-चढ़ाव से क्या वास्ता ?

ख़ुश बुवद फ़ारिग़ ज़े-बन्दे-कुफ़्रो-ईमाँ ज़ीस्तन ।
हैफ़ काफ़िर मुर्दन् ओ आदख़ मुसल्माँ ज़ीस्तन !

जीवन का वास्तविक आनन्द धर्म तथा अधर्म के बन्धनों से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रतापूर्वक जीने में है । यदि कोई पाखण्डी बनकर मरा तो क्या हानि और धर्मात्मा बनकर जिया तो क्या लाभ !

कौकबम् रा दर-अदम औजे-क़ुबूले बूदा-अस्त;
शोह्रते-शे'रम् ब-गेती बादे-मन् ख़ाहद-शुदन !

मेरे भाग्य का सितारा इस दुनिया के बजाय उस दुनिया में चमक रहा है। इसलिए जब मैं इस दुनिया से कूच करके उस दुनिया में पहुँच जाऊँगा तो मेरी कविता प्रसिद्ध होगी।

न कुश्तम कसे रा ब-अह्रीमनी ।
न बुर्दम ज़े-कस माया दर-रहज़नी ।।
मन् अन्दोहगीं ओ मय् अन्दुहरुबाय ।
चे मी-कर्दम् ए बन्दापर्वर ख़ुदाय !!

मैंने कभी किसी को क़त्ल नहीं किया, किसी के धन पर डाका नहीं डाला। ले-देकर मेरे जीवन में एक शराब है जिससे मुझमें थोड़ी-सी जान आ जाती है।

हिसाबे-मय-ओ-रामिश-ओ-रंग-ओ बूए।
ज़े जमशेद् ओ बहराम् ओ परवेज़ जूए ।।
न अज़्-मन कि अज़-नाबे-मय् गाह-गाह ।
ब-दरयूज़ा रुख़ कर्दा बाशम सियाह ।।

जमशेद, बहराम और परवेज़ जैसे बड़े बादशाहों ने शराब पी और रंगरलियाँ मनाईं; यदि इसका हिसाब लेना है तो उनसे लें। हे भगवान् ! मुझसे क्या हिसाब माँगता है जिसने कभी-कभार एक घूंट उधार माँगकर अपना मुँह काला कर लिया।

चु बज़्मे-इश्रतियाँ ताज़ा-रू तवाँ जोशीद;
चु शम्ए-ख़ल्वतियाँ जाँगुदाज़ बायद बूद।

मनुष्य को चाहिए कि उसके मुख पर सदैव वही ताज़गी बनी रहे जो ऐशो-इशरत की किसी महफ़िल में होती है, लेकिन अन्दर से उसकी आत्मा इस प्रकार घुलती रहे जैसे जलती हुई मोमबत्ती एकान्त में पिघलती रहती है।

'ग़ालिब', ज़े-अज़ीज़ाने-वतन बूदाऽम्, इम्मा—
आवारगी अज़-फ़र्दे-हिसाबम् बदर आवुर्द !

ऐ ग़ालिब ! कभी मैं भी अपनी मातृ-भूमि के सम्बन्धियों के संग रहा करता था, किन्तु देश-विदेश इतना मारा-मारा फिरा कि अब वहाँ के सम्बन्धियों ने अपनी सूची से मेरा नाम निकाल दिया।

लिप्यंतर : **मुहम्मद याक़ूब**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब का व्यंग्य और हास्य

क़मर रईस

: १ :

हँसना-हँसाना मनुष्य का स्वभाव है। यों तो इसका प्रयोग हर इंसान अपनी हैसियत और हौसले, पात्रता और सुरुचि के अनुरूप करता आया है और करता है; लेकिन ऐसी विशिष्ट हस्तियाँ कभी-कभार ही पैदा होती हैं जो सचेत रूप से और सीधे-सीधे अपना हक़ जताती, और मानो अनजाने, बड़े ही सहज भाव से, इसका प्रयोग इस तरह करती हैं जैसे यह उनके निकट एक मानवीय और पुनीत दायित्व है। हास्य, व्यंग्य या विनोद जब ऐसे किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का करिश्मा होता है तो वह एक सांस्कृतिक मूल्य बन जाता है। ग़ालिब का हास्य-विनोद इसी शालीन और स्वस्थ सुरुचि को आईने की तरह झलकता है।

ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का अधिकार ग़ालिब को यों ही नहीं मिला। उनका जीवन इस बात का साक्षी है कि इसको प्राप्त करने में उन्हें बड़ी आज़माइशों के बीच से निकलना पड़ा है। इस कमाल के विनोदी संस्कार और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए जिस सुरुचि, बुद्धिमत्ता और सजगता की ज़रूरत होती है, वह, इसमें शक नहीं, कुछ तो उनकी प्रकृति का ही हिस्सा थी; लेकिन उसका बड़ा अंश, यक़ीनन, उनके माहौल, उनकी अपनी उपलब्धियों और नित्य-नये अनुभवों की देन था। उच्च स्तर का हास-परिहास—उसकी अभिव्यक्ति चाहे जिस शैली में हो—सौन्दर्य के सच्चे पारखी और यथार्थ का तात्त्विक दर्शन करने वाले के ही यहाँ मिलेगा। लेकिन सौन्दर्य और यथार्थ का तत्त्वदर्शी तो वही होगा जो परिस्थितियों के चक्कर और जीवन की सीमाओं और कमज़ोरियों पर नज़र रखता हो, और जिसकी पैनी दृष्टि भले और बुरे के नाज़ुक-से-नाज़ुक अन्तर को परख लेती हो। बुरे और भद्दे के इसी अन्तर की समझ और सौन्दर्य और यथार्थ के तात्त्विक ज्ञान ने ही ग़ालिब को हँसने का हक़ और हौसला दिया था। सुसंस्कृत आचरण, बौद्धिक जागरूकता और रूढ़ियों से विरक्ति—इन्हीं से मिलकर उनका व्यक्तित्व बना था। उनकी दूरगामी दृष्टि घटनाओं, व्यक्तियों और चीज़ों की तह तक पहुँच जाती थी। उनके चिन्तन और विश्लेषण का ढंग आम लोगों से अलग था। वह पहले हर बात के सच्चे, लाभकर पक्ष का पूरी तरह अन्दाज़ा करते थे; बाद में उसके अच्छे या बुरे होने का फ़ैसला करते। इसी जीवन्त चेतना ने उनके हास्य को सरस-सजीव, सुसंस्कृत और समोज्ज्वल (ताबनाक) बनाया।

यों तो मिर्ज़ा का खुला स्वभाव, उनकी शोख़ी और विनोदप्रियता उनकी उर्दू और फ़ारसी शायरी में भी एक छिपी हुई चंचल मौज-सी अन्दर-ही-अन्दर उभरती और अठखेलियाँ करती रहती है; लेकिन उनके व्यक्तित्व का यह जौहर उनके पत्रों में कहीं अधिक खुलकर सादगी और सहजता के साथ उभरा है। बक़ौल मौलाना हाली वह चीज़, जिसने उनके पत्रों को उपन्यास और नाटक की तरह आकर्षक बना दिया। 'शोख़िए-तहरीर' है।

हाली ने ग़ालिब के व्यक्तित्व की इस विशेषता को एक लतीफ़ और सटीक उपमा द्वारा व्यक्त किया है। लिखते हैं:

> "मिर्ज़ा की तबीअत में शोख़ी ऐसी भरी हुई थी जैसे सितार के तार में सुर भरे होते हैं। और कल्पना-शक्ति, जो काव्य और हास्य की सर्जक है, उसका मिर्ज़ा के दिमाग़ के साथ वैसा ही सम्बन्ध था जैसा उड़ान भरने की शक्ति का पक्षी के साथ।"

यहाँ हाली ने ग़ालिब के स्वभाव की शोख़ी और कल्पना-शक्ति पर समान रूप से जोर दिया है। निस्सन्देह ये विशेष गुण ग़ालिब के व्यक्तित्व, सृजनात्मक क्षमता और हास्य-विनोद की जान हैं। लेकिन इनका मूल स्रोत जीवन से गहरी दिलचस्पी, अनुभवों का वैविध्य और अनुवीक्षण का विस्तृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवेश है। ग़ालिब के हास्य में अक्सर व्यंग्य का पहलू भी होता है जो उनके हास्य को अर्थपूर्ण और उसके प्रभाव को स्थायी बनाता है। लेकिन उनके व्यंग्य में तीखापन या विषाक्तता लेशमात्र नहीं होती। उनकी रचनाओं में निन्दा, दोषारोपण, तानेबाज़ी, मसखरापन और ठिठोल जैसे शब्दों का सन्दर्भ ढूंढ़ना व्यर्थ प्रयास होगा। ताहम, ऐसा नहीं कि उनके उपहास या व्यंग्य का कोई लक्ष्य न हो। स्वयं आप चारों ओर की परिस्थितियाँ, अन्य व्यक्ति और संस्थाएँ, आचार-व्यवहार के नियम, संस्कृति, क़यामत और जन्नत—तात्पर्य यह कि जीवन की रूढ़ियों और प्रत्यक्ष लक्षणों में शायद ही कुछ बचा हो जिसके क्रूर व्यंग्य या वैचित्र्य या असामान्यता पर उनकी दृष्टि न गयी हो। लेकिन यह उनके अन्तर की स्वच्छन्दता और गहरा मानव-प्रेम था जिसने उनकी अभिव्यक्ति में झुंझलाहट, कटुता और तिरस्कार का अन्दाज़ पैदा होने न दिया।

कहा जाता है कि उच्चकोटि के हास्य-रस का सृजन वही कर सकता है जो स्वयं अपने-आप पर, अपनी विशेषताओं पर हँसने का हौसला और सलीक़ा रखता हो। ग़ालिब ने स्वयं अपनी ही उक्ति के अनुसार अपने-आपको तमाशाई की नज़र से देखा है, और अपने रंग-ढंग, वेष-भूषा आदि पर भी जी खोलकर हँसे हैं। यहाँ तक कि अपने जिस्म के रिसते हुए फोड़ों के बयान में भी अपनी स्वभावगत शोख़ी को हाथ से न जाने दिया, और फोड़ों के बढ़ने के कारण उन्हें अपना जिस्म 'सर्वे-चरागाँ' (दीपमालिका वृक्ष-सा) दिखायी देने लगा। एक पत्र में मुंशी नबी बख़्श 'हक़ीर' को लिखते हैं :

> "अटल हक़ीक़त यह है कि मेरा और आपका लहू मिलता है। जब वहाँ एहतिराक़ (जलन, दाह) की शिद्दतें हैं तो यहाँ उसका ज़हूर क्योंकर न हो (अर्थात् वह कैसे प्रकट न हो!) छोटे दानों ने गोल-गोल उभरकर तलवे को चारों तरफ़ से घेर लिया था। एकाएक जैसे एक क़ौम में एक शख़्स अमीर हो जाय, एक दाना उन दोनों में से बढ़ गया और फोड़ा हो गया। ईद के दिन बादशाह के साथ ईदगाह न जा सका···वह फोड़ा पका और फूटा···दो अंगुल ज़ख़्म पड़ गया।"

अपने ज़ख़्मों और तकलीफ़ों पर इस तरह मुस्कराना और दूसरों को हँसाना बड़े ही आला हौसले की बात है। ग़ालिब का सारा जीवन परिस्थितियों का अत्याचार और ज़माने की हृदयहीनता और विरोध ही सहते बीता। उनके जीवन की त्रासदी एक युग और एक व्यवस्था की त्रासदी है। इस घोर विवशता की अभिव्यक्ति ग़ालिब ने एक पत्र में जिस लतीफ़ पैराये में की है वह उनके विनोदी स्वभाव का एक अछूता नमूना है। लिखते हैं :

> "सुनो! आलम (लोक) दो हैं। एक आलमे-अरवाह (आत्माओं का लोक) और एक इस धरती का आलम।···माना कि आम क़ायदा यही है कि धरती के मुजरिम (अभियुक्त) आलमे-अरवाह में सज़ा पाते हैं। लेकिन इसी तरह आलमे-अरवाह के गुनाहगार को दुनिया में भेजकर सज़ा देते हैं। चुनाचे जब ८ रजब सन् १२१२ हिज़्री को मुझको रोबकारी (पेशी) के वास्ते यहाँ भेजा, १३ बरस हवालात में रहा। १७ रजब सन् १२२५ हिज़्री को मेरे वास्ते जन्मक़ैद का हुक्म सादिर हुआ, और एक बेड़ी मेरे पाँव में डाल दी (विवाह), और दिल्ली शहर को ज़िन्दाँ (बन्दीगृह) मुक़र्रर किया और मुझे इस ज़िन्दाँ में डाल दिया। नज़्म-ओ-नस्र (पद्य और गद्य) को मशक़्क़त (सपरिश्रम दंड) ठहराया। बरसों के बाद मैं जेलखाने में से भागा। तीन बरस पूरबी इलाक़े में फिरता रहा। आखिरकार मुझे कलकत्ते से पकड़ लाये और फिर उसी जेल की कोठरी में बिठा दिया। जब देखा कि यह क़ैदी पाँव तुड़ाकर भागता है, दो हथकड़ियाँ और बढ़ा दीं। (संकेत है दो भानजों के पालन-पोषण के भार की ओर) पाँव से ज़ख़्मी, हाथ हथकड़ियों से ज़ख़्मदार···हुक्म रिहाई देखिये कब होता है।"

प्रतीकात्मक शैली में प्रत्यक्षतः अपने ही ऊपर व्यंग्य है। लेकिन समझने वाले जानते हैं कि यह वास्तविक स्थिति की पीड़ा, प्रतिकूल परिस्थितियों के चक्कर और युग की गुणग्राहकहीनता पर व्यंग्य है, और भरपूर।

सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु एक दारुण घटना होती है। एक दर्दमन्द दिल रखने वाले इन्सान के लिए इस चोट को सहार ले जाना कठिन होता है। ग़ालिब पर भी ऐसी विपताएँ पड़ीं। अपने प्रियजनों और मित्रों से विछोह पर उनका हृदय भी अक्सर ख़ून के आँसू रोया; मगर दूसरों पर अपने व्यक्तिगत दुःख और नैराश्य को प्रकट करते हुए उन्होंने हमेशा ऐसा लतीफ़ पैराया अपनाया जो पढ़ने वाले के दिल में दुःखद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना की मार्मिक पीड़ा का नक़्श गहरा न होने दे। एक खत में अपनी फूफी की मृत्यु का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"मैं भी तुम्हारा हमदर्द हो गया। मंगल के दिन··· शाम के वक़्त मेरी वह फूफी जिसको मैंने बचपन से आज तक माँ समझा था और वह भी मुझको बेटा समझती थी, मर गई। आपको मालूम है, परसों मेरे गोया नौ आदमी मरे। तीन फूफियाँ और तीन चचा, एक दादी और एक दादा। यानी इस मरहूमा (दिवंगता) के होने से मैं जानता था कि ये नौ आदमी ज़िन्दा हैं, और इनके न होने से मैंने जाना कि ये नौ आदमी आज एक बार मर गये!"

इसी तरह अपने मित्रों के सम्बन्धियों की मृत्यु पर ग़ालिब ने जो संवेदना के वाक्य लिखे हैं, उनका अन्दाज़ भी अछूता और निराला है, उनमें सहानुभूति भी है और संवेदना भी; ढारस और नसीहत की बातें भी, और व्यंग्य-परिहास भी। और ये सारी विशेषताएँ बड़े सुन्दर ढंग से ऐसी स्वाभाविक सहजता के साथ शब्दों में ढल गई हैं कि इसे शुद्ध कलाकृति ही कहा जा सकता है।

एक प्रिय मित्र को उसकी प्रेयसी के निधन पर लिखते हैं :

"सुनो साहब, शायरों में फ़िरदौसी और (सन्त) फ़क़ीरों में बसरी और आशिक़ों में मजनूँ—ये तीन आदमी तीन फ़न में सरे-दफ़्तर (अग्रोल्लेख्य) और पेशवा हैं। शायर का कमाल यह है कि फिरदौसी हो जाय। फ़क़ीर की इन्तहा (पराकाष्ठा) यह है कि हसन बसरी से टक्कर खाये। आशिक़ की नुमूद (वैशिष्ट्य) यह है कि मजनूँ की हमतरही (वैसा होना) नसीब हो। लैला उसके सामने मरी। बल्कि तुम उससे बढ़कर हुए कि लैला अपने घर में मरी और तुम्हारी महबूबा तुम्हारे घर में।"

एक दूसरे पत्र में उसी मित्र को लिखते हैं :

"···किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क़अफ़शानी (आँसू ढालना), कहाँ की मर्सियाख्वानी (सियापे सुनाना)! आज़ादी का शुक्र बजा लाओ। ग़म न खाओ।···मैं जब वहिश्त का तसौवर (कल्पना) करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़रत हो गई (पाप क्षमा हो गये) और क़स्न (महल) मिला, एक हूर मिली : अक़ामत जाविदानी है (वहाँ रहना अनन्त तक है), और उसी एक नेकबख़्त के साथ ज़िन्दगानी है! —इस तसौवर से जी घबराता है और कलेजा मुँह को आता है! है है! वही हूर अजीरन हो जाएगी। वही ज़मुर्दी काख (रत्नजटित भवन) और वही तूबा ('कल्पतरु') की एक शाख! चश्मे-बद दूर—वही एक हूर!! भाई होश में आओ! कहीं और दिल लगाओ!"

यह उद्धरण सिर्फ़ चुटकियाँ लेने की शैली का नहीं। इसकी तह में कुछ ठोस बातें भी हैं। मनुष्य स्वभाव से ही नित-नये का प्रेमी है। आत्मिक सन्तोष और बुद्धि के सम्यक् विकास के लिए वह जीवन और प्रकृति के सौन्दर्यमूलक क्रिया-कलापों को हर रूप और रंग में देखना और उनसे आनन्द की उपलब्धि करना चाहता है। लेकिन रूढ़ आचार-विचार और कृत्रिम शिष्टाचारों के बन्धन इस उपलब्धि में बाधक होते हैं। यहीं से ग़ालिब का ध्यान धर्म, पापमोक्ष, स्वर्ग आदि की उन प्रचलित धारणाओं की ओर मुड़ जाता है जो आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता, लोभ, तृष्णा, लोलुपता, वासना आदि कुप्रवृत्तियों को उकसाने और उन्हें फैलाने का माध्यम रही हैं। व्यंग्य और परिहास का यह मार्मिक अन्दाज़ सिर्फ़ ग़ालिब का हिस्सा था। लेकिन इससे लुत्फ़ उठाने का हौसला वही पाठक कर सकते हैं जो मार्मिक सुरुचि रखते होंगे और जिनकी दृष्टि संकुचित न होगी।

ग़ालिब का जीवन मानव-प्रेम, दर्दमन्दी, साहसिकता और निर्भीकता की एक ऐसी कथा का पृष्ठ सामने रखता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। झूठा दिखावा और चाटुकारिता इनकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप थी। उन्हें रुसवाई, अपमान और आत्मपीड़न स्वीकार्य था, लेकिन यह सह्य न था कि अपने व्यक्तित्व को दुनिया के सामने इस रूप में पेश करें जो वह वस्तुतः नहीं है और न हो सकता है। इसलिए अपनी कोताहियों और कमज़ोरियों को स्वीकार भी उन्होंने खुलकर और पूरी आश्वस्तता के साथ किया है। यही आश्वस्तता और सज्ञानता उनकी अछूती कल्पना और मोहक शैली के साथ मिलकर उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

रमज़ान के महीने में एक खत में लिखते हैं :

"धूप बहुत तेज़ है। रोज़ा रखता हूँ मगर रोज़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहलाता रहता हूँ। कभी पानी पी लिया, कभी हुक्का पी लिया। यहाँ के लोग अजीब फ़हम (समझ) रखते हैं। मैं तो रोज़ा बहलाता हूँ और ये साहब फ़रमाते हैं कि तू रोज़ा नहीं रखता। यह नहीं समझते कि रोज़ा रखना और चीज़ है और रोज़ा बहलाना और बात है।"

पेंशन बन्द हो जाने पर लम्बे अर्से तक ग़ालिब को बड़ी दिक्कतों और मुसीबतों का सामना रहा। गुज़र-बसर मुश्किल से होती थी। इस दौरान में मित्र लोग अक्सर पूछते रहते थे। मीर महदी के ऐसे ही किसी सवाल के जवाब में लिखते हैं :

"मियाँ बे-रिज़्क़ (बे-रोज़ी) जीने का ढब मुझको आ गया है। इस तरफ़ से ख़ातिर जमा रखना। रमज़ान का महीना रोज़े खा-खाकर काटा। आगे ख़ुदा रज़्ज़ाक (दाता) है। कुछ और खाने को न मिला तो ग़म तो है।"

यहाँ उनकी तीव्र अनुभूति ने जिस लतीफ़ और तीखे व्यंग्य का रूप ले लिया है उसको स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८५७ की मार-काट और तबाही और बर्बादी ने ग़ालिब पर गहरा प्रभाव डाला था। बक़ौल ग़ुलाम रसूल 'मेहर'—"उनके उर्दू ख़तों के दामन का हर गोशा उन सख़्तियों और यातनाओं पर आँसुओं से तर नज़र आता है जो अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर और बाग़ी हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों विशेषकर उनकी मासूम औरतों और बच्चों पर ढा रखी थीं।" ग़ालिब के ये मातमपुर्सी वाले पत्र उनकी शान्ति की आकांक्षा और मानव-प्रेम का प्रत्यक्ष आईना हैं। उन्होंने दिल्ली में ख़ून की नद्दी पार की : लेकिन इस आलम में भी उनकी बुद्धि का पैनापन और चापल्य कतिपय व्यक्तियों और घटनाओं का मज़ाक उड़ाने से बाज़ न आया। मीर महदी 'मजरूह' की आँखें दुखने आयी हैं। उन्हें पत्र लिखते समय उसके 'असली' कारण की ओर इस प्रकार लक्ष्य करते हैं :

"चश्मे-बीमार ऐसी चीज़ है जिसकी कोई शिकायत करे?···तुम्हारी आँखों के ग़ुबार की वजह यह है कि जो मकान दिल्ली में ढाए गए और जहाँ-जहाँ सड़कें निकलीं, जितनी गर्द उड़ी उसको आपने अज़-राहे-मोहब्बत अपनी आँखों में जगह दी।"

इस लतीफ़ 'टिप्पणी' से एक तरफ़ तो दिल्ली से ग़ालिब की मोहब्बत और उसकी तबाही पर उनके क्लेश और पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है, और दूसरी तरफ़ उसमें उन व्यक्ति पर व्यंग्य का पहलू भी छिपा हुआ है जिन्होंने पुरानी देह के मटियामेट होने के ग़म को ज़िन्दगी का रोग बना लि था। ब्रिटिश सत्ता के अधीन निर्माण-कार्यों का एक न सौंदर्य, और विकास और उन्नति की जो नई सम्भावना सामने आ रही थीं, वह खुले दिल से उनका स्वागत कर थे। बेशक ग़ालिब ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अंग्रे हाकिमों की प्रशस्ति में क़सीदे कहे, लेकिन इसका यह अ नहीं कि उन्हें इन विदेशियों के शासनोन्माद और निरंकु दमन-चक्र का एहसास नहीं था। उस व्यापक पकड़-धकड़ ज़माने में, ज़ाहिर है, वह खुलकर इसको व्यक्त नहीं कर सक थे। लेकिन व्यंग्य-उपहास के पर्दे में कहीं-कहीं उनका आन्त रिक भाव और दृष्टिकोण झलक उठा है। एक पत्र में मि अलाउद्दीन अहमद ख़ाँ को लिखते हैं :

"सुनते हैं कि नवम्बर में महाराजा अलवर अधिकार मिलेगा। मगर वह अधिकार ऐसा होगा जै कि ख़ुदा ने ख़ल्क़ (प्राणि-मात्र) को दिया है। सब-कु अपने कब्ज़ए-क़ुदरत में रक्खा—आदमी को बदना किया।"

सन् १८५७ का हंगामा दबने के बाद बेगुनाह हिन्दुस्ता नियों पर जो ज़ुल्म ढाये गए, ग़ालिब ने कहीं उपमा के सह और इशारों में, और कहीं लतीफ़ चुटकुलों के रंग में उन ओर संकेत किया है। मसलन्, देहली में एक हाफ़िज़ मोहम्म बख़्श थे, जो हाफ़िज़ मम्मू भी कहलाते थे। जेल से रिहा पाने और बेगुनाह साबित होने के बाद उन्होंने अपनी जायद के वापस मिलने के लिए दरख़ास्त दी।

ग़ालिब लिखते हैं :

"हाकिम ने पूछा—'हाफ़िज़ मोहम्मद बख़्श कौन अर्ज़ किया—'मैं!' फिर पूछा कि—'हाफ़िज़ म कौन?' अर्ज़ किया कि—'मैं! असली नाम मे मोहम्मद बख़्श है। मम्मू-मम्मू मशहूर हूँ।' फ़रमाया—'यह कुछ बात नहीं! हाफ़िज़ मोहम्मद बख़्श भी तु और हाफ़िज़ मम्मू भी तुम! सारा जहान भी तुम, दुनिया में है वह भी तुम! हम मकान किसको दें!' मिसल दाख़िल-दफ़्तर हुई। मियाँ मम्मू अपने घर आये।"

यह एक घटना का नाटकीय लेकिन सीधा-सादा ब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लेकिन इसकी तासीर यह है कि इसको पढ़ने या सुनने वाला अन्दर-ही-अन्दर मुस्कराये बिना नहीं रहता। उसका दिल एक हलकेपन और प्रसन्न भाव से भर जाता है। लेकिन इस घटना के पर्दे के पीछे अंग्रेज़ हाक़िमों के 'न्याय' पर जो व्यंग्य है वह भी अपना काम करता रहता है और अवचेतन रूप से पाठक की भावना में मानों एक ऐतिहासिक सत्य की तहें खुलने लगती हैं।

ग़ालिब की हास्यप्रियता शब्दों की बाज़ीगरी या उनका अनोखा ताल-मेल नहीं, बल्कि जीवन का एक दर्शन है। उनका उद्देश्य हँसाना या प्रसन्न करना नहीं, बल्कि कुछ कहना, बताना और समझाना भी होता है। यह 'हास्य' उनकी शैली में नहीं, उनके सोचने और देखने के अन्दाज़ में होता है। वह इसलिये नहीं सोचते थे कि उन्हें कुछ कहना या लिखना था बल्कि इसलिए कहते और लिखते थे कि उन्होंने जो कुछ देखा, सोचा और समझाया वह इस योग्य था कि उसे दूसरों तक पहुँचाया जाए। वह जीवन की साधारण घटनाओं और सामान्य या छोटे इन्सानों की गतिविधि का अध्ययन बहुत डूबकर और दिलचस्पी से करते थे। व्यक्ति की सीमाओं से दिलचस्पी और उसके महत्त्व का एहसास जो उपन्यास-रचना का प्रेरक और आधार-वस्तु होता है उर्दू में सबसे पहले ग़ालिब की कृतियों में ही नज़र आता है। मसलन् एक पत्र में 'बी वफ़ादार' का ख़ाका इस तरह खींचते हैं :

> "बी वफ़ादार बाहर निकलती हैं। सौदा तो क्या लाएँगी, मगर खलीक़ (मुरौवती) और मिलनसार हैं। रास्ते चलतों से बातें करती फिरती हैं। जब वह महल से निकलेंगी, मुमकिन नहीं कि नहर की तरफ़ की सैर न करें। मुमकिन नहीं कि दरवाज़े के सिपाहियों से बातें न करें। मुमकिन नहीं कि फूल न तोड़ें और बीबी को जाकर न दिखाएँ और न कहें कि यह फूल तुम्हारे चाचा के बेटे की 'काई' के हैं। यानी, तुम्हारे चाचा के बेटे की क्यारी के हैं।"

यह एक जीवन्त पात्र की गतिविधि का यथार्थवादी अध्ययन है। यहाँ न कल्पना का अनोखापन है और न उनकी चंचल, शोख़ शैली। लेकिन इसके बावजूद हर ख़ाके में ग़ालिब ने अपने अनुवीक्षण के अछूतेपन और नैरंगी से कुछ ऐसे रंग भर लिये हैं जो पाठक के दिल को एक कैफ़ और आनन्द से भर देते हैं।

: २ :

ग़ालिब की शायरी भी इस जौहर से खाली नहीं जिसकी मिसालें हम अब तक उनके गद्य से देते आये हैं। ऐसा मुमकिन ही नहीं हो सकता। दरअस्ल पत्रों में सामने आने वाले व्यंग्य-विनोद के तत्त्वों पर इसलिए ज़ोर दिया है, कि उर्दू गद्य के साहित्य में इसका पहला नमूना ग़ालिब के पत्रों में ही नज़र आता है; जब कि शायरी में उनसे पहले सौदा और इन्शा राह बना गये थे। अगर्चे इन दोनों के हास्य और व्यंग्य में परनिन्दा का अंश अधिक है : यानी, अक्सर उन्होंने अपने किसी समकालीन से रुष्ट और खिन्न होकर उसका मज़ाक़ उड़ाया है, इसलिए उनके यहाँ सामाजिक तत्त्व कम और व्यक्तिगत पक्ष अधिक है। दूसरे यह कि उनके व्यंग्य का स्तर और साहित्यिक पक्ष बहुत ऊँचा नहीं। वे अक्सर फक्कड़पन, गाली-गलौज और कड़ुवी झल्लाहट पर उतर आते हैं। ग़ालिब ने किसी की निन्दा में कभी कोई रचना नहीं की। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा नहीं था कि वह किसी से नाराज़ होकर उसका मज़ाक़ उड़ाते या उसकी मर्यादा को चोट पहुँचाकर उसे दुखी करते। हाँ, उन्होंने अपने चारों ओर फैली हुई सामाजिक बुराइयों, सड़ी-बुसी मृत आस्थाओं और परम्पराओं, और स्वयं अपने जीवन, अपने दुखों और अपने अभावों का मज़ाक उड़ाया है। लेकिन यह सब-कुछ ऐसे ऊँचे स्तर से, ऐसे लतीफ़ इशारों में और इतने अछूते अन्दाज़ से उनकी शायरी में मिलता है कि उसका पूरा आनन्द उठाने के लिए भी काफ़ी रची हुई कलात्मक सुरुचि की ज़रूरत है।

ग़ालिब ने अक्सर 'ज़ाहिद' (कर्मकाण्डी), 'वाइज़' (उपदेशक), 'शैख़' (धर्मगुरु) और 'मुहतसिब' (निषेध-अधिकारी) को अपने व्यंग्य-बाणों का निशाना बनाया है, जो जागीरदारी व्यवस्था में वस्तुतः सामाजिक अत्याचारों के समर्थक, प्रतीक स्वरूप बन गये थे; जो दूसरों को गुनाह करने से रोकते लेकिन ख़ुद छिपकर और जी भरकर गुनाह करते थे और बादशाहों और अमीरों के अच्छे-बुरे कार्य-साधन में सहायक होते थे। मसलन् यह शे'र देखिये—

कहाँ मयख़ाने का दरवाज़ा 'ग़ालिब' और कहाँ वाइज़!
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले!

× × ×

क्यों रद्दे-क़दह करे है, ज़ाहिद !
मय है य' : मगस् की क़ै नहीं है !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—ज़ाहिद शराब का प्याला पीने से रोकता है, तो ग़ालिब प्यार से समझाते हैं, कि : भाई, यह शराब है; मक्खी की क़ै, यानी शहद की तरह की कोई गन्दी चीज़, नहीं! (जबकि ज़ाहिद इसी उम्मीद पर जीता है कि उसे जन्नत में शराब के बजाय पीने के लिए शहद मिलेगा!) इस तरह के बहुत से बा-मज़ा और तीखे शे'र दीवाने-ग़ालिब में मिलते हैं।

यह बात ढकी-छिपी नहीं कि ग़ालिब रूढ़ि-मात्र और दिखावे के मज़हब से ऊब चुके थे। जीवन के बारे में उनका सामान्य रवैया और दृष्टिकोण बड़ी हद तक बौद्धिक और यथार्थवादी था। इस जीवन के बाद किसी दूसरे जीवन की कल्पना से उन्हें घिन आती थी। इसलिए उन्होंने इस सामान्य विश्वास का बार-बार और अच्छी तरह मज़ाक उड़ाया है कि आदमी मरने के बाद अपने कर्मों का हिसाब देगा, और तब उसे जन्नत या जहन्नुम (स्वर्ग या नरक) में भेजा जाएगा। यह शे'र देखिये—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त, लेकिन
दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब य ख़याल अच्छा है!

× ×

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों
ऐसी जन्नत को क्या करे कोई!

लेकिन इनसे ज्यादा दिलचस्प और लतीफ़ शे'र वो हैं जिनमें मरने के बाद ख़ुदा से ग़ालिब का संवाद होता है, और जहाँ ग़ालिब ख़ुद अपने अभावों पर दर्द भरा व्यंग्य करते हैं।

पकड़े जाते है फ़रिश्तों के लिखे पर नाहक़!
आदमी कोई हमारा दमे-तहरीर[1] भी था?

× ×

नाकर्दा[2] गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद,
यारब! अगर इन कर्दा गुनाहों की सज़ा है!

× ×

आता है दाग़े-हसरते-दिल काशुमार[3] याद
मुझसे मेरे गुनह का हिसाब, ए ख़ुदा, न माँग!

आखिरी शेर में ग़ालिब कैसे लतीफ़ अन्दाज़ में ख़ुदा से विनती करते हैं कि—ए ख़ुदा मुझसे मेरे गुनाहों का हिसाब न माँग! इसलिए कि मुझे अपनी वह हसरतें या वो 'गुनाह' याद आ जाते हैं जो दुनिया में मैं नहीं कर सका। अपनी दुख-भरी ज़िन्दगी, अपनी विपन्नता और अपनी लाचारी और अपनी मजबूरी का कैसा अथाह दर्द इस शे'र में छिपा हुआ है!

ग़ालिब जानते थे कि नमाज़-रोज़ा और 'ज़कात' (दान पुन्न) एक मुसलमान के लिए परम आवश्यक और पवित्र कर्तव्यों में से है। लेकिन उन्हें एहसास था कि इन कर्तव्यों को पूरा करने के लिए पैसा चाहिये, साज़-सामान चाहिए; इसलिए ये पवित्र कर्तव्य सिर्फ़ धनी-मानी लोग ही पूरा करके ईश्वर के प्रिय पात्र हो सकते हैं। रोज़े के बारे में यह शे'र देखिये :—

जिस पास रोज़ा खोलने-खाने को कुछ न हो
रोज़ा अगर न खाय तो नाचार क्या करे!

× ×

सामाने-ख़ुरो-ख़्वाब[4] कहाँ से लाऊँ!
आराम के असबाब कहाँ से लाऊँ!
रोज़ा मेरा ईमान है, लेकिन 'ग़ालिब',
ख़सख़ाना-ओ-बर्फ़ाब[5] कहाँ से लाऊँ!

मैं ऊपर कह आया हूँ कि ग़ालिब को चिन्तन का यह अत्यन्त रोचक और साहसिक ढंग—मान्य विश्वासों, रीतियों, रूढ़ियों और स्वयं ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का यह ढंग—उसी वक्त मिला जब उन्होंने ज़िन्दगी को आँखें खोलकर और उसमें घुल-मिलकर देखा, और फिर उससे अलग होकर, ऊपर उठकर उस पर ग़ौर किया; उसे एक तमाशा समझा। इसीसे उन्हें जीने का हौसला मिलता रहा। वर्ना इतने दुःख-दर्द उठाकर ग़ालिब जैसा भाव-प्रवण आदमी पागल हो जाता। अक्सर वह स्वयं अपना मज़ाक भी उड़ाता और अपना तमाशा भी देखता और मज़ा लेता है।

थी ख़बर गर्म कि ग़ालिब के उड़ेंगे पुर्ज़े;
देखने हम भी गये थे प तमाशा न हुआ।

× ×

चाहते हो ख़ूबरूयों[6] को 'असद'।
आपकी सूरत तो देखा चाहिये!

× ×

मैंने कहा कि—'बज़्मे-नाज़।[7] चाहिये ग़ैर से तही।'[8]
सुनके सितमज़रीफ़[9] ने मुझको उठा दिया, कि-यों!

× ×

तंगदस्ती[10] अगर न हो 'ग़ालिब'
तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत है!

इस तरह के अनगिनत शे'र ग़ालिब के दीवान में मिल जाएँगे, जिनमें उनकी रूह का दर्द उनके स्वभाव की ताज़गी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुलेपन और ज़िन्दादिली में डूबकर उभरा और निखरा है।

सारांश यह है कि ग़ालिब के मिज़ाज की शोख़ी और हास्य वह नहीं जो वास्तविक और यथार्थ को नज़रअन्दाज़ करने या उसे बिगाड़कर पेश करने से पैदा होता है। यह हास्य उनका स्वभाव है और यह व्यंग्य उनके मौलिक दृष्टिकोण में है।

वह यथार्थ और वास्तविक की गहरी पकड़ से शोख़ी पैदा करते हैं। उनके होंठों पर वह मुस्कराहट है जिसे हम आँसुओं का इत्र कह सकते हैं और जो दुःख की पराकाष्ठा पर आ जाने से पैदा होती है। ख़ुशी में हँसना और दुःख में रोना तो इन्सान के स्वभाव में ही है। यह कोई असामान्य बात नहीं। रोज़ देखने में आता है। लेकिन मुसीबत में मुस्कराना और क़ुल-क़ुल करते हुए ढलती शराब के पीछे रोने का स्वर पहचान लेना हर आदमी के बस की बात नहीं। यह बात ग़ालिब ही के हिस्से में आई है।

अनुवादक : शमशेर बहादुर सिंह

१. लेखनी चलते समय। अर्थात् जब हमारे कर्मों का लेखा दर्ज करते समय फ़रिश्तों की लेखनी चल रही थी।
२. जो नहीं किये गए। (कर्दा, जो किये गए।)
३. गिनती।
४. पीने-खाने और सोने का आरामदेह सामान।
५. ख़स की टट्टी से ठण्डा किया गया कमरा और बर्फ़ का पानी।
६. सुन्दर, आकर्षक व्यक्ति।
७. ए नाज़ के स्वयं में ही सौन्दर्य-सभा!
८. किनाराकशी। बचना।
९. वह जिसके सितम में भी व्यंग्य-परिहास का पुट है।
१०. विपन्नता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब के गद्य के नये आयाम

क़ाज़ी अब्दुल सत्तार

ग़ालिब के रचनात्मक गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण उनके पत्र हैं। उर्दू कविता के प्रथम आलोचक और कवि ग़ालिब के पहले प्रशंसक 'हाली' ने अपनी पुस्तक के सैकड़ों पृष्ठों में से कुछ पृष्ठ ग़ालिब के उस गद्य-साहित्य को अर्पित किए जो उर्दू के आधुनिक रचनात्मक गद्य का प्रथम सुन्दर उदाहरण है। छोटे-छोटे वाक्यों के इन बीस पृष्ठों में भी गद्य के कथ्य और उसकी कला से अधिक पत्र-रचना की कला और उसके वर्ण्य विषय पर बहस की गई है। गद्य के वे अमर नमूने, जिन पर कोई भी गद्यकार ईर्ष्या कर सकता है, बहस में सम्मिलित तो हैं लेकिन इस तरह कि घरेलू सम्बन्धों और हास्य-व्यंग्य के भारी पर्दों में कुचलकर रह गए हैं।

ग़ालिब के गद्य को कोई बिजनौरी नहीं मिला जो उनकी कला की प्रशंसा करता। हमारा युग हकीमुद्दीन अहमद, विकार अज़ीम और असलम फ़र्रुखी की रचनाओं से गद्य की आलोचना से परिचित तो हुआ किन्तु ग़ालिब तक नहीं पहुँच पाया। हमारे रास्ते की सबसे बड़ी दीवार काल्पनिक है जिसे गद्य की कसौटी कहा गया है, अर्थात् सादगी—सादगी अपने में कोई मूल्य नहीं है, यह एक अतिरिक्त मूल्य है। मेरे लिए सादगी का अर्थ वह चातुर्य है, जिस तक आसानी से न पहुँचा जा सके, जिस पर सादगी का धोखा हो, देखने में तो ऐसा लगे कि सादा है लेकिन है सजी हुई।

कौन है जो ताज की सादगी को अस्वीकार करता है और कौन है जो ताज के चातुर्य की क़सम नहीं खाता। हाली ने जब सादगी को मूल्य के रूप में स्वीकार किया, उसको बढ़ावा दिया और उसकी व्याख्या की तो उनके सामने रज्जब अली बेग सुरूर और उनकी कला के शागिर्दों का गद्य था, जो बाह्य-प्रदर्शन और अतिशयोक्ति-वर्णन में इतना मग्न था कि तलवार के बजाय पैंतरे पर ही सन्तुष्ट हो गया था। दूसरी ओर मीर अम्मन और उनके सहयोगियों का गद्य था जिसे मुहावरे और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों ने अशक्त कर दिया था, न केवल यह बल्कि सर सैयद और उनके सहयोगियों के सामने रचनात्मक गद्य के जो नमूने थे उनका अनुकरण करते हुए जानवरों और उड़ते हुए कालीनों, भूत-प्रेतों और परियों, सौदागरों की बेटियों और शहज़ादियों के काल्पनिक जीवन की अविश्वसनीय कहानियाँ घेरे हुए थीं और कौम को रचनात्मक गद्य के स्थान पर लाभदायक गद्य की आवश्यकता थी जो पत्रकारिता की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता हो और सामाजिक समस्याओं के हल करने की क्षमता रखता हो। इस पृष्ठभूमि में 'सादगी' का नारा अज़ान के समान पवित्र था। सादगी के इस मूल्य को रोमेन्टिक आन्दोलन 'गुलाबी' उर्दू और गद्य में कविता करने की प्रवृत्तियों ने 'क्लासिकी' मूल्य में बदल दिया, अर्थात् उस गद्य से, जो सृजन के लिए उतारा गया था, आलोचना का कार्य लिया गया और जब इस काम में असफलता हुई तो कहा गया कि यह गद्य आलोचना के लिए उपयुक्त नहीं है। अवश्य ही यहाँ भी सादगी की दुहाई स्वागत के योग्य है और उपादेय है किन्तु धीरे-धीरे यही पवित्रता और उपादेयता ज़ुल्म बनकर रह गई। हम रचनात्मक गद्य की वैयक्तिकता और आलोचनात्मक गद्य की उपादेयता में अन्तर न कर सके। हम भूल गए कि आलोचना में गद्य का पहला कर्तव्य विचार को समझाना, स्पष्ट करना और निष्पक्ष व्याख्या करना होता है। इस काम को पूरा करने में सादगी सहायक भी सिद्ध होती है लेकिन रचनात्मक गद्य में, गद्य का कार्य केवल यही नहीं है कि वह विचार को पाठक या श्रोता तक केवल पहुँचा दे बल्कि गद्य का कर्तव्य है कि कलाकार के विचार को उसकी पूरी शक्ति, विस्तार, गहराई, प्रभाव एवं सौन्दर्य-सहित पाठक के हृदय में उतार दे अर्थात् आलोचनात्मक गद्य संदेश वाहक है और रचनात्मक गद्य ईशदूत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब मैं ग़ालिब के पत्रों को आधुनिक गद्य का प्रथम सर्वोत्तम उदाहरण कहता हूँ तो आधुनिक शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयोग करता हूँ जिन अर्थों में 'हाली' और 'आज़ाद' आधुनिक कवि कहे जाते हैं। हाँ, रचनात्मक गद्य के प्रश्न पर कुछ विचार करना चाहता हूँ—उदाहरणार्थ—पत्थर एक ऐसा शब्द है जो हमारे कानों से टकराकर अर्थ के कितने रूपों को जन्म दे डालता है। पत्थर जो गेहूँ को पीसकर आटा बनाता है, पत्थर जो सभ्यता, कला को छिपाए हुए है, पत्थर जो फ़सलों को उजाड़ देता है। पत्थर जो पेट में उतरकर ज़िन्दगी को चाट लेता है, पत्थर जो छोटा होते हुए भी बाज़ार की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु होता है और यह सब होते हुए भी पत्थर होता है। ठीक इसी प्रकार गद्य के बहुत-से अर्थ हैं, विभिन्न श्रेणियाँ है, स्तर हैं, विविध विशेषताएँ हैं। गद्य वह भी है जो केवल माध्यम है, और गद्य वह भी है जो केवल मात्र माध्यम भी नहीं है, उदाहरणार्थ—जब बच्चा 'मम' कहता है तो हम उसे पानी पिला देते हैं, गद्य वह भी है जिसके द्वारा हम प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। गद्य वह भी है जिसे संवाददाता लिखकर और अखबार में पढ़कर भुला देता है, क़ुरान की वे आयात भी गद्य के अंचल की कुछ बिजलियाँ हैं जिन्हें प्रार्थना करते समय हम अपने होंठों से उच्चारित करना आवश्यक समझते हैं। और गद्य वह भी है जो रहस्यात्मक, दार्शनिक, धार्मिक, आचार-व्यवहार-सम्बन्धी, राजनीतिक और सामाजिक, आलोचनात्मक एवं रचना की समस्याओं से बहस करता है, तथा जिसको पढ़कर हम आचार-व्यवहार की व्यवस्था का समर्थन या विरोध करते हैं।

अस्तु, गद्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले हमारा कर्त्तव्य है कि यह मालूम करें कि गद्य को किस उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। यदि गद्य से केवल माध्यम का कार्य लिया है तो उसकी एक श्रेणी है और यह 'प्रोज़मीडियम' है और यह वह गद्य है जो इस भूमंडल पर हर घड़ी करोड़ों ज़बानों से झरनों के समान फूटती रहती है। यदि गद्य से केवल सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करने का काम लिया गया है तो यह गद्य ज्ञानवर्धक, सूचनात्मक और उपादेय गद्य है जो इस रूप में टाइपराइटर का काम करता है और मानवजाति के लिए उसकी उपादेयता होना सर्वमान्य है, और गद्य की यह दूसरी श्रेणी है। यदि गद्य शास्त्रों की व्याख्या करता है, तो यह गद्य की तीसरी श्रेणी है और शास्त्रीय गद्य है और यदि गद्य सृजन का उत्तरदायित्व निभाता है तो यह गद्य की चौथी और अन्तिम श्रेणी है और रचनात्मक गद्य है। यही वह स्थल है जहाँ गद्य साहित्य की सीमा में आता है।

ग़ालिब के पत्र केवल मात्र पत्र नहीं हैं, ये पत्र एक ऐसे महान् कलाकार के हृदय और मस्तिष्क की दशाओं का गतिमान हैं, जिसके सीने में मुग़ल सभ्यता का सूर्य छिपा था और पत्र जो गद्य का रूप धारण किए है, वह ऐसा सुन्दर और जीवन्त है कि उसके सामने हमारे बड़े-बड़े कारनामों की आँख झपक जाती है।

ग़ालिब ने कला के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले के समान अपने समय की परम्परा के विरुद्ध अपनी कल्पना की उड़ान के द्वारा काव्य-विषयों का कैनवस विस्तृत किया। सामान्य प्रचलित शब्द-समूह को समृद्ध किया। मुहावरों के दिन-प्रतिदिन की भाषा के शब्दों के वस्त्र उतारकर फ़ारसी की भारी किन्तु विचारोत्तेजक तरक़ीबें गढ़ी हैं, नई उपमाएँ ढूँढ़ीं, नये रूपकों या पूर्वप्रयुक्त रूपकों के नवीन प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार अपने समय के गद्य में नवीन पद्धति-शैली की नींव डाली। ग़ालिब के गद्य की जो परम्परा मिली वह वर्णन-शैली में सानुप्रासिकता, सजावट को महत्त्व देती थी। ठीक है, 'बाग़ोबहार' ने सरल गद्य को रचनात्मक पवित्रता दी थी। लेकिन इस गद्य पर मुहावरों की छाप और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों की मुहर लगी हुई थी। पदावली, सानुप्रासिक न सही किन्तु बराबर के वाक्यों से बोझिल थी। किसी सीमा तक साधारण उपमाओं, रूपकों के भार से दबी हुई थी। सामूहिक रूप से यह गद्य श्रेष्ठ नहीं था और इसका कथ्य 'ग़ालिब' के अहंवाद को—जो उनके व्यक्तित्व का अंग था—आकर्षित न कर सकता था। मीर अम्मन के विपरीत रज्जब अली बेग सुरूर थे जो अनुप्रासात्मक, संस्कृत गद्य-शैली के अग्रदूत थे, जिनकी कला की प्रशंसा 'ग़ालिब' ने भी की थी। अनुमान है कि यदि सुरूर गद्य की इस शैली को उठा न चुके होते तो 'ग़ालिब' इस ओर आकर्षित होते। इनका इस ओर आकर्षित न होने का कारण सुरूर की बड़ाई में नहीं बल्कि 'ग़ालिब' के उस अहंवाद में अन्तर्निहित है जो किसी के पदचिह्नों पर चलने में अपना अपमान समझता है, जो महामारी में मरना भी अपना अपमान मानता है। केवल यही नहीं 'सुरूर' की शैली उपमा, रूपक, दृष्टान्त और प्रतीक के प्रयोग पर बल देती थी। सानुप्रासिकता-प्रदर्शन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए गद्य लिखना और अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए लिखते चले जाना 'सुरूर' की आदत थी। 'सुरूर' यह तो जानते थे कि उनको क्या कहना है, लेकिन यह नहीं जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है और 'ग़ालिब' यह खूब जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है। इस ज्ञान एवं विस्तृत अध्ययन एवं अनुभव ने 'ग़ालिब' को गद्य की एक नई शैली प्रदान की जिसने एक ओर मीर अम्मन की सीधी-सादी गद्य-शैली और दूसरी ओर 'सुरूर' की कलात्मकता को स्वीकार किया। यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है अर्थात् सुरूर की कलात्मकता का संघटन यदि खोल दिया जाए तो प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से उपमा, रूपक और दृष्टान्तों पर दृष्टि स्थिर हो जाती है और प्रभाव के इस जादू का मंत्र उपमा की बजाय रूपक और किसी हद तक दृष्टान्तों में छिपा हुआ है। रूपक एवं दृष्टान्त केवल सुरूर ही की कला में दृढ़ स्थान पाए हुए नहीं हैं बल्कि उर्दू के रचनात्मक गद्य में आरम्भ से ही इनको स्थान मिला है। चाहे वे संस्कृत की सुन्दर कहानियाँ हों या सूफ़ी महात्माओं की पवित्रोक्तियाँ, 'सबरस' हो या 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' हो, 'बाग़ोबहार' हो या 'फ़सानए अजायब'—हर कृति रूपकों एवं दृष्टान्तों से रंजित है।

'ग़ालिब' में जो महान् कलाकार छिपा हुआ था उसने उर्दू गद्य में प्रचलित रूपकों और दृष्टान्तों के अध्ययन से यह ज्ञात कर लिया था कि इनके रचयिता आकाश के तारे तोड़ लाते हैं, किन्तु उसका पहनना नहीं जानते अर्थात् उर्दू गद्य की यह कला उस निर्बल, कृश स्त्री के समान है जो मोटे-मोटे जड़ाऊ गहनों और भारी काम के वस्त्रों के बोझ से हाँप रही हो। इसलिए 'ग़ालिब' ने रूपक, दृष्टान्त का प्रयोग अपने समकालीन और अपने पूर्वजों की लीक से हटकर उस सूक्ष्म-विस्तार को छोड़ दिया जो रूपकों और दृष्टान्तों को सँवारने के बजाय उनको सीमित, लज्जित और पंगु कर देता है।

'ग़ालिब' अपने आधुनिक रचनात्मक गद्य की कलात्मकता में इसलिए भी सफल हो सके हैं कि उन्होंने यह गद्य उस समय लिखा जब 'ग़ज़ल' की कला में, जो संकेतों की कला है, अपने बाल सफ़ेद कर चुके थे, बड़ी मंज़िलें तय कर चुके थे। वह प्रसिद्ध पत्र, जिससे 'हाली' ने 'ग़ालिब' के घरेलू सम्बन्धों को ज्ञात किया था और वास्तव में जिसमें ग़ालिब ने अपने जीवन का दुःख सजाया था, यदि वह पत्र प्रकट न होता तो उर्दू के सबसे महान् गद्यकार मुहम्मद हुसेन आज़ाद का प्रसिद्ध लेख 'शुहरत-ए-आम, बक़ाए-दोआम' न लिखा जाता या इस रूप में न लिखा जाता। इसी प्रकार आज के गद्य पर भी 'ग़ालिब' की कला की परछाइयाँ दिखलाई दे जाती हैं।

अनुवादक : **क़ैसर जहाँ सिद्दीक़ी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब और सर सैयद

फ़र्रुख जलाली

ग़ालिब और सर सैयद ने नवीन विचारों की ज्योति जगाई है। उनके शेरों और विचारों से उर्दू साहित्य सम्मानित हुआ है। सर सैयद और ग़ालिब की कहानी बहुत दिलचस्प और लम्बी है। मैं इस समय केवल एक बात की ओर ध्यान आर्कषित करना चाहता हूँ।

ग़ालिब सर सैयद अहमद खाँ से बीस वर्ष बड़े थे। एक ही युग में होते हुए ग़ालिब और सर सैयद के सम्बन्ध में रख-रखाव का ढंग अन्तिम समय तक रहा। पहला लिखित सबूत जो हमको मिलता है, वह 'दीवाने-ग़ालिब' का प्रथम संस्करण है जो सन् १८४१ में प्रकाशित हुआ। यह सर सैयद के बड़े भाई सैयद मुहम्मद खाँ बहादुर (मृत्यु १८४६) के लेथोग्राफिक छापेखाने में छपा था। अब तक हमें यही मालूम हुआ है कि उस समय तक इस छापेख़ाने का नाम 'मतबा सैयद उल अखबार' नहीं था। मैं इसके बारे में आज से दस वर्ष पहले 'आजकल' में एक लेख प्रकाशित कर चुका हूँ। सन् १८४७ में 'मतबा सैयद उल अख़बार' से जब सर सैयद ने 'आसारुस्सनादीद' (दिल्ली का इतिहास) छापी तो उसमें ग़ालिब के गद्य का बड़ा चयन प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने ग़ालिब की महानता और बड़ाई का उल्लेख किया और ऐसी बातें दूसरे कवियों के सम्बन्ध में नहीं लिखीं। उनकी इस बात का बहुत महत्त्व है।

सर सैयद उस समय तक आही और अहमद के नाम से फ़ारसी में शेर भी कहते थे। मगर इसकी ओर अधिक ध्यान न था। सर सैयद ने १८४७ में दिल्ली की जो कहानी 'आसारुस्सनादीद' के नाम से लिखी थी उसके चतुर्थ भाग की पृष्ठ संख्या १६८ पर ग़ालिब के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "राक़िम आसिम को जो ऐतक़ाद उनकी ख़िदमत में है उसका बयान न क़ुदरत तक़रीर में है और न आहतये तहरीर में आ सकता है।"

"हृदय से हृदय को राह होती है।"

उन हज़रत को भी शफ़क्क़त है। राक़िम के हाल पर है शायद अपने बुज़ुर्गों की तरफ़ से कोई मरतबा, इसका मशाहिदा किया होगा। मैं अपने ऐतक़ाद में उनके एक हर्फ़ को बेहतर एक किताब से और उनके एक गुल को बेहतर एक गुलज़ार से जानता हूँ और अगर देखा जाए तो हक़ भी यही है खुशाज़ हाल उन लोगों पर जो आपकी ख़िदमत व बरक़त से मुसतफ़ीद होते हैं और जवाहर गिरानुमा यह कि आपसे हासिल करते हैं। ग़ालिब ने 'आसारुस्सनादीद' पर एक छोटा-सा लेख भी लिखा है। ग़ालिब आँख बन्द करके पुराने कवियों की तरह बड़ाई का बयान नहीं करते थे। मगर इस लेख में ग़ालिब ने सर सैयद की बड़ी प्रशंसा की है।

लगभग एक वर्ष के पश्चात् सर सैयद ने एक पुस्तक "कौले मतीन दर अबताल हरकते ज़मीन" लिखी; और यह पुस्तक भी 'मतबा सैयद उल अख़बार' से १८४८ में छपी। इस पुस्तक में सर सैयद ने यह बताया है कि पृथ्वी रुकी हुई है घूमती नहीं है। बीस वर्ष बाद उनका यह विचार नहीं रहा था। उस समय उनकी किताब, जिसमें देहली का इतिहास और बड़े लोगों की जीवनियाँ थीं, बहुत प्रसिद्ध हुई। और ऐसा मालूम होता है कि इसके अंग्रेज़ी अनुवाद का प्रयत्न भी किया गया। इस किताब की बड़ी प्रशंसा और चर्चा हुई। इस किताब की भाषा कठिन थी। बीस वर्ष बाद का उनका गद्य बहुत सरल है। इस पुस्तक के लिखने की शैली और ढंग बड़ा सजीव था। इसकी ओर कुछ लोगों ने ध्यान आर्कषित किया और बताया कि इतिहास की पुस्तक में लिखने का यह ढंग अच्छा नहीं लगता है। कुछ लोगों का कथन है कि यह कठिन भाषा-शैली इमाम बख्श सहबाई की देन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग़ालिब ने इस शैली को सराहा नहीं होगा। वह उस ज़माने के आसपास उर्दू में पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखना आरम्भ कर चुके थे जिसके ढँग और अदा ने उनको अपने मित्रों की मंडली में प्रिय बना दिया था। १८५४ तक सर सैयद 'आसारुस्सनादीद' के प्रसिद्ध होने के कारण इसको दूसरी बार लिखने में लीन थे। अब १८५४-५५ में जब इसका नया संस्करण प्रकाशित हुआ तो दिल्ली वाला भाग इसमें शामिल नहीं था। बनवाली दास की राजवंशावली के ढंग पर १८५२ में उन्होंने एक पुस्तक 'सिलसिलतुलमुलूक' के नाम से छापी।

१८५७ से पूर्व अधिकारियों में भारत के इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ा शौक़ मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासकार ईलियट ने एक पत्र सर सैयद को उनकी किताब 'जामे जम' (१८४०) के प्रकाशित होने के बाद लिखा था। यह पत्र उनकी किसी पत्रावली में शामिल नहीं है।

अबुल फ़ज़ल की लिखी 'आईने-अकबरी' में हर बात और हर वस्तु के बारे में इतनी जानकारी दी गई थी जिसके कारण यह बहुत प्रसिद्ध हुई। सर सैयद ने समय की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए इसको बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् प्रकाशित किया। प्राचीन पुस्तकों को सम्पादित करने का जो अब ढंग आम है उस सिलसिले में सर सैयद ने जैसी खोज और महान् दृष्टि का प्रमाण दिया है उससे मालूम होता है कि उनको इतिहास और विद्या की महानता का कितना ज्ञान था। 'आईने-अकबरी' को ठीक-ठीक उचित रूप से प्रकाशित करने के बाद सर सैयद अहमद ने अपने पुराने मेल-जोल के अनुसार ग़ालिब से आलोचना करने को कहा। हम समझते हैं कि इन दस वर्षों में ग़ालिब से सर सैयद के सम्बन्ध बहुत बढ़ चुके होंगे। और उसमें कुछ बेतकल्लुफ़ी भी आ गई होगी। ग़ालिब ने भी उनका कहा पूरा किया। मगर सर सैयद ने जब उस आलोचना को देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

●

ग़ालिब को अपने एक मुकदमे के सिलसिले में कलकत्ते की यात्रा करनी पड़ी। ग़ालिब अपनी जवानी का जोश लेकर कलकत्ते गये। उन्नीसवीं शताब्दी का कलकत्ता हिन्दुस्तान की राजनैतिक और औद्योगिक राजधानी बन चुका था। ग़ालिब ने जब होश सँभाला, अपनी आर्थिक दशा का सम्बन्ध कम्पनी की हुकूमत से बँधा पाया। ग़ालिब के चचा मिर्ज़ा नसरुल्ला बेग ने १८०३ में लार्ड लेक का साथ दिया था। ग़ालिब बहुत छोटे थे जब उनके पिता मर गए थे। १८०३ के ढाई वर्ष के बाद ग़ालिब के चचा भी मर गए। ग़ालिब की देखभाल वही करते थे। उनके भतीजे होने की बिना पर ग़ालिब को भी कुल साढ़े सात सौ रुपये वार्षिक की पेन्शन उनके हिस्से में आई। ग़ालिब जब बड़े हुए तब उन्होंने अन्याय समझकर इस निर्णय के अनुरोध में अदालत का दरवाज़ा खटखटाया ससुराल वालों से लड़े, कलकत्ता गये, मगर सिवाय ऋण बढ़ने के कुछ न मिला, जिसका गालिब के व्यक्तित्व और काव्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह कलकत्ता से तो निराश होकर लौटे, मगर कलकत्ता में फिरंगी सुन्दरता और अंग्रेज़ी राज नीति से प्रभावित हुए बिना न रह सके, इसकी कसक और आँच उनकी कविता में मिल जाती है। ग़ालिब देहली में रहे मगर ज़ौक़ के जीवन में राजकवि न हो सके। हाँ ज़ौक़ की मृत्यु के बाद उनको यह पद मिला। लेकिन यमुना में बहुत पानी बह चुका था। लाल किले में जिस भाषा और बोल चाल के जिस ढंग की माँग थी उसे ग़ालिब ने दूर से सलाम किया। अपने मित्र हकीम अहसन उल्लाह खाँ की कोशिश से ग़ालिब १८५० में मुगलकालीन इतिहास लिखने पर नौकर हो गए।

ऐतिहासिक खोज का काम उन्होंने खुद नहीं किया मगर उनकी दृष्टि बड़ी थी। उन्हें इतिहास की रोशनी में इस सूरज के डूबने का ख़याल हो गया था। कई वर्ष बाद आदम से लेकर हुमायूं बादशाह तक का इतिहास 'मेहरेनीमरोज़' के नाम से १८५४-५५ में छपा। सर सैयद इस समय 'आईने अकबरी' का काम आरम्भ कर चुके थे। डॉ० अशरफ़ के कथनानुसार ग़ालिब अब इतिहासकार के रूप में सामने आए। मुगल इतिहास का दूसरा भाग जो अकबर से बहादुरशाह तक के हालात पर होता वह अभी लिखा ही जा रहा था कि वह चौदहवीं का चाँद, १८५७ के बादलों में डूब गया।

लाल किले में भी कभी दरबार होते थे। उसके बारे में १८५४ में ग़ालिब का विचार यह था; काज़ी अब्दुल जमील जुनून बरेलवी को लिखते हैं :

"किले में शहज़ादगाने तैमूरिया जमा होकर कुछ गज़ल ख्वानी कर लेते हैं······यह सोहबत खुद चन्द रोज़ा इसको दवाम कहाँ क्या मालूम है अब के वर्ष में हो अब हो तो आयन्दा न हो।"

ग़ालिब के विचार ठीक थे। १८५७ में यह सभा उखड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई और उजड़ गई। अंग्रेज़ी राजनीति के बारे में उनके विचार उच्च तथा भावपूर्ण थे। वह अपने विद्वान और प्रिय मित्र नबी बख़्श हक़ीर को अक्तूबर १८५३ के एक पत्र में लिखते हैं :

"लैफ़्टीनेंट गवर्नर (थामसन) बरेली में मर गए। देखिए उनकी जगह पर कौन मुक़र्रर होता है। देखो इस क़ौम का क्या इन्तज़ाम है। हिन्दुस्तान का कोई इतना बड़ा अमीर मरा होता तब क्या इन्क़लाब हो जाता। यहाँ किसी के कान पर जूँ भी नहीं फिरती कि क्या हुआ और कौन मर गया।"

याद रहे कि ग़ालिब हक़ीर की सूझ-बूझ और ज्ञान को बहुत मानते थे।

●

सर सैयद ने जब 'आईने-अकबरी' प्रकाशित की तो हमें मालूम है कि ग़ालिब 'आईने-अकबरी' से परिचित थे। उसी समय एक पण्डितजी ज्वालानाथ अलीगढ़ का इतिहास लिख रहे थे। ग़ालिब उस समय मुग़ल इतिहास लिखने पर नौकर थे। उन्होंने ग़ालिब से पूछा तो ग़ालिब ने लिखा कि जो कुछ पण्डितजी ने 'आईने-अकबरी' देखकर लिखा है उससे कहीं अधिक हाथ नहीं आएगा। सर सैयद जब 'आईने-अकबरी' को प्रकाशित करने में संलग्न थे तो उनको आशा थी कि इस परिश्रम और जाँफ़िशानी की दाद लोग देंगे।

सर सैयद ने 'आईने-अकबरी' में वस्तुओं, इन्सानों, जानवरों, वृक्षों के चित्र बनवाने में जो खकेड़ उठाई थी वह शोध के इतिहास का बेमिसाल कारनामा है। उसमें उनके जीवन का एक हिस्सा लग गया था। 'आईने-अकबरी' बड़ी सुन्दर छपी। यह १८५६ में देहली से छपी और अब बहुत कम मिलती है। सर सैयद को आशा थी कि ग़ालिब इस काम को अच्छा ही बताएँगे, मगर ग़ालिब ने पीठ ठोकने के बजाय कविता के रूप में एक अनोखी आलोचना की। ग़ालिब ने कहा मुझे तुमसे दोस्ती है धोखा क्यों दूँ। ग़ालिब ने लिखा यह तुमने एक पुरानी किताब को ठीक छापने के लिए बेकार मेहनत की। देखो कलकत्ता और लन्दन की ओर दृष्टि उठाओ वहाँ इस नई क़ौम ने नये साहस और नये बल को खोज लिया है। जीवन के ढंग और ढब और डौल बदल रहे हैं। शब्दों की उड़ान कितनी तेज हो गई है। जल के बल पर जहाज़ चल रहे हैं। रातों को रौशन कर दिया है। नये विज्ञान मनुष्य ने पढ़ लिए हैं।

इस आलोचना में वैज्ञानिक सच्चाई अपनी उच्चता पर है। कविता का जादू छाया हुआ है। यह कविता फ़ारसी में है इसलिए मैं इसे छोड़ता हूँ। सर सैयद ने जब इस आलोचना को पढ़ा तो उन्हें अपने परिश्रम की इस दाद पर शिकायत हुई। और उन्होंने यह कविता अपनी किताब में शामिल नहीं की। वह ग़ालिब से रूठ गए। चन्द महीने बाद १८५७ के आन्दोलन ने ग़ालिब की बात को सच कर दिखाया। ११ मई को जब क्रान्ति-सेना देहली की ओर बढ़ी तब उनको यह मालूम नहीं था कि तार के द्वारा उनके आने का समाचार पंजाब पहुँच चुका था।

क्रान्ति का यह महान् आन्दोलन नाकाम हुआ। सर सैयद ने बड़े साहस से इसे बग़ावत कहा और इसके 'कारण' इसी समय लिखकर छापे। सर सैयद ग़ालिब की कलकत्ता यात्रा के ३५ वर्ष पश्चात् कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्होंने उस शक्ति को अपने आप देखा जिसकी ओर ग़ालिब ध्यान दिला चुके थे। सर सैयद वहाँ से लौटे तब १८६४ में ग़ाज़ीपुर आकर 'साइंटिफ़िक सोसायटी' बनाई; और ऐलान किया कि इस सभा का धर्म से कोई सम्बन्ध न होगा। उनका धर्म देश-सेवा था। अब उनके आन्दोलन परिवर्तन के विचारों से रौशन थे। १८७० में जब सर सैयद लन्दन से लौटकर आये तो वहाँ से तहज़ीब उल इख़्लाक़ को (उपहार) और कालिज का विचार साथ लाये। तहज़ीब उल इख़्लाक ऐसा रिसाला था जिसमें समाज-सुधार और वैज्ञानिक विचारों की चर्चा होती थी। वह सर सैयद, जो धरती के जमे हुए होने पर जमे थे, अब बदल चुके थे। मेरा विचार है कि ग़ालिब ने अपनी कविता में जो बड़े-बड़े प्रश्न उठाये हैं उनसे सर सैयद की मानसिक भावना अवश्य ही परेशान और रौशन हुई होगी। वैज्ञानिक और विद्वान जितना प्रश्न से पहचाना जा सकता है उतना उत्तर से अन्दाज़ा नहीं होता है। सर सैयद अपनी ज़हनी तबदीली के बारे में एक जगह लिखते हैं :

"बहुत लोग दुनिया के इन्क़लाबों को देखते हैं और कम हैं जो इस पर ग़ौर करते हैं। मगर बहुत कम हैं जो ख़ुद अपने ख़्यालात के इन्क़लाबों को देखें और इनके सबबों को समझें और सोचें। और अगर कोई शख़्स अपनी तमाम ज़िन्दगी की बातों को याद करे और समझे, तो जानेगा कि इसके ख़्यालात में ऐसे अजीब इन्क़लाब हुए हैं कि वैसे दुनिया की किसी और चीज में नहीं हुए। अगर पहला ख़याल बग़ैर सोचे-समझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकलीदो एतक़ादो तमद्दुनो मुआशरत की वजह से क़ायम हुआ था। फिर इसी तरह और इन ही असबाब से इसमें इन्क़लाब हुआ है तो ख़याल हो सकता है कि दोनों बेहूदा और अगर इन दोनों के लिए या दोनों में से एक के लिए कोई माक़ूल बिना थी तो इसके सबबों पर ग़ौर करना और इस बात को समझना कि पहले ख़यालात किस बात पर मबनी थे और हाल के ख्यालात किस बात पर मबनी है। और इन दोनों बिनाओं में से कौन-सी बिना ज़्यादातर सच और ज़्यादातर मुसतहकम है। इन्सान के लिए ज़्यादा मुफ़ीद है।

("तसानीफ़े अहमदिया, भाग पहला १८८३ अलीगढ़")

आज हम सर सैयद के क्रान्तिकारी इदारों और विद्यालयों को देख रहे हैं। उसके पीछे किसी गुरु के महान् विचारों का दिया तो नहीं जल रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च और
ीद है।
लीगढ़")
विद्यालयों
चारों का

तुम्हें हम वली समझते

रियाज़ पंजाबी

ख्वाज़ा अलताफ़ हुसैन हाली उर्दू साहित्य के अच्छे जीवनी-लेखक माने जाते हैं, लेकिन जीवनी-लेखन के साथ उन्होंने पूरा-पूरा इंसाफ़ नहीं किया—जिस तरह कि उर्दू साहित्य के दूसरे जीवनी-लेखकों ने जीवनी-लेखन के साथ इंसाफ़ नहीं किया है। अबुल कलाम आज़ाद ने हाली के बारे में लिखा है कि हाली जीवनी-लेखन को नितान्त प्रशंसा करना समझते थे और वे पसन्द नहीं करते थे कि अशोभनीय घटनाओं का विवरण दिया जाए। हालांकि हाली की 'यादगारे ग़ालिब' मिर्ज़ा ग़ालिब पर प्रामाणिक और मानी हुई पुस्तक है लेकिन यह सच है कि 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय बहुत सारी घटनाओं और हालात को जाने-अनजाने में हाली ने छिपाया है। वैसे भी मिर्ज़ा ग़ालिब पर अधिकतर आलोचनाएँ प्रशंसात्मक ढंग से हुई हैं। चर्चा चाहे ग़ालिब के काव्य की हो या उनके व्यक्तित्व की, दोनों ओर से लक्ष्य यह है कि ग़ालिब की प्रशंसा की जाए। हालाँकि ग़ालिब के व्यक्तित्व पर लिखते समय यदि इनके जीवन की तमाम हालात और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाए (वे शोभनीय हों या अशोभनीय) तो उससे इनकी ख्याति में कमी नहीं आयेगी बल्कि इनके व्यक्तित्व को समझने में आसानी होगी।

ग़ालिब का व्यक्तित्व वैसे भी उनके पत्रों के आईने में साफ़ देखा जा सकता है। लेकिन हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि ग़ालिब को एक महान् कवि घोषित करने के साथ-साथ एक महान् व्यक्ति भी प्रमाणित किया जाय। हाली के अधिकतर प्रयत्न यही रहे हैं कि ग़ालिब को एक देवता समान, चरित्रवान, पवित्र और स्वाभिमानी व्यक्ति बनाकर पेश किया जाय (हालाँकि कमज़ोरियाँ, बुराइयाँ व्यक्ति में आवश्यक हैं) इस सिलसिले में यह बात दिलचस्पी से खाली न होगी कि हाली के वक्तव्य स्वयं कई जगह एक-दूसरे से टक्टर खाते हैं। उदाहरण के लिए हाली लिखते हैं, "बावजूद कि मिर्ज़ा की आमदनी और मक़दूर बहुत कम था मगर हिफ़्ज़वोवज़ा और खुददारी को कभी हाथ से न जाने देते थे, शहर के उमराओ ओमाइद से बराबर की मुलाक़ात थी···अमायदे शहर में जो लोग इनके मकान पर नहीं आते थे वे भी कभी उनके मकान पर नहीं जाते थे" (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ६४)। और दूसरी जगह ख्वाजा हाली लिखते हैं···"मिर्ज़ा की सारी उम्र कसीदागोई और मदहासराई में गुज़री क्योंकि ज़रूरत इंसान से सब कुछ कराती है," (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ७५)। इसका मतलब यह हुआ कि हाली एक तरफ़ ग़ालिब को प्रशंसक, गुणगायक और वजीफ़ाख्वार भी दिखाना चाहते हैं और दूसरी ओर अत्यंत स्वाभिमानी भी। यह एक आम मनोवैज्ञानिक बात है कि एक आदमी जो अपने स्वाभिमान, वज़ादारी को कायम रखना चाहता हो किसी दूसरे आदमी की अर्थहीन प्रशंसा और गुणगान नहीं करेगा चाहे वह हाकिमे-वक्त ही क्यों न हो। धनार्जन और वजीफ़ा पाने के लिए कसीदाख्वानी तो दूर की बात रही। यह बात तो ग़ालिब के बारे में साफ़ है कि उन्होंने अमीरों और बड़े लोगों को प्रसन्न करने के लिए गुणगान भी किया और पुरस्कार प्राप्त करने के लिए नवाबों, राजाओं, महाराजाओं और बादशाहों का गुणगान भी किया। मिर्ज़ा ग़ालिब स्वयं इस फ़िक्र में रहते थे कि कब और कहाँ किस धनवान के यहाँ दरबार हो रहा है या जश्न मनाया जा रहा है ताकि वे भी वहाँ उपस्थित रहें। और खुशामदपसन्दों और चापलूसों में शामिल होकर कुछ धनार्जन करें या पुरस्कार पाएँ। यह बात ग़ालिब के कई पत्रों से बिल्कुल साफ हो जाती है कि अगर किसी जगह इनको न बुलाया जाता था तो वे खुद ही एक-आध क़सीदा रवाना कर देते थे।

ग़ालिब यदि केवल बहादुरशाह ज़फ़र की क़सीदाख्वानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गुणगान करते तो शायद इसे उनकी अक़ीदत दिली मोहब्बत और गम्भीरता कहा जाता, लेकिन दूसरे नवाबों-महाराजों और १८५७ के बाद अंग्रेज़ों के गुणगान और कसीदाख्वानी से यह बात साबित हो जाती है कि ग़ालिब पेशेवर क़िस्म के प्रशस्तिगायक थे। मुख्यत: १८५७ के बाद अंग्रेज़ अफसरों और गवर्नरों के दरबारों में पहुँचने के लिए ग़ालिब के दौड़-धूप करने से यह बात और भी साफ हो जाती है। यह बात और भी आश्चर्यजनक और विचित्र है और खासतौर से ग़ालिब के व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकती है कि प्रारम्भ में ग़ालिब ने ग़दर की कत्ल-ओ-ग़ारत और खूनी नज़ारों और अंग्रेज़ों के अकारण अत्याचार और जुल्म का ज़िक्र तो किया है लेकिन बाद में इन्हीं दरबारों तक पहुँचने के लिए दौड़-धूप की है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन अहमद खाँ अलाई के खत में अंग्रेज़ों के अत्याचार और क़त्ल-ओ-ग़ारत के अलावा वे एक क़ता भी लिखते हैं जिसका एक शेर यह है :

चौक जिसको कहे वो मक़तल है
घर बना है नमूना ज़िन्दा का

और यही ग़ालिब सर राबर्ट मिन्टगुमरी लेफ्टेनेंट गवर्नर पंजाब के दरबार में, जो ग़दर के बाद ३ मार्च १८६३ में दिल्ली में हुआ था, मौजूद थे। आप स्वयं लिखते हैं : "जनाब लेफ्टेनेंट गवर्नर बहादुर ने दरबार किया, मेरी ताज़ीम और मेरे हाल पर लुत्फ़-ओ-इनायत मेरी ख्वाहिश और तसव्वुर से ज़्यादा मफज़ूल की।"

—ग़ालिब के पत्र

ग़ालिब अपने आक़ा और शहंशाह बहादुरशाह ज़फ़र, जिनकी तारीफ और गुणगान करते आपकी ज़बान नहीं थकती थी, का अंत अंग्रेजों के हाथों देख ही चुके थे। लेकिन उसके तुरन्त बाद आप अंग्रेज़ों के गुणगायक बन गये। ग़ालिब इस बात की फिक्र में रहते थे किसी अंग्रेज़ अफसर के यहाँ कब दरबार हो और खुद ही हाज़िरी देने के लिए पहुँच जाया करते थे। अक्सर अपने दोस्तों से पत्रों में बराबर पूछा करते थे कि कब और कहाँ दरबार होगा ? कौन-कौन उपस्थित होगा··· "गवर्नर का हाल लिखो। कौन-कौन हाज़िर हुआ, किस-किसकी मुलाक़ात हुई ? फर्रुखसैर और दादा साहब आए या नहीं ? अगर आए तो रुदादे मुफ़स्सल लिखो।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ९३

ग़ालिब को कुछ लोगों ने १८५७ का वीर सेनानी भी साबित करने की पूरी कोशिश की है। कुछ लोगों ने इन्हें भी साम्राज्यवाद का दुश्मन और अंग्रेज़-विरोधी कहने की कोशिश की है। यहाँ तक कि इस समय भी जो ग़ालिब के बारे में नये-नये लेख या किताबें प्रकाशित हो रही हैं इनमें भी कुछ लोगों ने इस बात की चर्चा की है। हालाँकि सत्य है कि ग़ालिब का १८५७ के विद्रोह से कोई सम्बन्ध न था। ग़ालिब को किसी बात की चिन्ता न थी, अगर चिन्ता थी तो इस बात की कि वे बेगुनाह रहें और उन पर कोई आरोप न लगने पाये। इसमें कोई शंका नहीं कि ग़ालिब को इस बात का दुःख था कि बादशाह कैद कर लिये गए, शहज़ादे क़त्ल हो गये, बेगुनाह को फाँसी पर लटकाया गया। लेकिन आचरण में उन्होंने किसी बात का सबूत नहीं दिया, बल्कि हम यह साफ-साफ कह सकते हैं कि ग़ालिब अपना दामन साफ बचा ले गये वरना ग़ालिब बादशाह के अच्छे और गहरे दोस्तों में से होने के उपरान्त भी पूछगछ और किसी तरह के संकट से न दो-चार होते। बादशाह के गुणगायक और प्रशंसक होने के नाते उन्हें कुछ-न-कुछ ज़रूर भुगतना पड़ता। ग़ालिब ग़दर के सिलसिले में लिखते हैं : "मुफस्सिल हालात लिखते हुए डरता हूँ। मुलाज़माने किला पर शिद्दत है और बाज़पुर्स में मुबतिला हैं। मगर वह नौकर जो इस हंगामे में नौकर हुए हैं और हंगामे में शरीक रहे हैं। मैं गरीब शायर दस बरस से तारीख लिखने और शेर को इस्लाह देने से मुतालिक़ हुआ हूँ ख्वाह इसको नौकरी समझो खाहि मज़दूरी जानो। इस फ़ितनाव आशोब में मैंने दखल नहीं दिया है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३

यहाँ यह बात और काबिले-ग़ौर है कि ग़ालिब ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ विद्रोह को 'हंगामा' कहा है, इसके अतिरिक्त एक और ख़त में लिखते हैं : "बहरहाल खुदा का शुक्र है। बादशाही दफ्तर में मेरा कुछ शुमूल फरमाते हैं।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १६

दूसरे पत्र में लिखते हैं : "जनाब एडमिन्स्टन साहब बहादुर से सूरत आशना नहीं, कभी मैंने उनको देखा भी नहीं। खतों की मेरी-इनकी मुलाक़ात है। और नामोपयाम की बात है जब कोई नवाब गवर्नर जनरल बहादुर नये आते तो मेरी तरफ से एक क़सीदा बतरीक़े नज़र जाता है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ३

सबसे खेदजनक ग़ालिब का वह कसीदा है जो उन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महारानी विक्टोरिया की शान में लिखा है और जिसमें अंग्रेज़ों की औपनिवेशिकता पर बहुत उत्साह और बेहद प्रसन्नता का परिचय दिया है : "हाँ साहब एक बात और है, और वह महले ग़ौर है। मैंने हज़रत मलका मुअज़मा इंगलिस्तान की मदह में एक कसीदा इन दिनों लिखा है, 'तहेनयत फ़तेह और अमलदारी शाही' साठ बैयत है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ २२९

जुआ खेलने के सिलसिले में ग़ालिब की गिरफ्तारी को आधारहीन कहा गया है और कुछ लोगों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शहर के दारोग़ा ने केवल व्यक्तिगत शत्रुता के कारण ग़ालिब को गिरफ्तार कर लिया था और उन पर जुआ खेलने का झूठा मुकदमा चला दिया था। अबुल कलाम आज़ाद ने इन बातों की अवहेलना की है। इन्होंने साफ-साफ लिख दिया है कि ग़ालिब ने अपने घर में जुआ खेलने का अड्डा स्थापित कर रखा था, जिसके आधार पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था और मुकद्दमा चलाया गया था। स्वयं ग़ालिब के एक पत्र से प्रकट होता है : "बूढ़ा हो गया हूँ फ़साद में नहीं पाया गया। और मैं हुक्काम के नज़दीक यहाँ तक पाक हूँ कि पेंशन की कैफ़ियत तलब हुई है। और मेरी कैफ़ियत का ज़िक्र नहीं है। यानी सब जानते हैं कि इसमें लगाव (हंगामा करने वालों से) न था।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८-३९

ग़दर के बाद ग़ालिब ने अंग्रेज अफ़सरों और हाकिमों के सामने अपने-आपको बेगुनाह और दयनीय साबित करने की पूरी कोशिश की है। अपने लिए सिफारिशें कराईं। मुंशी हरगोपाल तुफ़्ता के नाम एक पत्र में लिखते हैं : "भाई मुंशी नबी बख़्श के नाम का ख़त पढ़कर उनको दे देना और इसका मज़मून मालूम कर लेना। जिस हाकिम को मैंने यह ख़त और रुक्का भेजा है इसके सररिश्तेदार कोई साहब हैं, मनफ़ूल इनका नाम है मुझसे अशनाए महज़ है। अगर ताअरुफ़ होता तो इस्तदुआ करता कि इस तहरीर को पेश कीजिए। काश तुमसे आशनाई होती तो तुम ही ऊपर-ऊपर एक लिखकर उनको भेज देते कि ग़ालिब एक फ़कीर, गोशानशीं और बेगुनाहे महज़ और वाजिबुर्रहम है इसके हुसूले मतालिब में सआी से दरेग़ न करना।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८

ग़दर के बाद ग़ालिब ध्यानपूर्वक अंग्रेज़ों की खुशामद में लग गये थे। और अंग्रेजों की शान में व्यावसायिक गुणगान और यशोगान शुरू कर दिया था। गवर्नरों और दूसरे उच्च अधिकारियों की शान में क़सीदे लिख-लिख कर उनको भेज दिया करते थे। "चीफ़ कमिश्नर पंजाब को यह किताब भेज चुका हूँ और नवाब गवर्नर की नज़र और सिकत्तरियों की नज़र ये पारसल आज रवाना हो जाएँगे। देखूँ चीफ़ कमिश्नर क्या लिखते हैं और गवर्नर क्या। सरकारे अंग्रेज़ी में बड़ा पाया रखता था। रईसज़ादों में गिना जाता था, पूरा खलद पाता था। अब बदनाम हो गया हूँ। एक बहुत बड़ा धब्बा लग गया है। किसी रियासत में दख़ल नहीं कर सकता, मगर उस्ताद या पीर या मद्दाह बनकर राहो-रस्म पैदा करूँ, कुछ फ़ायद उठाऊँ, कुछ अपने किसी अजीज़ को वहाँ दाखिल करदूँ। देखो क्या सूरत पैदा होती है।" —ग़ालिब के पत्र, पृ० ११३

ग़ुलाम रसूल मेहर ने, जिसने ग़ालिब के पत्रों का सम्पादन किया है, 'बदनाम हो गया हूँ और धब्बा लग गया है' के बारे में लिखा है कि इशारा सम्भवतः ग़ालिब की गिरफ़्तारी की तरफ़ है जो जुआ खेलने के सन्दर्भ में हुई थी।

ग़ालिब के शराब पीने के बारे में कुछ कहना सारहीन है। परन्तु यहाँ पर भी हमारे बहुत-से आलोचकों और जीवन-लेखकों ने ग़ालिब का अकारण पक्ष लिया है। वे मानने के लिए तैयार तो हैं कि ग़ालिब पक्के शराबी थे, लेकिन उनके कथनानुसार ग़ालिब इसे बुरा भी समझते थे। हालाँकि यह बात बुद्धिगम्य नहीं है कि एक आदमी एक काम को बुरा भी समझे और करता भी रहे, अगर कोई खास मजबूरी न हो। हाली लिखते हैं कि ग़ालिब यद्यपि पक्के किस्म के शराबी थे मगर विश्वास में इसको बुरा समझते थे। हमारे विचार से यह हाली की व्यर्थ प्रशंसा और तारीफ़ है।

आज जबकि विश्वव्यापी स्तर पर ग़ालिब शताब्दी मनाई जा रही है, हमारा उद्देश्य ग़ालिब पर कीचड़ उछालना और सारहीन आलोचना करना नहीं है। बल्कि हमारा उद्देश्य उनके व्यक्तित्व के उन पक्षों का उद्घाटन करना है जिसको बहुत-से लोग पर्दे के पीछे छिपाकर रखना चाहते हैं। ग़ालिब की शायरी खुली वास्तविकता है जिसे कोई नकार नहीं सकता। एक कवि की हैसियत से इनका जो स्थान है उसे कोई कवि इनकार नहीं कर सकता। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ग़ालिब जितने महान् कवि हों उतने ही बड़े व्यक्ति भी हों।

अनु० : असग़र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : हिन्दी में

राजेन्द्र शर्मा

दीवान-ए-ग़ालिब (दोनों लिपियों में)

सम्पादक : अली सरदार जाफ़री

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, ३-ए, नाज़ बिल्डिंग, बम्बई-४

प्रकाशन-तिथि : १९५८

पृष्ठ संख्या : ५२१। भूमिका ४५ पृष्ठ, दीवान ३८५ पृष्ठ, फुटकल ८३ पृष्ठ

उर्दू-हिन्दी शब्दकोश ८२ पृष्ठ (दूसरे खण्ड में)

विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक भूमिका। उर्दू अक्षरों को नागरी लिपि में लिखने की विशेष विधि का प्रयोग। मुद्रण कलापूर्ण। बहुमूल्य राज संस्करण।

ग़ालिब की कविता

लेखक : कृष्णदेव प्रसाद गौड़

प्रकाशक : प्रसाद परिषद्, वाराणसी

प्रकाशन तिथि : नवंबर १९५७

पृष्ठ संख्या : ५६७

विस्तृत भूमिका। ग़ालिब के मूल्यांकन में डा० बिजनौरी से मतभेद।

दीवान-ए-ग़ालिब की विद्वत्तापूर्ण टीका। पत्र-चयन।

'चिराग़े-दौर' से १५ शेर।

हिन्दी में ग़ालिब के उर्दू दीवान का सबसे प्रामाणिक और पूर्ण संस्करण।

ग़ालिब-उग्र

व्याख्याकार : पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

प्रकाशक : रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चांदनी चौक, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९६६

पृष्ठ संख्या : ६०६

सचित्र। टेल-पीसेज़। 'अंजन' शीर्षक भूमिका। लगा... प्रत्येक शेर का अर्थ, संदर्भ सहित। शब्दार्थ अलग से... टीकाएँ उग्रजी की अपनी शैली में—काव्यात्मक, सं... संक्षिप्त; विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में; व्याख्या शै... मज़ेदार। कहीं-कहीं तुलसीदास की समानान्तर पंक्ति... उद्धृत। बहुमूल्य राज संस्करण।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : ओंकार शरद तथा महमूद 'हुनर'

प्रकाशक : लहर प्रकाशन, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५४

दूसरा परिवर्धित संस्करण : १९५८

पृष्ठ संख्या : १२६

संक्षिप्त भूमिका। फ़ारसी-अरबी शब्दों के अर्थ। टिप्पणियां...

दीवाने ग़ालिब

सम्पादक : मुग़नी अहरोहवी व नूर नबी अब्बासी

प्रकाशक : नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९५७

पृष्ठ संख्या : १८९

संक्षिप्त जीवनी। कविता। शब्दार्थ। एक चित्र।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : चैनसुख 'बेताब'

प्रकाशक : देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली।

प्रथम संस्करण : १९५९

जीवन और कला ७ पृष्ठ। कलाम १०७ पृष्ठ। फार... अरबी शब्दों के अर्थ।

दीवान-ए-ग़ालिब

संपादक एवं व्याख्याता : बलजीत सिंह 'मतीर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक : श्यामजी पब्लिकेशन्स, मथुरा रोड, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६४
पृष्ठ संख्या : २५५

ग़ालिब के पत्र : प्रथम भाग

लिप्यंतरकार तथा संपादक : श्रीराम शर्मा, रामनिवास शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : १९५८
पृष्ठ संख्या : ५७२
१७ व्यक्तियों के नाम पत्र। आरम्भ में भूमिका। अन्त में शब्दार्थ। व्याख्यात्मक पाद टिप्पणियाँ।

ग़ालिब के पत्र : दूसरा भाग

लिप्यंतरकार : डॉ० श्रीराम शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
प्रथम संस्करण : १९६३
पृष्ठ संख्या : ५११
४८ व्यक्तियों के नाम पत्र। ३ पत्र अज्ञात व्यक्तियों के नाम। भूमिका। दो परिशिष्ट : ग़ालिब की संक्षिप्त जीवनी और पत्र प्राप्तकर्ताओं की जीवनी।

ग़ालिब : जीवनी तथा कविता

लेखक : दयाकृष्ण गंजूर
प्रकाशक : दयाकृष्ण गंजूर, ८, लाल बाग, लखनऊ
प्रकाशन तिथि नहीं दी गई है। अनुमानतः १९५२ के आस-पास।
भूमिका : श्री लाल बहादुर शास्त्री
जीवनी। लतीफ़े। पत्र। ग़ज़लें। किते। रुबाइयाँ। कसीदे। सेहरा।

महाकवि ग़ालिब की गज़लें

व्याख्याकार : रामानुज लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
'दीवान-ए-ग़ालिब' से चुने हुए लगभग दो-तिहाई शेर और उनकी व्यवच्छेदात्मक व्याख्या। चयन और व्याख्या में सुरुचि तथा अन्तर्दृष्टि।

ग़ालिब : शाश्वत तृष्णा का कवि

लेखक : श्री रामनाथ 'सुमन'
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा कुंड, वाराणसी
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : ५११
जीवन भाग १८६ पृष्ठ। समीक्षा भाग १५० पृष्ठ। व्याख्या भाग : कुछ शेर व्याख्या सहित १३४ पृष्ठ। काव्य भाग : दीवाने-ग़ालिब से चयन, क़सीदे, मसनवी, क़ते, रुबाइयाँ, सेहरा, मर्सिया, स्फुट, नुस्खः हमीदयः से, अप्रकाशित काव्य आदि १७५ पृष्ठ।
परिशिष्ट : ग़ालिब के कुछ शागिर्द, गदर और बाद के जमाने की दिल्ली २८ पृष्ठ।
भावपूर्ण विवेचन की दृष्टि से उपयोगी ग्रन्थ।

मिर्ज़ा ग़ालिब

लेखक : मालिक राम, अनुवादक श्रीकान्त व्यास
प्रकाशक : नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६९
पृष्ठ संख्या : ९१
जीवन चरित ६३ पृष्ठ। ग़ालिब की कला ४५ पृष्ठ। विषयानुसार चुने हुए शेर २३ पृष्ठ।

ग़ालिब की शायरी

लेखक : ब्रज विहारी लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : मातृभाषा मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद
द्वितीय संस्करण : १९५५
पृष्ठ संख्या १८१। संक्षिप्त भूमिका। कुल गज़लें १८६, कसीदे ३, क़िते १६, रुबाइयाँ १८ और सेहरा।
छापे की ग़लतियों की भरमार। टिप्पणियों में लापरवाही।

मिर्ज़ा ग़ालिब : जीवनी और साहित्य

लेखक : रसूल अहमद अबोध
प्रकाशक : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : १०६
जीवन चरित, उर्दू कविता का सामान्य परिचय, ग़ालिब के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण, ११ पृष्ठों में चुने शेर और १६ पृष्ठों में पत्रों से चयन। सामान्य हिन्दी पाठकों की जानकारी के लिए सुगम पुस्तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : कवि और मानव

लेखक : अर्श मलसियानी

प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली

प्रकाशन तिथि : १९६८

पृष्ठ संख्या : १४६

प्रामाणिक जीवनी, शिष्यों के पत्र और 'दीवाने ग़ालिब' से कुछ चुनी हुई रचनाएं। दुर्लभ चित्रों से युक्त। सामान्य जानकारी देने वाली उपयोगी पुस्तक।

[सामान्य संकलन]

कविता-कौमुदी : उर्दू

सम्पादक : रामनरेश त्रिपाठी

प्रकाशक : नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई

प्रथम संस्करण : १९२५

प्रस्तावना लेखक : अमरनाथ झा

२६ पृष्ठों में ग़ालिब का जीवन चरित, काव्य-समीक्षा और उर्द कविताओं का संकलन। कुल चुने हुए शेर १३६।

ऐतिहासिक महत्त्व का काव्य-संग्रह। सर्वाधिक लोकप्रिय।

शेर-ओ-शायरी

लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९४८

भूमिका लेखक : महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन

ग़ालिब के जीवन और काव्य पर २६ पृष्ठों में विचार तथा कुछ शेरों की व्याख्या।

शेर-ओ-सुख़न : भाग १

लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९५१

८४ पृष्ठों में ग़ालिब संबंधी सामग्री। 'शेर-ओ-शायरी' से अतिरिक्त। कुछ शेरों की विदग्धतापूर्ण व्याख्या। विवेचन में रोचकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगले झूठ के लिए

मंगलेश डबराल

और मैं फिर मुड़ जाऊँगा

इस कमरे में, या इस शर्म में,
इस इतिहास में
कोई सूचना नहीं होगी
जहाँ मैं चिपकूँगा
आदतों वाले कोनों पर

गृहस्थी और बरतनों के बीच
जहाँ मेरा काला अतीत बज रहा है
और बूढ़े पिता की आँखों में
एक ईमानदार भविष्य अन्धा हो चुका है—
मैं फिर रुकूँगा :
यह जानने के लिए
कि मेरे अगले अपराध और अगले झूठ में
कविताएँ किस जगह हैं

पूरी सभ्यता और सौम्यता के साथ
फिलहाल
मैं एक आदमी की जगह खड़ा हूँ
पूजाघरों और वेश्याघरों के बीच
मैं सिर्फ मुट्ठी भर भीख के लिए
लड़ा हूँ
मोर्चों पर झोंके जाने से पहले
लोग एक-दूसरे के लिए
एक अजनबी भाषा गढ़ते हैं
और सम्बन्धों के नीचे
राष्ट्रीय गीत की तरह बजते हैं

पालतू भाषा और चमड़े की दूरी में
बीवियों की जाँघों में उतरते हुए—
घरों और घटनाओं के बीच अखबार फलाते
हुए—
अफसर की जेब में अपनी तरक्कियाँ
टटोलते हुए—
वे सब सुरक्षित हैं
और रोटी पर छेद करते हुए
अपने फर्ज़ और कर्ज़ के लिए चिन्तित हैं

मगर इस सारे माहौल के पीछे
किसी अफवाह का आक्रमण
शुरू नहीं हो रहा है
सिर्फ मेरे भीतर
एक दलाल है,
जो आदमी होने की गंदगी उछाल रहा है
और हर रोज पेशाबघरों में
नयी बीमारियाँ बहाकर
स्वास्थ्य-सेवा कर रहा है

वह किसी भी क्षण भजन करेगा
और लोगों को आपस में
जूते चलाते हुए देखेगा
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीजों के चेहरे मिटा देगा
और 'इच्छाओं की तरह साफ़' कामातुर
औरतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उत्तेजित हिजड़ों को
एक व्यवस्था के रूप में जुटा देगा

यह एक संस्कृति है,
जिसमें हर वेश्या अपना चरित्र माँज रही है
यह एक रोशनी है,
जहाँ मेरी भाषा अपनी नफ़रत को
तलवार की तरह माँज रही है

और यह इक्कीसवाँ अन्त है
मगर मैं जानता हूँ,
इस युद्ध के लिए मैं कहीं भी अन्तिम नहीं हूँ
इन शब्दों से, इस ऑफ़िस से
बाहर मरने के लिए

दरअसल, यह एक नुस्खा है
जो मेरा चेहरा है
अपने सम्पर्क चाट कर राष्ट्रीय होती हुई
सुविधाओं में
मैं अपनी भूख की जगह
वसन्त और हिमालय को खड़ा कर सकता हूँ
और देश का पेट पोस्टरों से भर सकता हूँ

दफ्तरों से उठा हुआ घमंड
कपड़े और अक्ल बदल रहा है
और पूरा देश
आँकड़ों की नस्ल में ढल रहा है

जहाँ अपने बच्चों को नारों की तरह इस्तेमाल
करते हुए—
या धूप को चबा-चबाकर थूकते हुए बूढ़े हैं,
सब्जियों से अधिक सड़ती हुई सभ्य औरतें हैं,
अखबार हैं,
सीढ़ियों और ओहदों से
चढ़ते-उतरते लोग हैं—
आभिजात्य-सभ्यता में
वहाँ मेरे सारे बटन टूट चुके हैं
मेरी लाचारी मेरी लत है
मैं अपनी बहस को एक बहाना बनाऊँगा
मैं फिर लौटूँगा
अपनी गरीबी और चापलूसी में

यह शर्म और यह आज़ादी लेकर
मैं ज़ोर-शोर से सहमत हो जाऊँगा
क्योंकि यह सहमति एक रोटी है
त्रिनेत्र का सूखता हुआ चेहरा नहीं है

प्रजातंत्र के फालिज बनने की प्रतीक्षा में
मैं अपनी देशभक्ति और अपने ही
नारों से डर रहा हूँ
मैं सड़क पार करने पर नहीं,
जीवित रहने पर कानून तोड़ रहा हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतन्त्र के लिहाफ में

त्रिनेत्र जोशी

अपनी-अपनी औकात में धँस जाने के बाद
आग का उभड़ आना और अँधेरे का छा जाना
कोई तलाश नहीं। हम सब फहराने को झेल रहे हैं
अपनी-अपनी खाइयों में दुबककर
घर से सरकार तक चरमरा रहे हैं
चौराहे पर खड़े उस व्यक्ति की खोज में
जिसने अभी-अभी देश को इशारा किया है

नालों की ओर खुले दरवाजे। अपने-अपने
छापेखानों के साथ
पंक्तियों में खड़े हैं। चेहरा। चेहरे के पीछे
चेहरा
एक और चेहरा। चेहरा और चेहरा…

मौसम के रंगों में नहीं दीखता वह। भागा जा
रहा है
झुग्गियों में। खण्डहरों में। अपनी बदसूरती में
अपनी कब्र चौड़ी करने के इरादे से पेट दबाकर
उघड़ गया है कीचड़
अपने लबादे की खुशहाली का बाजा बजाकर
समय को मेजों के नीचे दबा लेने की कोशिश में
व्यस्त भीड़। चबा रही है आदमी
और अपने-अपने भजन गा लेने के बाद
लोग दरवाज़ा फेरकर बाहर निकल आये हैं
तमाम रास्ते गरीबी पर आकर दम तोड़ते हैं

राष्ट्रगीत की धुन पर केवल झंडे की झूम लेने
की लत
अपने-अपने कूबड़ उठाये लोग
खिड़कियों से भीतर केवल इतिहास झाँक रहे हैं

वीएटनाम में फूटने वाले बम से
दादा की झुर्रियों में कोई फर्क नहीं पड़ता
वह दाँतों से मिट्टी पीस रहा है
और तमाम दाँत तोड़ लेने के बाद
चूरन बाँट रहा है

अनहोनी समझकर
एकदम अदालतों से छोड़ा गया है
हर बार आदमी। ढहती हुई दीवारों पर
आसीन कानून की आँख झपकते ही
घटना को आँखों पर सी लेने के बाद लोग
अपनी-अपनी बगलों में भूल दबाए लोग
तमाशा पी गए हैं

लोकतन्त्र के लिहाफ को
चाहे जिस तरह ओढ़ लें। खाली पेट को
सीढ़ियों पर लुढ़का देने का तरीका लेकर
लोग बराबर फूटे हैं
केवल जात रंग बदलती है। दिशाओं में
अब शाम नहीं। काम की तलाश में
लाचारी के नक्शे की फड़फड़ाहट
सीमाओं पर युद्ध बटोर रही है
विज्ञापन को जैसे चाहे खड़का लीजिए
पसीना चुनाव नहीं
बदबू देता है
तब अपनी-अपनी पसलियों के स्वर में
आदमी की चीख कोई लय नहीं देती
अपने-अपने दरवाज़ों पर पड़ी लाचारियाँ
आदमी की पहचान में
आईनों पर पीक थूकने लगती हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन कविता : अँधेरे से साक्षात्कार

सुरेन्द्र चौधरी

अपने परिवेश से संतुलन बनाने की जिस आन्तरिक काव्य-प्रक्रिया की शुरुआत नई पीढ़ी कर रही है उसके कई आवश्यक पहलुओं पर हमें विचार कर लेना चाहिए। समकालीन कविता का परिवेश ऊपरी तौर पर वही है जो नई कविता का था। मगर परिवर्त्तन एक अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। देश और काल के बदलते रूपों के साथ कवि की वह भावनात्मक दुनिया भी बदल जाती है जिसमें वह जीता है। युवा कवि का अन्तर्जगत् अपेक्षाकृत अधिक तीखे परिवर्त्तनों का शिकार हुआ है। बीस वर्षों के विकसित जनतंत्र की आन्तरिक दरिद्रता का साक्ष्य बना युवा कवि मूल्यों के प्रति आज यदि आश्वस्त नहीं है तो इसमें अकेला दोष उसका नहीं है। युवा कवि की खोज उस दुःस्वप्न के भीतर की उतनी नहीं है जितनी उससे चौंककर जागने के बाद की स्थिति की है। वैसे जाग्रत हालत में भी दुःस्वप्न की मानसिक जड़ता में तत्काल कोई परिवर्त्तन लक्षित कर पाना कठिन था। कुछ कवि इस मानसिक जड़ता की पीड़ा अब तक ढो रहे हैं। यही कारण है कि ऊपर से एक-से मुहावरे बोलने वाले कवियों का आन्तरिक रचना-संसार एक-सा नहीं है। अब तक कवियों की चर्चा में हमने सिर्फ़ मुहावरों का पीछा किया है, अब आवश्यकता इस बात की है कि हम इन मुहावरों से स्वतंत्र होकर कवियों की आन्तरिक दुनिया से साक्षात्कार करें।

परिवर्त्तन की जिस आन्तरिकता को समझने-समझाने की हज़ार कोशिशें चल रही हैं, उसकी रचना के भीतर विशेष स्थिति होती है। परिवर्त्तन की इस आन्तरिकता को सिर्फ़ उन मुहावरों, मुद्राओं, नारों और आन्दोलनों की राह आयत्त नहीं किया जा सकता जिनमें काल को स्थितियों में जड़ (freeze) कर दिया जाता है और आदमी को नैरंतर्य से तोड़कर केवल इन स्थगित स्थितियों में परिभाषित करने का आग्रह होता है। मैं इस पूरे प्रयत्न को बौद्धिक ह... से ज़्यादा कुछ नहीं मानता। पिछली पीढ़ी के अधूरे भाव... रुझान पर यहाँ बहस नहीं करूँगा, क्योंकि नई कविता ... आन्दोलन में एक ऐसा आत्मविरोध है जो उसके रचना... आशय को ही कहीं खंडित करता है। नई कविता में 'प... को स्थितियों में बदल दिया गया और कवि अपने... भावात्मक आसंगों सहित उस परिवेश (!) के अमूर्त... को लेकर रचना का वातावरण तैयार करता रहा। इस... प्रक्रिया में स्थितियों के जोड़ तो दीख पड़ते हैं, मगर... परिवेश कहीं रूपायित नहीं होता। यह भावनात्मक... मूलतः स्थितिजन्य था। चूँकि इस रचनात्मक प्रयत्न के... कोई मूर्त्त गोचर परिवेश संश्लिष्ट नहीं था, इसलिए... सिर्फ़ प्रतीक-संदर्भों और संकेतात्मक वातावरण से 'प... का काम ले लिया करता था।

हर रंग की मनःस्थितियाँ तो आईं, मगर उन... स्थितियों के पीछे अनुभव का कोई मूर्त्त संसार न था। ... ये मनःस्थितियाँ अपने भीतर ही कहीं नैरंतर्य बना... असमर्थ सिद्ध हुईं। 'अंधायुग' इसी असफल और खंडित... प्रवाह की एक लहर है। इस संपूर्ण पौराणिक प्रत्याख्या... भीतर आदमी के भोग की वह दुनिया अदृश्य है जिससे... दर्द सार्थक होता है। दूसरे शब्दों में मानवीय पीड़ा का... ही वहाँ अचीन्हा-सा है। वह दुनिया इस काव्य में एक ... ग़ायब है जिसकी टकराहटों के भीतर हमारा दर्द अर्थवा... सकता था। 'अंधायुग' में पीड़ा सिर्फ़ ध्वनित होती है। ... भाषा के स्तर पर ध्वनित होनेवाली यह पीड़ा किसी व्या... रत समाज के भीतर की नहीं है और न वह आज के ... की अपनी लड़ाइयों की है। वह इतिहास के बाहर की ... है जिसे पाठक ध्वनियों की राह पकड़ पाने के लिए ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अंधायुग' की तुलना में लगभग इसी काल में लिखी गई क्तिबोध की रचनाएँ अधिक कालावस्थित, प्रत्यक्ष और स्तविक हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं में वस्तुतः द्वन्द्व की क व्यापारपरक दुनिया है। दुःस्वप्नों, प्रतीकों और दूसरे रोक्ष माध्यमों के बावजूद उसकी द्वन्द्वात्मक वास्तविकता पर ई आँच नहीं आती। वह इस पाताललोक की तथ्यसूचना र नहीं है।

एक असंगत हो गई स्थिति का जैसा अर्थहीन रेह्टारिक धायुग है, वैसा तत्काल ढूँढ़ना मुश्किल होगा। अपने विचार-रिद्र आवेश में 'अंधायुग' और 'कुरुक्षेत्र' में कोई वास्तविक री नहीं है। साक्षात्कार का यह नाटकीय प्रकरण 'अंधायुग' प्रतीकात्मक और आत्मीय अंशों को भी प्रभाव-संभव हीं रहने देता। वस्तुतः संपूर्ण नई कविता में परिवेश को तावरण' से ज्यादा महत्त्व न देकर कवियों ने सिद्ध कर या है कि इस काव्यधारा पर परिवेश का वास्तविक चाप ही नहीं। यहाँ दर्द एक रहस्यमय आत्मपीड़न है और अपनी यावादी बिरादरी के संस्कार से बहुत अलग नहीं है।

'परिवेश' के जिस तीखे अन्तर्विरोध से आज के आदमी भोक्तृत्व बनता है, उसे नई कविता में परोक्ष स्पर्श की ह ग्रहण किया गया। अधिकांश कवियों का संभावना-प्न इस अन्तर्विरोध के चाप का सही-सही 'फ़ील' सम्प्रेषित नहीं कर पाता। **नई कविता परिवेश से जो स्वप्न-संघर्ष रती है उसका प्रमाण 'तीसरा सप्तक' की अधिकांश विताएँ हैं।** प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कुँवर नारायण और दूसरे कवियों का संघर्ष इससे गहरी वास्तविकता का भास भी नहीं देता। नया कवि परिवेश के भीतरी दबावों आयत्त नहीं कर पा रहा था। इन कवियों में बहुत कम हैं जिनकी बौद्धिक सजगता उनके आवेश को नियंत्रित रती है। यही कारण है कि एक स्थान पर संकलित होकर ये कवि आन्तरिक रूप से संगत और एकरूप काव्य-प्रक्रिया आभास नहीं देते। कविता के प्रति इनका 'एटीच्यूड' लकुल अलग-अलग है। इस अर्थ में ये 'राहों के अन्वेषी' नहीं हैं।

'६० के बाद की कविता-पीढ़ी ने न केवल एक आन्तरिक ल का आभास दिया, बल्कि अपनी शक्ति और सीमा में परिवर्त्तन को **'इफेक्ट'** किया। यह कार्य नई कविता के रे और कृत्रिम **'डिक्शन'** को तोड़कर ही संभव था। इसलिए युवा कवि अपने लिए न केवल एक नया काव्य-विधान चुनता है, बल्कि कविता का एक नया **'डिक्शन'** भी तैयार करता है। यह **'डिक्शन'** 'किञ्चित कविताओं' जैसा है जिसे काव्य-विडम्बना और मज़ाक के लिए नई कविता वाले छापा करते थे। क्या कारण है कि युवा पीढ़ी इस काव्य-विडम्बना को स्वीकार कर लेती है? **परिवेश से जुड़ने की लड़ाई में शायद यह उनका पहला हमलावर क़दम था।** आश्चर्य नहीं कि युवा पीढ़ी काव्य-विडम्बना के इस **डिक्शन** के प्रति **'डेड सीरियस'** है। एक व्यापक अंधेरे के भीतर जो लड़ाई शुरू हुई थी, उसमें विडम्बना की अनेक संभावनाएँ देखी गईं। बाद में कुछ खरी उतरीं, कुछ सामान्य और बचकाना साबित हुईं। आश्चर्य इसमें भी नहीं है कि नई कविता के बहुत-सारे कवियों को बाद में चलकर अपना ही काव्यात्मक ढाँचा बोझिल मालूम पड़ने लगा और उन्होंने युवा कवियों के मुहावरों और लटकों के प्रति समर्पण किया। यह युवा कवियों की विजय चाहे न हो, मगर नई कविता की काव्य-संवेदना की पराजय ज़रूर थी।

लड़ाई सिर्फ़ मुहावरों तक महदूद नहीं थी। वह मुहावरों की राह पूरी सर्जनात्मक चेतना में उतर रही थी। मुहावरों की सरहदों पर लड़ने वाले लोग धीरे-धीरे समय के अन्तराल में चले गए। कुँवर नारायण और प्रयाग नारायण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। **नई कविता की अन्तर्मन की यात्राएँ कवियों को जहाँ लाकर छोड़ गई थीं वह दुनिया अधूरे साक्षात्कार की दुनिया थी।** नई कविता के अधिकांश कवियों ने या तो अपनी नावें मोड़ लीं या फिर वे नदी के उस तीसरे किनारे पर सदा के लिए टिक गए जो अन्तहीन था। अधिकांश ऐसे कवियों की यात्रा का **अन्तर्प्रदेश** सूना साबित हुआ। **वे इस सूनेपन को एक आध्यात्मिक गरिमा देना चाहते थे, उसे 'व्यक्तित्व की खोज' और 'आत्मान्वेषण' के नाम से पुकार रहे थे।** मगर समय ने इन्हें इस तीसरे किनारे पर लाकर बेतरह छला था।

युवा कवियों के सम्मुख अनुभव का जो 'देश' या वह अपनी मूर्त्तता में आततायी था। फलतः सवाल इस ठोस, मूर्त्त और आततायी परिवेश से केवल भावना के भीतर टकराते रहने का नहीं था, उसे बदल देने का भी था। इन अन्त-र्यात्राओं की विफलता की पीड़ा को मूर्त्त करने के प्रयत्न में लगे हुए कवियों का आत्मसंघर्ष श्रीकान्त वर्मा और केदार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथ सिंह के अतिरिक्त विष्णुचन्द्र शर्मा में ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। ये तीन कवि अलग-अलग काव्य-छवियों में पहली बार इस परिवर्त्तन का संकेत देते हैं। परिवेश को आयत्त करने की काव्य-समस्या रचनात्मक समस्या हो जाती है। लगभग तेरह वर्ष के (आज़ादी के) अनुभवों के बाद युवा कवि इस आततायी परिवेश को प्रतीकों में बदल देने में अपने को असमर्थ आता है।

नई कविता में जिस तरह पीड़ा को सम्पूर्ण बना लेने का प्रयत्न है, युवा कवि उसे एक काव्यात्मक मुद्रा से अधिक कुछ नहीं मान पाता। यही कारण है कि उसका दर्द उससे बड़ा नहीं है। यही कारण है कि कविता में सपाटबयानी बढ़ती है। **यह सपाटबयानी कल्पित दर्द के रेह्टारिक को तोड़ने का सबसे नाटकीय और तात्कालिक माध्यम बन जाती है।** समस्या एक दूसरे स्तर पर फिर भी बनी रह जाती है। सपाटबयानी आवेश के निरर्थक अन्दाज़ को तोड़कर अगर कहीं स्थिर हो जाती है तो यह उसकी अशक्यता ही होती है। यह अशक्यता पहले रेह्टारिक को तोड़ती है फिर अपने को ही तोड़ते चलना उसकी नियति हो जाती है। कोई कवि मुहावरों के लँगड़े दरवाज़े से आसानी से फ़ैशन में आ जाता है और कविता को 'अनुभव की प्रामाणिकता' से छलने लगता है। आश्चर्य की बात नहीं है कि रातोंरात गीत लिखनेवाले कवि गद्य की पंक्तियाँ तोड़कर आततायी हो गए। इतना ही नहीं कि उनका काव्यात्मक संस्कार पुराना था, बल्कि यह भी कि ऐसे ही गीतकार अनुभव से निरापद रहकर आक्रोश का इज़हार करने लगे थे। **इनका आक्रोश एक सुविधाजनक 'डिक्शन' था (डिक्शन** से भी ज़्यादा अन्दाज़ेबयाँ)। स्पष्ट है कि जिस तरह कुछ छुटभैये छायावादी वेदना की वेदी पर बैठ कर अमर अभाव की पूजा करते हुए अनुभवशून्यता में जी लेते थे, उसी तरह हमारे ये छुटभैये अनुभव से असंपृक्त होकर भी आततायी हो गए। इस तरह समकालीन कविता का यह अहित हुआ कि रचना एक अन्दाज़ हो गई, और कविता लिखने में जो मशक्कत होती थी वह जाती रही।

इस स्थिति में अकविता और कविता की पहचान मुश्किल हो गई। किन्तु काव्यक्षेत्र में इस व्यापक संकट के बावजूद कुछ ऐसे सचेत कवि बच रहे थे जिन्हें इस विरोध का पूरा-पूरा एहसास था। वे अपनी रचना में पुराने **डिक्शन** को तोड़कर भी रचनात्मक गहराई और आत्मसंथन की रक्षा करना चाहते थे। वास्तविक रचनात्मक पीड़ा इन्हीं सचे[त] कवियों की थी और वास्तविक आत्म-संघर्ष भी ये ही कवि कर रहे थे। दूसरे लोगों के लिए आत्मसंघर्ष एक खुशनुमा मुहावरा भर था।

संतुलन के रचनात्मक प्रयत्नों को अपनाकर कुछ कवि बड़ी तत्परता और सजगता का परिचय देते हैं। इनके लि[ए] परिवेश न तो कलात्मक उपकरण मात्र है और न ऐसा बो[झ] ही जिसके नीचे दबकर उनकी काव्य-प्रतिमा दम तोड़ दे। अपने परिवेश के रूपान्तरों को बहुत सही ढंग से पहचानने [की] चेष्टा कर रहे थे। जिस कृत्रिम रूपान्तर में यह सामाजि[क] वितुलन पैदा हुआ था और कवि-मानस पर नए दबाव पै[दा] कर रहा था उसे सीधे आयत्त करने की समस्या काव्य [का] खतरा पैदा कर रही थी। अधिकांश कवि अपने वेग में [ब]ह गए थे और दिशाहीन हो गए थे। उनका यह विरोध कि[सी] नैतिक अथवा सविकल्प स्वीकार का परिणाम न था[;] व्यवस्था का विरोध करते हुए व्यवस्था के प्रश्न को ही नि[र]र्थक घोषित कर रहे थे। सामाजिक-सम्बन्धों की पुरा[नी] दुनिया नए परिवेश में लगभग नष्ट हो गई थी और [जो] दुनिया अनुभव के दायरे में आ रही थी वह निर्वैयक्ति[क,] सपाट और स्वार्थों के अलगाव की दुनिया थी। पुरानी दुनि[या] पर आधारित मूल्य कहीं गहराई में टूट गए थे। इन [दो] अलग-अलग विश्वों के अनुभव के भीतर काव्यात्मक संतुल[न] की रक्षा का सवाल बेहद संजीदा सवाल था। **इसे केव[ल] वे कवि ही ठीक-ठीक समझ पा रहे थे जिन्हें तात्कालिक[ता] के विरुद्ध इतिहास से अनुभव की गहराई ने जोड़ा था।** इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने [का] पर्याय था वे सिर्फ़ वक्त की बोली बोलने में लगे थे। ऐ[सी] स्थिति में नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक समस[्या] हो गई। इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा हमारी चेत[ना] पर टँका रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोल[कर] आत्मसंतोष कर बैठा। यह स्थिति नई पीढ़ी के लिए ही [ए]क रचनात्मक चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से (वेग कहें!) छली ज[ाए,] इससे दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति दूसरी नहीं हो सकती। कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता खड़ा हो गय[ा।] कुछेक ने तो अपने इस वेग को अनुभवसिद्ध बताने के [लि]ए शहीदाना अन्दाज़ अपना लिया। कविता के लिए शह[ीद]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी कविता के इतिहास में एक घटना बन गई। ग़लत नाम भी निराला और मुक्तिबोध के साथ जुड़ गए। काव्य-नाट्य का एक दृश्य यहीं समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला भी शायद यहीं से शुरू होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग (जैसे राजकमल का) तो समझा जा सकता है, मगर इस भावना का काव्यात्मक अनुकरण करने वालों का वेग कैसे समझा जाएगा ? समकालीन कवियों के एक बड़े समुदाय की दिशा-हीनता इसी वेग का परिणाम है। इस वेग की कव्यात्मक अभिव्यक्ति को पहचानने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आत्मोद्रेक की जो काव्य-शैली उस वेग से बनती है उसकी नाटकीयता ही उसकी माप है। यह आत्महीन अभिनय आत्मोद्रेक की 'लय' को कहीं तोड़ देता है, उसे ऊँचे स्वरों पर पहुँचाकर निरीह बना देता है या सपाट वक्तव्यों के जंगल में भटका दिया करता है। इस नाटकीयता में आत्म-साक्षात्कार के घनीभूत क्षण विरल ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण नाटकीय-शैली के नक़लची शायद ही उन घनीभूत क्षणों को पा सकेंगे जिनमें राजकमल का कवि एकांतभोक्ता के रूप में खड़ा है। राजकमल के लिए यह आत्मोद्रेक काव्य-शैली नहीं है, अनुभव का बंध (mode of experience) है। वैसे अनुभव का यह बंध उसकी कविता में संगति का अपहरण ही करता है।

कविता के भीतर आत्मविभाजन की यह तस्वीर पहली बार हमारे सम्मुख नहीं आई है। यह आत्मविभाजन बीस वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है। कहीं यह बुद्धि और भावना के विरोध के रूप में आया है तो कहीं काव्य-संवेदना में अनुभव और विचारों के विरोध के रूप में। संवेदनात्मक स्तर पर कवि के आत्मविभाजन का परिणाम आज की कविता की आंतरिक असंगति में व्यक्त होता है। अनुभव की तात्कालिकता और इतिहास का विरोध आज की कविता के सत्य को समझने का सही आधार प्रस्तुत करता है। नैतिक संकल्प के अभाव में विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज़्यादा कुछ नहीं बन पाता। जहाँ यह उन्माद दूसरों को तोड़ नहीं पाता, वहाँ अपने को ही तोड़ लिया करता है। राजकमल के साथ ऐसा ही हुआ।

वैसे यह आत्मविभाजन श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह के काव्य-व्यक्तित्व में भी उतना ही तीखा और स्पष्ट है। किन्तु ये दोनों ही कवि इस आत्मविभाजन की काव्यात्मक सार्थकता को समझते हैं। वे निर्णय की स्थिति में अपने को नहीं रखते, निर्णय की नैतिक तैयारी के लिए अपने को तत्पर बनाते चलते हैं। रघुवीर सहाय ने एक लम्बी छलांग लगाई है। यह एक साहसिक छलांग है। समय से जुड़ने का उनका यह बौद्धिक प्रयत्न है। इसके पीछे कोई गहरी भावनात्मक विवशता हो ऐसा मुझे नहीं लगता। संभव है मेरा अनुमान गलत हो।

इतिहास से जुड़ना कवि के लिए अचानक समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने और अपने सहजीवियों के प्रयत्न, भोग और सम्बन्ध के परिज्ञान में मूर्त्त करता है, यही समय से उसका रचनात्मक सम्बन्ध है। इसी तदाकृति के लिए कविता के भीतर वह संघर्ष करता है। **इतिहास को एक जीवन्त अनुभव की तरह देखने में और एक समस्या की तरह देखने में अन्तर है।** अधिकांश कवि जब इतिहास को (समय को कहें) समस्या बनाकर कविता कर रहे हों, तब कुछ कवियों का उससे दूरी बनाए रखना यह साबित करता है कि इतिहास उनके लिए समस्या नहीं अनुभव है। कुँवरनारायण के लिए इतिहास की रागात्मक अविच्छिन्नता की रक्षा करना एक समस्या है, प्रयागनारायण के लिए उस अनाहत नैरंतर्य की भव्यता की रक्षा एक समस्या है और विजयदेव नारायण के लिए उस नैरंतर्य के भीतरी मापों को पहचानना एक समस्या है। इस अर्थ में श्रीकांत वर्मा ने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से जो दूरी बनाए रखने की चेष्टा की है उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहूँगा। स्मृतियों और अर्द्धज्ञात तथ्यों से समय का चित्र वे नहीं बनाते और न उसे परोक्ष सत्यों से ही परिभाषित करते हैं। उनके लिए इतिहास एक अनुभव है और अनुभव-भोक्ता और भोग के विषय में द्वैत की स्वीकृति भी है। इसी द्वैत के भीतर यह दूरी होती है जिसे अनुभवों में कवि तय करता है। इतिहास को अनुभव में संश्लिष्ट करने के लिए श्रीकांत वर्मा ने एक स्पष्ट काव्यात्मक आधार तैयार किया है। उसे हम कवि की आस्था कहें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी संवेदनात्मक तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध से यह अलग पड़ने वाली चीज़ है। भीड़ की भावना के लिए सत्य का आभास काफ़ी होता है। कवि इस आभास से अपने को बहला नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य से साक्षात्कार करना उसकी नियति है।

इतिहास के प्रति कवि की दृष्टि औपचारिक नहीं होती। इतिहास को वह अपने छोटे-बड़े अनुभव-खंडों में सहेजता है, फिर उससे एक संश्लिष्ट रूप खड़ा करता है। गीतात्मक ढाँचे में भी इतिहास रूपायित हो सकता है, इसे शायद कुछ लोग मानने को तैयार न हों, मगर मुझे तो श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह की छोटी कविताओं में भी इतिहास की अन्तर्ध्वनियाँ सुनाई पड़ जाती हैं। उनकी तुलना में धर्मवीर भारती की प्रॉमैथ्यूज़ जैसी कविताएँ समय-संवेदना का आवेश भर व्यक्त करती हैं। व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में इतिहास साही की कविताओं में भी अन्तर्ध्वनित होता है। युवा कवियों में यही अन्तर्ध्वनि इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने का पर्याय था वे सिर्फ़ वक्त की बोली बोलने में लगे थे। नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक समस्या हो गई, इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा बना रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोलकर आत्मसंतोष से बहलने लग गया। यह स्थिति रचना के लिए एक खुली चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से छली जाने लगी। इससे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति कविता के लिए दूसरी नहीं हो सकती। भावना की गतियों का यह छल एक काव्यात्मक साधन बन गया। हर कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता हुआ उसकी दुहाई देने लग गया और तुर्रा यह कि अपने इस छद्म को सही साबित करने के लिए उसने शहीदों का बाना धारण किया। कविता के लिए शहादत सचमुच इतिहास में एक घटना है। ऐसे शहीद कवियों के लिए संवेदना बटोरना मेरा काम नहीं है। नाटक का एक दृश्य इस शहादत से समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला यहीं से शुरू भी होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग तो समझा जा सकता है मगर उसकी गति को समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह गति दिशा-निरपेक्ष होती है। समकालीन कवियों के एक अच्छे बड़े समूह की दिशाहीनता इसी वेग का परिणाम है। **इस भावनात्मक वेग के काव्यात्मक उपकरणों को पहचानना बहुत मुश्किल काम नहीं है।** आत्मोद्रेक की काव्यशैली इसी भावनात्मक वेग से बनती है। उसकी नाटकीयता में आत्मसाक्षात्कार के घनीभूत क्षण बिरले ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण काव्य-शैली के नकलची शायद ही उन घनोभूत क्षणों को पा सकेंगे जिनमें राजकमल का कवि अपने अनुभवों के सम्मुख अकेला था। फिर आत्मोद्रेक की यह काव्य-शैली वेग में जिस स्वाभाविक ढंग से अपने को तोड़ लेती है, आत्मक्षय करती है उसे दूसरे कहाँ पाएँगे। वे बन्दिशों को जोड़कर भी यह स्वाभाविक आत्म-विभाजन पैदा नहीं कर सकेंगे। राजकमल के लिए यह आत्मोद्रेक काव्य की शैली नहीं है, अनुभव का बंध है (mode of experience)। वैसे राजकमल में भी यह आत्मोद्रेक काव्य की संगति का अपहरण करता है।

कविता के भीतर आत्म-विभाजन की यह तस्वीर पहली बार हमारे सामने नहीं आई है। यह आत्म-विभाजन लगभग ३० वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है। आज की स्थिति में इसमें इतना भर अन्तर आया है कि पहले जहाँ यह आत्म-विभाजन बुद्धि और भावना के स्तर पर था वहाँ यह अब अनुभव के भीतर संवेदना के स्तर पर दिखलाई पड़ने लगा है। संवेदना के भीतर कवि के आत्मविभाजन का परिणाम आज की काव्यात्मक असंगति है। तात्कालिक अनुभवों में अपने को बाँधकर संतुष्ट हो जाना इसी काव्यात्मक असंगति को व्यक्त करता है। नैतिक संकल्प के अभाव में विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज़्यादा कुछ बन नहीं पाता। जहाँ वह दूसरों को तोड़ नहीं पाता वहाँ वह अपने को ही तोड़ कर संतुष्ट हो लेता है। आज के कवि की आत्महीनता का एक कारण यह उन्मादी भावना है जो अपनी ही गतियों से बार-बार छली गई है।

श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय से कुँवर नारायण की कविता अगर आज अलग पड़ने लगी है या प्रयाग नारायण त्रिपाठी इस पूरे प्रवाह से कट गए हैं तो इसलिए नहीं कि रचनात्मक स्तर पर इनमें कोई आधारभूत अन्तर है बल्कि इसलिए कि इतिहास के भीतर ये अपने को अलग-अलग प्रतिष्ठित अनुभव करते हैं। कुँवर नारायण के लिए इतिहास एक रागात्मक अविच्छिन्नता है, जबकि इस अनाहत नैरंतर्य की जड़ता को तोड़कर श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय समय की गतियों से जुड़ने का बौद्धिक प्रयत्न कर रहे हैं। प्रयागनारायण ने कविता को तिलांजलि देकर शायद उस अनाहत नैरंतर्य की रक्षा ही कर ली है। इतिहास से जुड़ने का अर्थ कवि के लिए अवाचक समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने एवं अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहजीवियों के प्रयत्नों, भोगों और संबंधों के परिज्ञान से मूर्त्त करता है। यही उसकी समय से रचनात्मक तदाकृति भी है और संघर्ष भी। श्रीकान्त वर्मा ने अपने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से दूरी बनाए रखने की जो चेष्टा की है उसके संबंध में दो शब्द कहना चाहूँगा। इतिहास के भीतर के तीखे अन्तर्विरोधों को पहचानने के लिए इतिहास से दूरी बनाए रखने की बात ऊपरी तौर पर सही है, मगर कवि अपने इतिहास को केवल बाहरी बनकर नहीं देखता—अपने अनुभव में उसे संश्लिष्ट करने के लिए एक काव्यात्मक आधार तैयार करता है। इसे हम कवि की आस्था कह लें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी कालबद्ध तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध की तरह न तो कवि उसे अपने से जोड़ता ही है और न उससे दूरी ही बनाता है। सत्य का आभास भीड़ की भावना के लिए पर्याप्त होता है। कवि इस आभास से अगर काम चलाने लगे तो उसे भीड़ की रूमानियत को ओढ़ लेनेवाला कहा जाएगा। विष्णुचन्द्र शर्मा, सौमित्र मोहन, भार्गव, कमलेश, धूमिल, मणि मधुकर, ऋतुराज, विनोदकुमार शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में सुनाई पड़ती है। कहीं यह एकालाप में, कहीं रिपोर्ताज़ में और कहीं शुद्ध कथात्मक काव्य-शैली में इसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। इन काव्य-शैलियों की ऐतिहासिक सार्थकता पर हम अलग से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अधिकांश कवियों में यह काव्य-शैली उत्तेजक, नाटकीय और आत्मोद्रेकपूर्ण है।

तात्कालिकता के संदर्भ में सम्पूर्ण जीवन-सत्य को प्रतिष्ठित करने वाली काव्य-दृष्टि को मैं खतरनाक मानता हूँ। इतिहास के भीतर और इतिहास के बाहर जीवन-सत्य को देखने वाली काव्य-दृष्टियाँ अपने-अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, मगर सिर्फ तात्कालिक संगति काव्य को न केवल सतही बना देती है, बल्कि उसे आयामहीन भी करती है। इस रचना-दृष्टि में एक आन्तरिक रिक्तता होती है। एक विकसित होते हुए जनतंत्र में यह आन्तरिक रिक्तता क्या किसी भयानक परिणाम का संकेत नहीं है? प्रजातन्त्र की आलोचना करता हुआ कवि इस आन्तरिक रिक्तका को अगर नहीं पकड़ पाता तो मानना पड़ेगा कि वह आवेश से खेल रहा है। और हमारा यह भावनात्मक आवेश व्यवस्था के लिए उतना खतरनाक नहीं है जितना खुद हमारे लिए है। इसी वस्तुस्थिति का संकेत करते हुए सर्वेश्वर ने लिखा है—

"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त
हमारा-तुम्हारा और सबका गुस्सा
जंगली सुअर की तरह तेजी से
सीधे दौड़ता हुआ निकल जाएगा—
और उस शिकार का कुछ नहीं बिगड़ पाएगा।"

आवेश आन्तरिक व्यर्थता का उत्तर नहीं है। देश के अभिशप्त प्रजातंत्र पर आज की कविता व्यंग्य हो या न हो मगर वह कवि की आन्तरिक व्यर्थता पर तो व्यंग्य है ही। इतिहास के इस पीड़ास्पद अनुभव से हमारी पीढ़ी ने क्या सीखा है? अपनी आन्तरिक व्यर्थता से वह क्या साक्षात्कार कर पा रही है? अगर करती है तो क्या वह आवेश से किसी भिन्न स्तर पर भी है? इतिहास का यह व्यंग्य अर्थ मुझे लगता है, विस्तार-सूचक उतना नहीं है जितना वह सीमा-सूचक है। इतिहास को वर्त्तमान में सीमित कर देने की यही काव्य-परिणति हो सकती है।

इतिहास के भीतर इस गहरी रिक्तता का बोध क्षोभ पैदा करता है। क्षोभ एक नैतिक प्रतिक्रिया है। मगर इस क्षोभ की दिशाहीनता उसे व्यर्थ कर देती है। आक्रामक से अधिक वह मारक है। **इस मारक लय का आभास क्या समकालीन कविता के पूरे तंत्र में व्याप्त नहीं है?** किसी भी कविता की चार-पाँच पंक्तियाँ उठाकर हम इस मारक लय को रेखांकित कर सकते हैं। धूमिल, जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में **यह मारक लय ही कविता का संरचनात्मक आधार बन जाती है।** मुझे इस मारक लय में भीड़ की उत्तेजना का भाव तो मिलता है, मगर **इतिहास से गहरी संलग्नता का बोध** नहीं होता। अतिरंजित और नाटकीय काव्य-शैलियाँ प्रगीतों की ऐकांतिकता को नष्ट कर रही हैं और इस मारक-लय को व्यर्थ बढ़ावा देकर कविता को सिर्फ़ वर्त्तमान में छटपटाने के लिए अभिशप्त छोड़ रही हैं।

इतिहास को निर्णय से परे रखकर कवि कर्म एक अधूरे साक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मैं यह नहीं कहता कि कवियों को इतिहास में एक निर्णयात्मक भूमिका निभाने के लिए विद्रोह को संगठित करने का भी कार्य करना चाहिए। किसी भी काल में कवि से ऐसी अपेक्षाएँ न रही हैं और न अपने समकालीन कवियों से ही हमें ऐसी अपेक्षाएँ हैं। मगर इतिहास को निर्णय से परे रखनेवाली काव्य-दृष्टि भी अधूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। छायावादी कविता की नियति से हम परिचित हैं। नई कविता का प्रत्यय-विरोध भी इसीलिए आत्मक्षयी सिद्ध हुआ। समकालीन कविता इसी समस्या से दूसरे ढंग से प्रभावित है। **इतिहास को वर्तमान में शिलीभूत कर समकालीन कवि इसी व्यर्थता का शिकार हो रहा है।** यह ठीक है कि समकालीन कवि के सम्मुख वर्त्तमान एक आततायी आकार में खड़ा है, अंधेरे में इस आततायी आकार की संभावनाएँ और बढ़ जाती हैं—वह अँधेरे घर का साँप हो जाता है! क्या यही कारण नहीं है कि आज की काव्य-शैलियाँ अपने एकालापी उन्माद में या आत्मोद्रेक में काव्य-विडंबनाएँ हो जाती हैं। इतने बड़े पैमाने पर किसी काव्य-पीढ़ी ने विडम्बना की शैली अपनाई हो ऐसा मुझे नहीं मिलता। आज की काव्य-वधिरता (क्योंकि हर आदमी सिर्फ बोलता है, सुनता कोई नहीं!) को ट्रैजिक से ज़्यादा comic मानना मुझे इसीलिए ज़्यादा सही मालूम पड़ता है। मगर इन अभावात्मक तथ्यों के बावजूद कुछ ऐसा है जो आज की कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वह है समकालीन कवि की देश और काल में गहरी दिलचस्पी। इस दिलचस्पी की नैतिक आधारशिला चाहे स्पष्ट न हो मगर जिस आन्तरिक क्षोभ से वह परिचालित है उसे अनैतिक मानने का कोई कारण मुझे नहीं दीखता! अँधेरे से बार-बार टकरानेवाली यह रचना-दृष्टि मॉकहिरोयिक नहीं है। अपने प्रयत्नों की आन्तरिक पीड़ा उसे सार्थक और सम्पन्न बनाती है। यह आन्तरिक पीड़ा एक जीवन्त समुदाय की पीड़ा है। इस पीड़ा के साथ जीवित रहने और संघर्ष करने के लिए हम अभिशप्त हैं। इस ऐतिहासिक स्थिति की करुणा हमारे सारे काव्य-प्रयत्न की प्राणशक्ति है—

इतिहास के अँधेरे में पड़ी हुई एक पूरी रचना-पीढ़ी निश्चित रूप से अपने लिए मार्ग चुन रही है। यह मार्ग जितना भी विकट हो, मगर हमारी मुक्ति का यही मार्ग है। अपने रास्ते के इस चुनाव में उसे जो संकट झेलना है उसके प्रति वह पूरी तरह सचेत है, ऐसा तो नहीं कहूँगा, मगर सामान्य रूप में उसकी तत्परता इसी का संकेत करती है। इतिहास एक आतंककारी अनुभव के रूप में यदि आज आयत्त किया जा रहा है तो इसमें आश्चर्य नहीं है। किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए समकालीन इतिहास का यह काल-खंड न केवल अपने अनिश्चय के कारण भयानक है, बल्कि यह भी कि इस अनिश्चय के प्रतिकार की अनिश्चयता भी एक ओर से हमें आत्म-विडम्बनाओं से भर देती है। कमलेश ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा है, "अक्सर ये कविताएँ आज की कविता की किसी संगत समस्या का सामना करती हुई नहीं लगतीं, इनसे कवि की संवेदना और उसके अभ्यास का ही पता चलता है।" इस अभ्यास की एकरूपता के पीछे क्या एक विडम्बना नहीं है? कई कवियों में यह विडम्बना पूरी काव्य-चेतना के भीतर से निःसृत है।

आज की कविता की संगत समस्याओं पर नज़र दें। मेरी दृष्टि में आज की कविता की केन्द्रीय समस्या अनुभव को कविता में संश्लिष्ट करने की है। मुद्राओं की जड़ता को तोड़कर तब तक उजागर नहीं किया जा सकता जब तक कविता में गतियों का स्वरूप स्पष्ट न हो। अनुभव से हीन स्थिति में भी काव्यमुद्राओं से कुछ कवि अपना काम चला लिया करते हैं, मगर रचना के क्रम में ये मुद्राएँ वास्तविक गतियों को इंगित नहीं कर पातीं। उनमें कहीं स्थिरता आ जाती है, कवि नई भाव-भूमि को तोड़ने के बदले केवल मुहावरे जोड़ने लगता है और अपनी काव्य-मुद्रा को दुहराता चलता है। युवा कवियों में कई ऐसे हैं जो लगातार वर्षों से रचना(!) में लगे रहने के बावजूद अपना विकास सूचित करने में असमर्थ रहे हैं। उनका काव्यजगत् व्यापारों से सर्वथा रिक्त है। फिर कविता में व्यापार केवल संज्ञ नहीं होते, उनकी संगति का एक भावात्मक धरातल होता है जो व्यापारों को एक संवेदनात्मक और संश्लिष्ट अर्थ प्रदान करता है। परिवेश को कविता में नाटकीय उपादान बनाकर रखना और उसके भावनात्मक संदर्भों का निर्माण कर लेना दो अलग-अलग परिणाम हैं। ज्याँ कॉक्तो ने अपनी आलोचनात्मक डायरी में ठीक ही लिखा है, "विषयों और संवेगों को अपरिचित संदर्भों में चित्रित करने के बावजूद एक अन्तःसंगति पैदा करने की कला कविता को नाटक से अलग करती है।" दृश्यकलाओं से कविता की अन्तःसंगति को अलगाए बिना नाटकीय उपादानों के प्रयोग में त्रुटियाँ आती हैं। समकालीन कवि अपने उपादानों के प्रति बहुत कम सचेत मालूम पड़ता है, इसीलिए कहीं रिपोर्ताज़ की गद्य-शैली को वह कविता में अपना लेता है, कहीं नाटकीय वक्तव्य की शैली अपनाता है और कहीं सीधे वक्तव्यों को कविता बना देने का दुस्साहसिक प्रयत्न करता मालूम पड़ता है। कथा का आभास देने वाली काव्य-शै

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैंटेसी से मिलाकर प्रस्तुत की जा रही है। इसके अतिरिक्त भी कई प्रचलित काव्यान्तर विधियाँ हैं जिनका उपयोग कविता में आज धड़ल्ले से कर लिया जाता है।

इससे कविता का ढाँचा तो तैयार हो जाता है, मगर काव्य-संवेदना में कहीं कोई विस्तार नहीं होता, प्रभाव में आत्मीय स्थिरता नहीं होती। उग्रता को शब्दों में बाँधकर तारे की तरह दुहराने वाले कवि इस संभ्रम के भीतर वस्तु-सत्य को नकारकर स्वप्न की भाषा बोलते हैं। इसलिए अनेक कवियों की तुलना में मुझे विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, धूमिल और ऋतुराज की कविताएँ, कविताएँ मालूम पड़ती हैं।

युवा कवि सिर्फ एक असफल होते हुए प्रजातन्त्र की पीड़ा के ही भागीदार नहीं हैं। वे इसके साथ-साथ एक व्यापक स्तर पर मनुष्य की आंतरिक व्यर्थता की पीड़ा भी झेल रहे हैं। इस अस्तित्ववादी 'नुआंस' की व्याख्या यहाँ गैरज़रूरी होगी। अपनी विडम्बना के प्रति सचेत होने का भाव इन्हें एक स्वतन्त्र काव्य-भूमिका देता है। यहाँ इतना ही कहना मैं काफी समझता हूँ कि इस पीड़ा के अनेक सन्दर्भ हैं। कहीं यह सन्दर्भ सामाजिक जीवन के भीतरी तनावों से बनता है, कहीं व्यवस्था के अन्तर्विरोध से और कहीं नितान्त भिन्न स्तर पर निजी संकट के भावात्मक बोध से। इस संकट की एक आत्मिक संगति भी है जिसे पश्चिमी मुहावरे में 'आत्मिक संकट' कहा जाता है।

आज की कविता की इन संगत समस्याओं से हर कवि अपने-अपने ढंग से साक्षात्कार करता है। यह ठीक है कि काव्यात्मक माध्यमों, शैलियों, संदर्भों के काव्योपकरणों में ये कवि एक-दूसरे से स्वतन्त्र और आत्मसम्भावनाशील हैं, किन्तु काव्य-संवेदना की ज़मीन इनमें लगभग एक है। इन कवियों की हैसियत एक व्यंग्यकार की नहीं है जो स्थितियों के अन्तर्विरोध के बाहर रहकर उसे उद्घाटित करता है। ये सारे कवि इस असंगति में अपने को कहीं वर्तमान अनुभव करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में गीतों की रचना सम्भव नहीं रह गई है, आज का काव्यजगत् इतना वैयक्तिक और निजी हो ही नहीं सकता। मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि आज की कविता भीड़ की कविता है। कविता इतनी व्यक्तित्वहीन भी नहीं हो सकती। अपनी आत्मीयता की रक्षा की लड़ाई में आज का कवि सबसे ज़्यादा संलग्न है।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय मुहावरों के बावजूद युवा-पीढ़ी भारतीय जीवन और वास्तविकता से असंपृक्त नहीं है। यह ठीक है कि भारतीय जीवन के पूरे विस्तार में यह काव्य-पीढ़ी नहीं गई (शायद कोई कविता-पीढ़ी नहीं गई) मगर इससे यह नहीं माना जा सकता कि भारतीय जीवन को उसने मूर्त्त करने की चेष्टा नहीं की है। असफल होता हुआ प्रजातंत्र, व्यवस्था की गिरती दीवारें, मूल्यों का सम्पूर्ण ध्वंस, फासिज़्म की जनमती परिस्थितियाँ और कई दूसरी भावनात्मक समस्याएँ आज के व्यक्ति को एक निर्णयात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर रही हैं। संत्रस्त वह कहीं भीतर से है। उसके संत्रास की कई दिशाएँ हैं, कई पहलू हैं। सबसे स्पष्ट बात तो यह है कि यह संत्रास युवा कवि के लिए अस्तित्व की मौलिक समस्या उतनी नहीं है जितनी वह एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर की है। आक्रोश इस संत्रास की ऐतिह्यता को मूर्त्त करता है।

हमारा युग नाटकीय परिवर्तनों का युग नहीं है। हर युवा स्वर की विवादी दीर्घता या संवादी स्वीकृति के बावजूद नाटकीय परिवर्तनों की यह दुनिया मुझे दीख नहीं पड़ती। **यह परिवर्तन एक कठोर वस्तुस्थिति के तनावों में ही अभी मूर्त्त हो रहा है।** स्थिति के भीतर के निष्करुण विरोध को नाटकीय मुद्राओं (गतियों) में बदल लेना एक काव्यात्मक उपचार-मात्र कहा जाएगा। मसलन एक कविता की इन पंक्तियों को देखें:

"सिगरेट/नुक्कड़/दुकान/सुबह
हर सुबह का रूप अलग/मगर परी/सोई रहती है गहरी नींद/ वह किसी दफ्तर में/दिन उदास शाम गुज़ारता है/मौके कम एक-दूसरे के पास होने के।"

—'आकाश के टुकड़े'

स्थिति के इस निष्करुण विरोध को वक्तव्य में दोहराना काव्य-शैली की समृद्धि नहीं है। ऐसे वक्तव्यों से काव्य की संरचना पुष्ट नहीं होती, भाषा का रचाव तीखा नहीं होता, किसी गहरी संवेदना का आभास नहीं होता। ऐसे ढाँचे में नाटकीय मुद्राएँ यदि भर भी दी जाएँ तो उनसे कविता में कोई घनत्व नहीं आ पाएगा। अनुभव की दुनिया को सहेज पाना, उसे संश्लिष्ट कर पाना साधारण महत्त्व की चीज़ नहीं है। सायास बिखराव की एक काव्य-शैली होती है, मगर असचेष्टता या अशक्यता के कारण उत्पन्न बिखराव की कोई काव्य-शैली आज तक नहीं बनी। बिखराव के भीतर न केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-प्रभाव नष्ट होता है, बल्कि यह भी कि काव्य-पाठ एक दुःखदायी विवशता बन जाता है।

परिवर्तनकारी कुछ घटित हो रहा है, मगर वह क्रान्तिकारी भी है ऐसा सहसा मालूम नहीं पड़ता। क्या निकट भविष्य में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन की कोई सम्भावना हम देख पा रहे हैं? या युवा कवि को कई पीढ़ियों तक यह अभिशाप झेलना पड़ेगा? ये प्रश्न केवल कविता के संदर्भ में ही सार्थक नहीं है, समस्त रचना-संदर्भ में सार्थक हैं। क्या परिवर्तन का यह संसार हमें दीख नहीं पड़ रहा है या कि वह कहीं तनावों में स्थगित है? अपने सारपास को एक बार गहरी नज़र से देखना होगा, तब कहीं हम उसके काव्य-सत्य तक पहुँच पाएँगे।

इस अवस्था के भीतर की जड़ता से आत्मसंघर्ष करता हुआ एक कवि कहता है—

शुरू करूँगा / अब तो मैं नये सिरे से शुरू करूँगा /
पाँवों की थकान के निशानों के आगे चलूंगा /
कीड़े की छटपटाहट को खत्म करूँगा /
स्याही भरूँगा बरसाती पानी में /
फिर से चलूंगा।

—'कोई शीर्षक नहीं।' —नवल

और एक उदाहरण—

रेंक-रेंक-रेंक करें /
क्या करें /
राम राम राम मरा /
मरा करें / या मारें / एक—एक को तकके /
क्या करें!"

—श्रीराम वर्मा

स्थिति का यह आलेख एक विकल्पात्मक मन का उद्‌गार मात्र नहीं है। इसके पीछे अनुभव का एक तीखापन भी है और परिस्थिति का बौद्धिक आकलन भी। यह अनुभव नाटकीय भी है और अन्तरंग वेग के कारण सघन भी। उदाहरण और भी इकट्ठे किए जा सकते हैं।

युवा कवि के आत्मविरोध को समझने के लिए उस मनोभूमि को पहचानना होगा जिसे मैंने अँधेरे से साक्षात्कार कहा है। आज की कविता के भीतर जो अन्तराल हैं वे इसी मनोभूमि के भीतर से झाँकते हैं। विरोध का यह संसार कितना क्रियात्मक है और कितना भावनात्मक इसकी परीक्षा स्वयं कविताओं से की जा सकती है। किसी के फ़तवे से यह संसार न तो ग़लत हो जाता है और न सही। विरोध की इस समकालीन वास्तविकता को रचनात्मक मनोभूमि या आधार बना कर ही हम उसकी परीक्षा करें तो अच्छा हो। कविता के भीतर अंतराल हर युग में रहते हैं और रहेंगे। मगर अपने निकटतम रचनात्मक परिवेश में हमें यह अन्तराल अधिक चौड़ा दिखलाई पड़ता है। यह अन्तराल समकालीन कविता में क्यों पैदा हो गया? इस प्रश्न को एक सनातन स्थिति या स्वाभाविक रचनात्मक परिस्थिति मानकर टाला नहीं जा सकता। जगत्-व्यापार और भाव-स्थितियों के तनाव की यह परिस्थिति एक पीढ़ी के रचनात्मक महत्त्व को स्थापित करती है। यों तो यह दूरी एक हद तक कविता के इतिहास में हर युग और हर स्तर पर देखी जा सकती है। जैसे तुलसी के मानस और विनयपत्रिका के पदों में यह दूरी है। कबीर के पदों और शबद-रमैनी में भी यह दूरी है। रीतिकाल के कवियों में यह दूरी 'हरि सुमिरन' का बहाना है और भारतेन्दु की कविता में यह दूरी एक ऐतिहासिक चेतना के अन्तर्विरोध को मूर्त्त करती है। छायावादी कवि इस अन्तराल को एक औपचारिक दर्शन से पाटना चाहता है। प्रगतिवादी कविता में इस अन्तराल का आभास शमशेर और मुक्तिबोध की काव्य-चेतना में मिलता है। नई कविता में ज़रूर एक कृत्रिम पुल बनाने की चेष्टा की गई है, मगर उस पुल पर कोई चला है ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

समकालीन कवि कविता के भीतर की इन खाइयों को पूरी ईमानदारी से स्वीकार करता है। यह खाई कवि के अनुभव और काव्यादर्शों के बीच की खाई है, साथ ही यह अनुभव के भीतर भी कहीं गहराई में झाँकती मालूम पड़ती है। श्रीकान्त वर्मा हों या केदारनाथ सिंह, विष्णुचन्द्र शर्मा हों या मुद्राराक्षस, कमलेश हों या धूमिल, ऋतुराज हों या मणिमधुकर इन सबमें यह अन्तराल किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। इसीलिए धूमिल की समस्या यह है कि उनकी फैक्टरी के सहकारी उनकी कविता नहीं समझते, और कमलेश की समस्या यह है कि वे झूठे आक्रोश की मुद्रा अपनी कविता में नहीं टाँक सकते।

रघुवीर सहाय ने ज़रूर इस खाई को पार करने के लिए एक लम्बी छलाँग लगाई है। सम्भावना और साहसिकता के काव्य-संदर्भ एक नहीं होते। अवश्य 'आत्महत्या के विरुद्ध'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि ने एव साहसिक छलाँग लगाई है। मगर यह भी संभव है कि अगले संग्रह में यह छलाँग एक असंगत स्थिति की साक्ष्य हो जाए। दोनों ही स्थितियों में यह एक दुःखद परिणाम होगा। इस संग्रह के बाद की कविताओं से ऐसा नहीं लगता कि कवि अपनी इस तेज़ गति की रक्षा कर पा रहा है। बाद की कविताओं में एक अनावश्यक ठहराव भर है। बल्कि इन कविताओं में लटके का ज़ोर और बढ़ गया है, परिदृश्य सँकरा होने लगा है और **सामान्य व्यापार-विरोधों को ही कवि ने अनावश्यक रूप से 'तेज़' करने की चेष्टा की है।** स्फीत नाटकीयता भावस्थिति को निरूपित ही करती चली गयी है। इसी तरह मणि मधुकर की लम्बी कविता 'खंड-खंड पाखंड पर्व' में एक कूलक्षयी वेग है जो अपने ही किनारों को काटता चलता है। कवि-कल्पना का गुण उसका नियंत्रित होना है। कल्पना अनियंत्रित होकर कविता के प्रकृत और संभावनामूलक प्रवाह को ही नष्ट कर देती है। परिदृश्य को तोड़ते चलना, व्यर्थ संगतियों (असंगों) से भरते चलना रचनात्मक कल्पना का अपव्यय है। यही कारण है कि अपने खंडों में संश्लिष्ट होकर भी यह लंबी कविता पूरे प्रभाव की ज़मीन पर बिखरी हुई मालूम पड़ती है। एक रिक्तता का तनावपूर्ण वातावरण ज़रूर इस कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। कमलेश की कविता 'जरत्कारु' अधिकांश एकालापी नाटकीय कविताओं से भिन्न है। वहाँ ज़रूर कवि-कल्पना भावात्मक विरोधों के लिए नियंत्रण का काम करती है। अपने नाटकीय-विधान के बावजूद श्रीराम वर्मा की लंबी कविता इस अन्तराल को पाटने के लिए कवि के आत्म-संघर्ष की तत्परता सूचित करती है।

समकालीन कविता के भीतर इन अन्तरालों का रह जाना एक रचनात्मक अनिवार्यता है। संपूर्ण भावनात्मक संश्लिष्टता जिस श्रेण्य साहित्य की उपलब्धि है, उसकी संभावनाएँ हमारी पीढ़ी अभी निर्मित कर रही है। वर्तमान स्थिति में द्वन्द्व और तनाव के साथ दूरियों का रह जाना स्वाभाविक है। कोई ईमानदार कवि इन दूरियों (अन्तरालों) से अपनी रक्षा कर ले, ऐसा संभव नहीं मालूम पड़ता। अज्ञेय अगर इस दृष्टि से आत्मपूर्ण मालूम पड़ते हैं तो इसका कारण यही है **कि वे इतिहास के बाहर एक संतुलन बना रहे हैं।**

समय के स्पर्श की छवियाँ जहाँ-जहाँ भी मिलेंगी, वहाँ-वहाँ यह आत्मविभाजन दीख जाएगा। चूँकि यह काव्यात्मक आत्मविभाजन समय और परिवेश से कवि के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का परिणाम है, इसलिए कोई स्वप्नजीवी ही अपने को इस विरोध से बचा ले जा सकता है। मगर जहाँ यह अन्तराल कवि की संवेदना से होकर काव्य के 'रूप' को प्रभावित करने लगता है, वहाँ ज़रूर यह कवि की रचनात्मक अशक्यता का प्रमाण बन जाता है। 'मुक्ति-प्रसंग' में यही रचनात्मक अशक्यता है और 'आत्महत्या के विरुद्ध' में उस लम्बी छलाँग के बावजूद यह रचनात्मक अशक्यता अन्तर्ध्वनित होती रह जाती है। यह स्थिति निश्चित रूप से कविता को कमज़ोर करती है और सर्जनात्मक बाधा के रूप में हमारे लिए विचारणीय बन जाती है। क्या कविता को भाषा के कोलाहलपूर्ण चमत्कार में बदलकर कोई कवि अपनी आत्मसंकुलता के इस भीतरी विरोध को बचा ले जा सकता है? क्या कविता के लिए यह 'मारक स्वर' इतना अनिवार्य है? इस मारक भाषा के ढाँचे पर भी थोड़ा विचार कर लेना यहाँ ज़रूरी है। कहीं-कहीं कवि भाषा को शब्द की इकाइयों में तोड़कर संकेतिकता या विवरण की सादगी पैदा करने की धुन में एक काव्यात्मक रैकेट तैयार करता है। काव्य-भाषा का यह 'बाज़ारूपन' अगर कुछ सचेत कवियों को असह्य लगता है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है! भाषा के इस दुरुपयोग से हम क्या कोई सीख ले रहे हैं या हम इस स्थिति को और गहरा बनाने की चुप्पी बरत रहे हैं? यह ठीक है कि शक्तिहीन मिथकों, प्रतीकों और बिम्बों के भार से मुक्त होकर हम सपाट गद्य-भाषा में कविता रच लेते हैं, मगर भाषा का यह नंगापन क्या काव्यभाषा की अक्षमता को ही सूचित नहीं करता? भाषा में आभिजात्य न हो, मगर काव्य का 'गस्टो' तो होना ही चाहिए। कुछ कवियों ने, खुशी है, इस ओर ध्यान दिया है। सर्वश्री विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, ऋतुराज और शिवकुटीलाल वर्मा की भाषा मुझे इस दृष्टि से ज्यादा साफ़ और प्रभावशाली मालूम पड़ती है।

अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा ठीक वही नहीं हो सकती जो छायावादी काव्य की थी या फिर नई कविता के भाववादी आत्मान्वेषण के समय में विकसित हुई। इन अलग-अलग उत्थानों में भाषा अवाचक स्थितियों में बँधी, मूड्स का शिकार हुई या अनावश्यक नाटकीयता के कारण अपनी निजता खो बैठी। उसका आवेशात्मक ढाँचा महज़ एक रेह्टारिकल उपचार भर था। आज भी भाषा पत्रकारिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्तेजक विवरणों से दूषित हो रही है। आज के एकालापी नाटकीय ढाँचे में तथ्य-सूचना चाहे जितनी हो मगर अंतरंग स्थितियों के अनुकूल वह नहीं है। इन एकालापों में जीवन्त वातावरण की भाषा का प्रयोग श्रीराम वर्मा, धूमिल और मणिमधुकर ज़रूर कर लेते हैं, मगर इन्हीं एकालापों में अधिकांश युवा कवि अपनी भावात्मक दरिद्रता का इज़हार भी कर रहे हैं। आरोह-अवरोह की सहज लय इन कविताओं की भाषा में नहीं है। नाटकीय संवादों की यह भाषा काव्य के बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। फिर भाषा की नाटकीयता मुक्तिबोध की कविताओं में भी तो है। अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा का आदर्श श्मशानी पीढ़ी के कवि नहीं हो सकते। अप्रासंगिक और चामत्कारिक सूचनाओं की भाषा को जो लोग नाटकीय मान रहे हैं उन्हें क्या कहा जाय ! भाषा का काव्यात्मक और आत्मीय रूप अभी स्थिर होना है।

अँधेरे से इस साक्षात्कार का परिणाम यह हुआ कि कवि ने स्वप्न देखना बन्द कर दिया है। उसकी समस्या अँधेरे में स्वप्न देखने की नहीं है, आँख खोलकर पूरी तत्परता से इस अँधेरे को काव्य में, रचना में झेलने की है। अपनी इस समस्या को वह समझता है और उसके प्रति सचेत है। अपनी आंतरिक कोलाहलपूर्णता के बावजूद समकालीन कविता केवल 'नैराश्य और संशय' की कविता नहीं है। वह निराशा और संशय से हमारी व्यापक लड़ाई को व्यंजित करने वाली है। समकालीन कविता का यही रचनात्मक संदर्भ है। यह ठीक है कि उसकी बनावट अन्तर्विरोधों से जुड़ी है, मगर अपनी इस बनावट में वह आज की गहरी मानवीय यातनाओं से भी जुड़ती है। एक कवि के शब्दों में कहना चाहूँगा—

कुछ दिन और अभी यही लगेगा/
रातों-रात बदल गए संबंधों से—
कल का सूर्य विकृत नहीं उगेगा/
कुछ भी नहीं होगा लांछित
सिर्फ
एक लावा / जो कुर्सियों के आसपास
फूटेगा /
नक्शा बदलने के लिए काफ़ी है।

—'इस व्यवस्था में

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा

मलयज

'आरम्भ' (जुलाई १९६८) में मैंने एक लेख लिखा था—'खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता', जिसमें श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संग्रह 'माया दर्पण' के बहाने समकालीन सर्जन-प्रक्रिया के कुछ पहलुओं का विश्लेषण किया गया था। उसमें श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा के सन्दर्भ में एक जगह 'इंटिग्रिटी' शब्द का मैंने इस्तेमाल किया था—कि श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा में कहीं फाँक है, उसमें अक्सर 'इंटिग्रिटी' नहीं रह जाती। 'इंटिग्रिटी' शब्द के अर्थ-सन्दर्भ की व्याख्या श्रीकांत वर्मा की काव्य-प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में मैंने की थी, पर अब लगता है कि वहाँ जो बात सिर्फ़ संकेतों में उठाकर छोड़ दी गई थी उस पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है।

अन्तर्निष्ठा ('इंटिग्रिटी') एक अर्थगर्भ शब्द है। इसमें यदि एक ओर नैतिक मूल्य-बोध की पहचान ध्वनित होती है तो दूसरी ओर यह शब्द मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्तित्व के भावनात्मक एवं बौद्धिक संवेगों की जटिल बनावट तथा इनके सन्तुलन को व्यक्त करने वाले अर्थ की भी छाप लिये हुए है। साहित्य अथवा कला की मीमांसा में जहाँ हमने और-और अनुशासनों के प्रत्यय लिये हैं वहीं नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान क्षेत्र से भी लिये हैं। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि साहित्य और कला भी अन्य शास्त्रों-अनुशासनों की तरह एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के ही अंग हैं। यह अवश्य है कि एक अनुशासन का प्रत्यय दूसरे अनुशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने पर अपने मूल अर्थ की सम्पूर्णतः रक्षा नहीं कर पाता, उस पर से अर्थ की कुछ परतें उतर जाती हैं और कुछ नई परतें चढ़ जाती हैं। 'अन्तर्निष्ठा' शब्द नैतिक अर्थ-संदर्भ में एक 'निर्णय' (जजमेंट) को सूचित करता है और मनोविज्ञान के अर्थ-संदर्भ में एक 'स्थिति' को। सर्जनात्मक साहित्य की विवेचना में अन्तर्निष्ठा का प्रत्यय इन दोनों ही अर्थच्छवियों को समेटकर चलता है। यहाँ अन्तर्निष्ठा के दोनों ही अर्थों को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति या कला पर लागू कर देखने पर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। कला की नैतिकता क्या है? सबसे पहली और सबसे आखिरी यह कि वह अपने अनुशासन पर दूसरा कोई अनुशासन हावी न होने दे। कला की उत्स-संवेदना और उसकी चरम अभिव्यक्ति के बीच अक्सर जो एक बीहड़ अन्तराल पाया जाता है उसके किसी भी बिन्दु या स्तर पर वह अपने प्रति सच्ची बनी रहे—जैसे घटाटोप अँधेरे में रोशनी की एक लौ पर टिकी अनझिप आँख होती है। इसे दूसरी तरह से कहें तो यह कि सर्जनात्मक तनाव बराबर बना रहे, क्योंकि सतत तनाव की स्थिति में ही आधुनिक कला अपने प्रति सच्ची बनी रह सकती है। और यह तनाव भी कैसा जो चरम अभिव्यक्ति के क्षण में ही कला-संवेदना को प्राग्-अभिव्यक्ति की आदिम स्थिति की ओर मोड़ दे। चाहें तो इसे तनाव की गतिशीलता कह सकते हैं, जो अन्तर्निष्ठा को उसके निर्णयात्मक मूल्य-बोधक अर्थ-संदर्भ से उठाकर सर्जनात्मकता के सतत गतिशील सन्तुलन-क्षेत्र में ला खड़ा करता है जहाँ उसका अर्थ कला-संवेदना की प्रकृति और आकृति का माप बताना मात्र न होकर उसमें हिस्सा लेना और उनके विभिन्न संघटनों-समवायों को सक्रिय प्रभावित करना भी हो जाता है। अर्थात् सर्जनात्मक प्रेरणा में अन्तर्निष्ठा एक 'निर्णय' भी है और एक 'स्थिति' भी। बल्कि यह कहना शायद ज्यादा संगत होगा कि सर्जनात्मक प्रेरणा में 'निर्णय' ही 'स्थिति' है, क्योंकि यह 'स्थिति' एक सतत गतिशीलता की स्थिति है और 'निर्णय' इस गतिशीलता को बरकरार रखने की भूमिका अदा करता है, क्योंकि वह सर्जनात्मकता की केन्द्रवर्ती धारा से तट की ओर वह आए कला-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदन की उपलब्धि को पुनः केन्द्रवर्ती धारा की अर्थपूर्ण अराजकता की ओर ढकेलने का कार्य-सम्पादन करता है। जैसे कि शब्द कला-संवेदना पर एक 'निर्णय' है, क्योंकि वह कला-संवेदना को परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध करके उसे एक अर्थवान संदर्भ प्रदान करता है। पर शब्द एक 'स्थिति' भी है, क्योंकि रचना में वह एक ऐसा पारदर्शी तत्त्व है जो अग्रिम संवेदना के आयाम में उस परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध अर्थ को गतिशील, अतः अराजक और संभावनापूर्ण बनाता है।

इस तरह कुल मिलाकर अन्तर्निष्ठा रचनाकार-व्यक्तित्व की संघटना-विशेष को ही व्यक्त करती है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का अर्थ अपेक्षाकृत अधिक जटिल और संश्लिष्ट हो जाता है। हम यह स्वीकार करके चलते हैं कि ऊपर हमने अन्तर्निष्ठा को जिस रूप में परिकल्पित किया है वह आधुनिक सर्जनशीलता के संदर्भ में उठे प्रश्नों को समझने तथा विश्लेषित करने में ही अधिक संगत एवं अर्थपूर्ण ठहरता है। अतः अन्तर्निष्ठा के इस विशेष अर्थ-बिन्दु से चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम यह कह सकते हैं कि रचनाकार-व्यक्तित्व की अन्तर्निष्ठा का यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्तित्व कला-सृजन के उपजीव्य भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण तथा सर्जित करता है, बल्कि यह है कि वह व्यक्तित्व सर्जनात्मक तनाव को सतत एक प्रतिक्षण विस्फोट होते रहने वाले प्रवाह के रूप में अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। यह सही है कि सर्जनात्मक तनाव का प्रत्यय सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी बहस के दौरान पिछले कुछ सालों से ही हिन्दी में प्रयुक्त होने लगा है, पर किसी भी युग के सार्थक रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण में सामान्य अर्थ में तो उसका प्रयोग किया ही जा सकता है। यहाँ वस्तुस्थिति का अन्तर 'सर्जनात्मक तनाव' शब्द के पहले प्रयुक्त न होने और अब होने लगने में उतना नहीं जितना कि सर्जनात्मक तनाव की प्रकृति में अन्तर आ जाने में है। इस अन्तर को नाट्य-रचना के एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। नाट्य-रचना का उदाहरण केवल इसलिए कि इसमें अन्य रचना-प्रकारों की बनिस्बत 'तनाव' अधिक मुखर रूप से निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है। प्राचीन नाट्य-रचनाओं में तनावपूर्ण गंभीर आशय वाले दृश्यों के बीच-बीच में अक्सर हल्के-फुल्के भिन्न स्तर के दृश्य होते थे जिन्हें 'कॉमिक रिलीफ़' के नाम से जाना जाता है। शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' में दो तनावपूर्ण दृश्यों के बीच 'पोर्टर नाकिंग सीन' या 'किंग लियर' के बीच-बीच में विदूषक वाले दृश्य इसी प्रकार के 'कॉमिक रिलीफ़' के दृश्य हैं। दो तनावपूर्ण स्थितियों के बीच का यह अन्तराल नाट्य-रचना के स्थूल आकार (और भावक पर पड़नेवाले उसके प्रभाव) में ही नहीं घटित होता, वरन् रचनाकार-व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता के स्तर पर भी घटित होता है। निश्चय ही सर्जनात्मकता के संपूर्ण 'स्वर' (टोन) में इससे कोई विसंवादी स्वर नहीं उत्पन्न होता, पर यह अन्तराल सर्जनात्मक तनाव की गतिशीलता के एक प्रकार के पठार को व्यक्त करता है। यह दूसरी बात है कि यह सब सप्रयोजन होता है, और प्रयोजन यह होता है कि यह अन्तराल रचना की मूल गंभीर एवं तनावपूर्ण भाव-विचार-संवेदना को और भी प्रबल और पुष्ट कर दे। यहाँ हमारा आशय केवल यह बताना है कि इस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव का प्रवाह अथवा संचरण-गति बहुत-कुछ विषय-वस्तु द्वारा उत्थान-पतन की दिशा में संचालित होती है; दूसरे शब्दों में यह कि उस सर्जनात्मक तनाव का स्रोत पूरी तरह रचनाकार के व्यक्तित्व के भीतर निहित नहीं होता, और यही कारण है कि वह उस तनाव को एक मूर्त, वस्तुपरक एवं व्यक्ति-निरपेक्ष रचना में संक्रमित कर सकता है, क्योंकि वह उस तनाव को नियंत्रित कर सकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की सर्जनात्मकता में रचनाकार भाव-विचार-संवेदन की स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करता है, इसी से उसके सर्जनात्मक तनाव का समाहार एक परिपूर्णता तथा समग्रता के प्रभाव में होता है। त्रासदी में यह परिपूर्णता करुणा अथवा निर्वेद के रूप में और सुखान्त में आह्लाद के रूप में होती है। प्रभाव के इस स्तर पर सर्जनात्मक प्रक्रिया अपनी यात्रा समाप्त कर एक गंतव्य तक पहुँची हुई होती है। भावक को वह अगली किसी संभावित यात्रा का संकेत देकर नहीं छोड़ती। हाँ, भावक चाहे तो यह एक बार तय की हुई यात्रा दुबारा अंत से आरम्भ की ओर फिर से शुरू कर सकता है। ऐसे में यह रचना-कृति की शक्ति और रचनाकार की प्रतिभा की महानता मानी जाएगी कि भावक यह यात्रा दुबारा करने को प्रेरित और बाध्य हो जाता है। इस 'उल्टी' यात्रा में अर्थ की प्रतीति और संवेदनाओं के प्रभाव-चिह्न और भी गहरे होते जाते हैं, कलाकृति का मर्म और भी सुदृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशद और गंभीर होता जाता है। एक अर्थ में भावक की कलाकृति की 'समझ' भी अधिक पैनी और गहरी होती जाती है। पर अन्ततः यह यात्रा एक पिछली तय की हुई यात्रा ही है। इसे चाहे जितनी बार दुहराओ उससे अनुभूति में कोई मूलभूत गुणात्मक परिवर्तन नहीं आयेगा, गहरा और क्लासिक-क्रिस्टल चाहे भले हो ले। सर्जनात्मक प्रश्नशीलता के जिस दौर से एक बार आप रचना में यात्रा करके गुज़र चुके हैं वह आपको बार-बार मथ सकती है केवल इसलिए कि आपके भाव-संवेदन अधिक पककर, अधिक तपकर एक परिपुष्ट धरातल तक पहुँच सकें; उस सर्जनात्मक प्रश्नशीलता में नया-नया विस्फोट नहीं होता रहेगा जो आपके भावसंवेदन को एक हमेशा आन्दोलित रहने की स्थिति में बनाये रख सके, कि आपको लगे कि यात्रा के दौरान आप प्रश्नशीलता के एक गह्वर से निकल कर दूसरे गह्वर में प्रवेश कर रहे हैं।

यह सतत आन्दोलित रख सकने की स्थिति जिस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव की अपेक्षा रखती है वह पहले प्रकार के सर्जनात्मक तनाव से भिन्न है। इलियट के 'मर्डर इन द कैथीड्रल' में की गई यात्रा का कोई अंत नहीं है। 'वेस्ट लैंड' (जो अपनी भाव-विचार-संवेदना में किसी भी त्रासदी की परिकल्पना का सारा विस्तार और संगठन लिए हुए है) का भी कोई अंत नहीं है—अंतिम प्रकरण के शान्ति-पाठ के बावजूद। इन कृतियों में सर्जनात्मकता के संचरण की गति एक सीधी रेखा के समान नहीं है जिसमें कि हर चरण प्रभाव को महज़ गहरा और पुष्ट करता जाता हो, वरन् चक्राकार है—उसकी छोटी-छोटी सर्किटें हैं जो टूट-टूटकर बनती हैं, बन-बनकर टूटती हैं—'इन माई बिगनिंग इज़ माई एंड', —यात्रा किसी भी सामंजस्य के धरातल पर समाप्त नहीं होती, बल्कि हमें आगे किसी अलक्ष्य अर्थ-संसार के अंधकार में छोड़ देती है।

सर्जनात्मक तनाव के इन दोनों प्रकारों को हिन्दी की कुछ विशिष्ट काव्य-कृतियों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है जो हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ अन्तर्निष्ठा और सर्जनात्मक तनाव के सम्बन्ध को कुछ और पहलुओं से भी देख लेना समीचीन होगा। यदि हम यह कहें कि जिस प्रकार की सर्जनात्मकता भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करती है उसमें भी अन्तर्निष्ठा हो सकती है, तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि रचनाकार का तनाव उसके नियंत्रण में है, उसकी भाव-संवेदनाओं को उसकी वस्तुपरक परिकल्पनाओं (जो 'मूल्य' सम्बन्धी भी हो सकती हैं और 'दृष्टि' सम्बन्धी भी) तथा रचना-विधागत संरचनात्मक अवधारणाओं का एक मूर्त। अमूर्त बाह्य ढाँचा (सुपरस्ट्रक्चर) घेरे हुए है और दोनों के बीच एक 'आकुल समानान्तरता' है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि उस सर्जनात्मक तनाव का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि भाव-संवेदनाओं और उस बाह्य ढाँचे में कोई परस्पर काट का द्वन्द्व अथवा अन्तःसंघर्ष है, बल्कि यह तनाव सिर्फ़ इसलिए है कि भाव-संवेदनाएँ उस बाह्य ढाँचे से सामंजस्य स्थापित करने को व्याकुल होती हैं—जैसे पानी अपने धरातल तक पहुँचने को व्याकुल होता है। यहाँ रचना में अन्तर्निष्ठा का मापदंड यह है कि वह व्याकुलता परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाप्त न हो, रचनाकार अपनी इस व्याकुलता से चाहे जितना 'खेले', चाहे कला-रूपों एवं शिल्प-प्रयोगों के कितने ही 'करतब' दिखाए, अंतिम प्रभाव-सृष्टि के लिए कितनी ही ऊँचाइयों और नीचाइयों में उसे पटके पर उस व्याकुलता को अपने हाथ से जाने न दे, उसकी आग में अपनी भावनाओं-कल्पनाओं की आहुति निरन्तर देता रहे, यानी उस व्याकुलता के सर्जनात्मक तनाव को हमेशा अपने वश में रखे। जहाँ ऐसा नहीं होता—जहाँ वह तनाव रचनाकार के वश में नहीं रह सकता—वहाँ सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है। इस प्रकार की सर्जनात्मकता में तनाव को वश में रख सकने में रचनाकार प्रायः अमूर्तन का सहारा लेता है—वह जीवनानुभवों को प्रत्यक्ष साक्षात्कार के स्तर पर नहीं झेलता / निबटता, बल्कि उन्हें हमेशा एक ऐसे दृष्टि-फ़्रेम के भीतर से ग्रहण करता है जिसके निर्माण में कभी उसकी 'मूल्य' सम्बन्धी मूर्त / अमूर्त धारणा काम कर रही होती है तो कभी 'मानव-आदर्शवाद' का उदात्त पक्ष। इसका यह मतलब नहीं है कि 'मूल्य' और 'आदर्शवाद' को वह अपनी जीवनानुभूतियों पर आरोपित करता है, बल्कि यह कि इनके माध्यम से ही—इनकी प्रक्रिया में से गुज़रते हुए ही—वह जीवनानुभवों को ग्रहण करता है। प्रयोगवाद—नयी कविता के दौर में 'सौंदर्यात्मक दूरी' की चर्चा अक्सर बलपूर्वक की जाती थी जो प्रकारान्तर से उस तनाव को वश में रख सकने की ही बात है। जो इस तनाव को वश में रख सकता था वह समर्थ-सफल रचनाकार होता था, जो नहीं रख पाता था वह सौन्दर्यच्युत असफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमर्थ। अज्ञेय द्वारा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रतिपादित 'तथ्य' और 'सत्य' के अन्तर को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जीवन के तीखे यथार्थ-अनुभव को झेलने में भी एक निर्वैयक्तिक कलाभिरुचि का परिचय देना होता था, रूपाकार से ही काव्य की आत्मा की महत्ता आँकी जाती थी, भाषा को संस्कार की आँच में तपना होता था, विह्वलता में भी छन्द और आवेश में भी लय का होना गुण था, बिखराव की अपेक्षा कसाव और चाहे एक बार लक्ष्य साफ़ न भी हो फिर भी भाव-सत्य की सफाई पर बल देना रचनाकार की शक्ति और सामर्थ्य के परख की कसौटी थी।

तनाव को वश में रख सकने और वश में न रख सकने की स्थिति के संदर्भ में नयी कविता-काल के दो कवियों—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा—की तुलना यहाँ प्रासंगिक और रोचक सिद्ध होगी। दोनों ही निम्नमध्य-वर्ग के घर-गृहस्थी, बीवी-बच्चे, चूल्हा-चक्की और टिकुली-बेंदी वाले कवि हैं, दोनों ही अपने 'दर्द' की अभिव्यक्ति के लिए दूर की कौड़ी नहीं लाते, बल्कि मानव-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों, स्थितियों-संदर्भों को चुनते हैं, यथार्थ के प्रति दोनों ही तीव्र भावानुभूति के स्तर पर प्रतिक्रिया करते हैं, दोनों की भाषा भी जनजीवन की बोलचाल की भाषा के निकट है। पर सर्वेश्वर कगार के अन्तिम बिन्दु तक जाकर भी लौट आने की होशियारी से वाकिफ़ हैं, जबकि लक्ष्मीकान्त अक्सर बेखबरी में खाई में ही जा गिरते हैं। एक तनाव को आवश्यक 'छूट' देते हुए भी उसे वश में रख सकता है, जबकि दूसरा प्रायः उसका अन्त तक निर्वाह नहीं कर पाता—उसका तनाव या तो आवेश में बदल जाता है या फिर तनावरहित सपाटपन में। सर्वेश्वर के पास जो दृष्टि-फ़्रेम है वह इतना सूक्ष्म और तरल है कि अक्सर वह दृष्टि-फ़्रेम रह ही नहीं जाता (फलस्वरूप वे वहाँ-वहाँ शुद्ध भावुकता के कवि नज़र आने लगते हैं), अतः उसके प्रति निष्ठा कायम रखने के प्रश्न से वे विचलित नहीं होते; लक्ष्मीकान्त के पास जो दृष्टि-फ़्रेम है वह उन्हें हमेशा ललकारता रहता है और गिरते-पड़ते भी वे उसको आँख की ओट नहीं कर पाते। सर्वेश्वर तनाव को अपने भाव-यंत्र से एक खास दूरी पर बनाये रखने में इतने माहिर हो गये हैं कि वे ऐसी सजी-सँवरी मार्मिक कविताएँ निरन्तर लिखते चले जा सकते हैं जो जोखिमपूर्ण मानव-अस्तित्व की किसी बुनियादी अराजकता को न उकेरें; जबकि लक्ष्मीकान्त की ट्रैजेडी यह है कि वे बार-बार उस बुनियादी अराजकता से टकराते हैं, पर जब उसे व्यक्त करते हैं तो 'नितान्त समसामयिक' लगने लगते हैं। तनाव को वश में रख सकने के कारण सर्वेश्वर में जो सौंदर्यात्मक रुझान लोक-संपृक्ति के अनगढ़ खुरदरे अंशों की मिलावट से शुरू में गड्ड-मड्ड था वह क्रमशः साफ़, संयत और 'तुकान्त' होता गया, जबकि तनाव को सर्वत्र काबू में न रख पाने (कभी-कभी इसकी चेष्टा-मात्र से विद्रोह कर उठने) के कारण लक्ष्मीकांत का सौंदर्यात्मक रुझान कभी भी उनकी यथार्थ-संवेदना के साथ एकाकार नहीं हो सका और हमेशा 'अतुकान्त' ही रहा। किन्तु अब सर्वेश्वर का तनाव को वश में रख सकना और लक्ष्मीकान्त का तनाव को पूरी तरह वश में न रख सकना दोनों ही एक मुद्रा बन गये हैं।

जिसे मैं दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता कहता हूँ उसमें तनाव और अन्तर्निष्ठा के रिश्ते कहीं ज्यादा खतरनाक, क्योंकि पहले प्रकार की सर्जनात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होते हैं। उसकी जटिलता का रूप कुछ इस तरह है कि तनाव की सर्जनात्मक प्रक्रिया में अपने भावयंत्र से सब-कुछ ग्रहण करते हुए मैं एक शब्द लिख दूँ और उस स्थिति का सारा दबाव झेलते हुए काफी देर बाद और कुछ न लिख-कर सिर्फ उस शब्द को काट दूँ तो लगे कि मैंने सचमुच कोई नया शब्द लिखा है। दो शब्दों के बीच वह कटा हुआ शब्द दरअसल एक 'अन्तराल' है जो रचनाकार की अन्तर्निष्ठा की कसौटी बनती है, क्योंकि वह अन्तराल न-कुछ नहीं है, न ही एक सादा फलक है जिसकी पृष्ठभूमि में कुछ विदूषक चेहरे अपनी रंगबिरंगी कलाबाजियाँ दिखा जाएँ। वह अन्त-राल एक अग्रिम लम्बी छलांग के लिए ठिठकी हुई कसी हुई सर्जनात्मक मुद्रा है। इसमें रचनाकार की क्षमता उस अन्त-राल की अर्थगर्भिता को पहचानने और प्रक्षेपित करने में है और उसकी अन्तर्निष्ठा उस अन्तराल को सपाट न हो जाने देने में। सर्जनात्मक तनाव के प्रवाह में इस प्रकार का प्रत्येक अन्तराल नये-नये अर्थ-विस्फोटकों के लिए अवसर प्रदान करता है। इसके साथ ही यदि उस अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य न हुई तो यह एक खतरनाक कगार भी साबित हो सकता है। काव्य-रचना का उदाहरण लें तो नया अर्थ-विस्फोट करने के अवसर का उपयोग कर पाने की सामर्थ्य न होने पर उस 'अन्तराल' में भाषा निश्चित अर्थ देने लगती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह ठोस 'स्फटिक' (क्रिस्टल) हो जाती है, उसका वह लचीलापन समाप्त हो जाता है जो उस अन्तराल के आर-पार सर्जनात्मक तनाव के एक छोर को दूसरे छोर से जोड़ता है। भाषा के संदर्भ में जिसे हम 'अभिधा' या 'सपाटपन' कहते हैं उसका यही अर्थ है। आशा है प्रस्तुत प्रसंग में अलंकरणमुक्त सपाट भाषा और भाषा के सपाटपन का जो अन्तर है वह यहाँ स्पष्ट होगा।

तनावगत अन्तराल को सपाट न होने देकर अन्तर्निष्ठा की रक्षा करने के पीछे एक और आधार है जिससे स्थिति की जटिलता पर प्रकाश पड़ता है। पहले प्रकार की सर्जनात्मकता में शब्द को अर्थ से जोड़ने की चेष्टा होती है, यह मान लिया जाता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई दीवार है जिसे विस्फोटक से उड़ा देने की जरूरत है, शब्द में नये अर्थ भरने का प्रयत्न होता है या फिर पुराने शब्दों से नये अर्थ का आविष्कार किया जाता है। एक तरह से यह भाषा के अर्थ-विस्तार की ही प्रक्रिया है। किन्तु दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता में अर्थ को शब्द से 'जोड़ा' नहीं अर्थ को शब्द से 'मुक्त' किया जाता है, क्योंकि इसमें भाषा जिह्वा पर नहीं दाँतों के बीच की जगहों से सटी हुई होती है। यह भाषा के अन्तःस्फोट की क्रिया है। शब्द से अर्थ के मुक्त होने की क्रिया में भाषा की प्रचलित दो इकाइयों के बजाय भाषा की तीन इकाइयाँ बनती हैं: शब्द और अर्थ के साथ दोनों के बीच का अन्तराल तीसरी इकाई होता है, और भाषा वस्तुतः शब्द और अर्थ के सह-सम्बन्ध से नहीं बल्कि इन तीनों के सह-सम्बन्ध से बनती है। शब्द और अर्थ की दो इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ के बीच या तो दीवार होती है जो दोनों को अलग रखती है, या फिर वह दीवार नहीं होती। रचनाकार की चेष्टा यही रहती है कि वह दीवार यदि है तो न रहे—शब्द और अर्थ जो अलग-अलग हो गये हैं वे एक हो जाएँ। यह चेष्टा उसी तरह है जिस तरह उसका यह चाहना कि उसकी भाव-संवेदना और उसको घेरे हुए मूर्त / अमूर्त बाह्य ढाँचे की अनन्त समानान्तरता सामंजस्य में परिणत हो जाएँ: दोनों एक हो जाएँ। किन्तु तीन इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ कभी भी एकाकार होकर सघन 'स्फटिक' (क्रिस्टल) नहीं बनते; दोनों के सम्बन्ध में हमेशा और अनिवार्यतः कुछ-न-कुछ 'छूट' जाता है। यही 'अन्तराल' है। यह अन्तराल आज के स्वचेतनता के युग में रचनाकार की अपने परिवेश के साथ संसक्ति (इंवाल्वमेंट) ही है जो शब्द और अर्थ को अभिन्न रूप से एक नहीं होने देता। परिवेश के प्रति सजगता और उससे संसक्ति व्यक्ति को विकेन्द्रित करता है, और जिस हद तक यह संसक्ति तीव्र होगी विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भी उसी हद तक तीव्र होगी। और चूँकि व्यक्ति परिवेश के साथ अपने सम्बन्ध को भाषा के माध्यम से ही अनुभूत करता है इसलिए उसके विकेन्द्रीकरण के साथ भाषा भी विकेन्द्रित होती जाती है। व्यक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को 'निर्वासिन' (एलिएनेशन) से 'आत्मनिर्वासिन' (सेल्फ-एलिएनेशन) की ओर ले जाती है जिस पर आगे विचार किया जाएगा। यहाँ पहले भाषा के विकेन्द्रीकरण और रचनाकार की अन्तर्निष्ठा के सवाल को नजदीक से देख लेना होगा।

भाषा के विकेन्द्रीकरण में पहली जानी-पहचानी स्थिति तो वह होती है जिसमें शब्दों का प्रचलित अर्थ नष्ट हो जाता है और उसके बजाय दूसरा अर्थ ध्वनित होने लगता है। कहा जा सकता है कि यह स्थिति भाषा के अर्थ-विस्तार और अर्थ-सम्पन्नता के लिए आवश्यक है। इसमें भाषा एक धुरी से हटने के बाद दूसरी नयी धुरी पर जा टिकती है। भाषा के विकेन्द्रीकरण का यह रूप सामान्यतः युग-बोध में प्रत्येक परिवर्तन के साथ घटित होता रहता है। लेकिन भाषा के विकेन्द्रीकरण की एक स्थिति यह भी हो सकती है जिसमें शब्द प्रति-शब्द बन जाते हैं और अर्थ प्रति-अर्थ। ऐसी भाषा में शब्द अर्थ द्वारा अपनी सत्ता को नहीं प्रकट करते—क्योंकि अर्थ वस्तुओं को ग्रहण करने की एक संघटित बोधात्मक इकाई है—, बल्कि संकेतों द्वारा प्रकट करते हैं। यह भाषा के आदिम रूप अथवा भाव-संवेदना की प्राग्-अभिव्यक्ति के अराजक रूप की ओर प्रत्यावर्तन है जिसकी ओर इस लेख के आरम्भ में इशारा किया गया था। भाषा का यह अराजक रूप यात्रा का आरम्भ भी हो सकता है और यात्रा का अन्त भी। आरम्भ की स्थिति रचनाकार की इस सामर्थ्य पर निर्भर करती है कि वह उन 'संकेतों' को इतना पारदर्शी बना दे कि उनकी अलग-अलग इकाइयाँ किसी नये सर्जनात्मक बोध के एक चित्र को पूरी करती-सी लगने लगें। और यात्रा का अन्त तनाव के अन्तिम बिन्दु के बाद पहुँचे तनावहीन ढलान पर ठहर जाने में है।

यह शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ तक जाने की स्थिति कुल मिलाकर एक दुविधापूर्ण संभावना की स्थिति है, जिसका सैमुअल बेकेट के उपन्यास अच्छा उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्रायः इस संभावना के अन्वेषण की चेष्टा पर भाषा के विकेन्द्रीकरण से स्वतः चल पड़ी विघटन-प्रक्रिया का दबाव हावी हो जाता है, और फलस्वरूप रचना में शब्द प्रति-शब्द और अर्थ प्रति-अर्थ बनने की स्थिति का अतिक्रमण कर 'शब्दहीन' और 'अर्थहीन' बन जाते हैं। ऐसे में रचना की बुनियादी सर्जनात्मकता ही संदिग्ध लगने लगती है। इस प्रकार के रोचक उदाहरण देखने-सुनने में आये हैं जब पाठक को 'रचना' के नाम पर कोरे अनछपे पृष्ठ ही मिले हैं। अभी कुछ साल पहले साहित्य अकादमी लिटरेरी फ़ोरम नयी दिल्ली की एक गोष्ठी में स्वीडिश कवि गुन्नार रिद्स्ट्रोम ने एक कविता 'पढ़ी' थी जिसमें अर्धविरामों, पूर्ण विरामों, डैश, कोलन, प्रश्नवाचक-विस्मयबोधक चिन्ह्नों और कोष्ठकों के अलावा कुछ न था। चित्रकला में यदि रंग माध्यम को 'भाषा' का पर्याय मानें तो रंग के साथ-साथ रेत, लकड़ी, बुरादा, कील-काँटे, चमड़ा, टिन, चिथड़े आदि चीज़ों के प्रयोग की प्रवृत्ति को शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ की ओर जाने की रचनात्मक स्थिति का ही चिह्न मानना होगा। क ख ग-९ (जुलाई, १९६५) में प्रकाशित मुद्राराक्षस की 'एब्सर्ड' कविताएँ भी भाषा के इसी विकेन्द्रीकरण का नमूना हैं जिसमें शब्दों से बनने वाली अर्थ की संघटित बोधात्मक इकाई को अपर्याप्त या व्यर्थ मान लिया गया है। यह कुछ अजीब लग सकता है कि भाषा का पूर्ण विकेन्द्रीकरण जहाँ रचनाकार के अपने परिवेश के साथ संपूर्ण संसक्ति की उपज होता है वहीं वह इस बात का भी द्योतक होता है कि रचनाकार सर्जनात्मक तनाव से दूर से दूरतर जाना चाहता है। अतः विकेन्द्रित भाषा में रचना तनाव में नहीं, तनाव से मुक्त होने में होती है, और पूर्ण रूप से विकेन्द्रित भाषा तनावरहित भाषा होती है। परिवेश के प्रति संसक्ति, सर्जनात्मक तनाव और भाषा के विकेन्द्रीकरण के परस्पर सम्बन्ध को एक दिलचस्प वैज्ञानिक क्रिया द्वारा समझा जा सकता है। एक निश्चित एवं स्थिर तापमान पर जब पानी निरन्तर ठंडा होता चला जाता है तब एक बिन्दु ऐसा आता है जब वह बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ बनने के बिन्दु के पहले तक पानी 'सिकुड़ता' है, पर उस बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद एकदम से ठोस होकर 'फैल' जाता है। बर्फ़ बन जाने पर पानी का घनत्व कम और आयतन बढ़ा हुआ होता है, और हालाँकि उस अंतिम बिन्दु तक ठंडे हुए पानी का तापमान बाद में बन गये, बर्फ़ के तापमान के समान ही होता है, एक चीज़ और घटित होती है : बर्फ़ में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में पानी से उसमें निहित ऊष्मा, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में 'लेटेन्ट हीट' कहते हैं, बाहर निकल जाती है। इस उदाहरण को एक रूपक की शक्ल देते हुए सर्जनात्मक तनाव को तापमानक तत्त्व मान लें और परिवेश के प्रति संसक्ति की स्थिति को तापमान-प्रभावित पानी, तो भाषा (अथवा रचनाकार-व्यक्तित्व) के विकेन्द्रीकरण को उस खतरनाक बिन्दु' के इधर-उधर 'सिकुड़ने' और 'फैलने' की दो वैकल्पिक स्थितियों के अन्तर्गत रखकर सहज ही देखा जा सकता है। जाहिर है कि रचना के भीतर, चाहे भाव-विचार-संवेदन के स्तर पर या भाषा-संरचना के स्तर पर, सर्जनात्मक तत्त्वों का कोई भी नया सार्थक संघटन उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक ही, जबकि सर्जनात्मक तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति का क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' सर्वाधिक होता है, संभव हो सकता है। उस 'खतरनाक बिन्दु' को पार कर जाने पर सर्जनात्मक तत्त्वों का संघटन बिखर जाता है और पानी के 'लेटेन्ट हीट' की तरह रचना से 'तनाव' निकल जाता है और भाषा (तथा रचना भी) तनावरहित और सपाट हो जाती है। रचनाकार की अन्तर्निष्ठा यहाँ इस बात में है कि वह सर्जनात्मक तनाव तथा परिवेश के प्रति अपनी संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' को उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक शिद्दत से अपनी रचना के लिए महसूस करे। जिस प्रकार की सर्जनात्मकता में प्रेरणा का स्रोत रचनाकार के व्यक्तित्व में ही निहित हो—जहाँ उसे किसी बाह्य मूर्त। अमूर्त ढाँचे का सहारा भी न हो—वहाँ इस अन्तर्निष्ठा का निर्वाह रचनाकार के लिए एक अपरिहार्य **सर्जनात्मक मूल्य** का रूप धारण कर लेता है।

ऊपर के विवेचन में तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' का पहलू थोड़े स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। परिवेश के प्रति संसक्ति का क्या अर्थ है और यह किस तरह रचनाकार-व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करता है? परिवेश की चेतना व्यक्ति को उसमें अपनी स्थिति के प्रति भी चेतन बनाती है। इस स्वचेतना के साथ उसके सामने जटिल एवं गहन अनुभवों का एक नया संसार ही खुलने लगता है। यह संसार आवश्यकतया व्यक्तिगत अनुभवों का संसार नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आध्यात्मिक' अनुभवों का एक संश्लिष्ट संसार होता है। व्यक्ति जितना परिवेश के प्रति संसक्त होता जाता है उतना ही इस जटिल संश्लिष्ट अनुभवों के संसार के प्रति भी होता जाता है। रचनाकार के लिए यह स्थिति ही तनाव का उत्स बनती है, और परिवेश के प्रति संसक्ति के साथ—और चेतना पर उस संसक्ति के कारण स्पष्ट से स्पष्टतर अंकित होते जाने वाले जटिल अनुभव-संसार के साथ—यह तनाव भी बढ़ता जाता है। व्यक्ति और परिवेश के इस दुहरे सम्बन्ध-बोध वाली सर्जनात्मकता की परिणति अनुभूति-सम्पन्नता या अनुभूति-समग्रता में नहीं होती (जोकि एक सामंजस्य पा लेने की स्थिति है), बल्कि उसकी परिणति उस दुहरे सम्बन्ध-बोध से उपजने वाले तनाव को बरकरार रखने में होती है। इस सर्जनात्मक तनाव के निरन्तर 'दवाव' में नये-नये अर्थों का अन्तःस्फोट ही वस्तुतः रचनाकार व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण है जिसमें प्रत्येक अन्तःस्फोट नये तनाव की ऊर्जा की सृष्टि करता है, और तनाव की यह ऊर्जा व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध को एक स्थिर सामंजस्यपूर्ण अर्थ-गरिमा की निष्पत्ति के केन्द्र से हटाकर एक सतत विकसनशील सम्बन्ध-बोध की संभावनापूर्ण जटिलता में डालती रहती है। यहाँ 'जटिलता' एक अर्थपूर्ण स्थिति का संकेत करता है—'जटिलता' एक ऐसा बैरोमीटर है जो एक ओर तो सर्जनात्मक तनाव के दवाव को अंकित करता रहता है और दूसरी ओर उस अन्तर्निष्ठा की ओर भी संकेत करता है जो उस दवाव को 'खतरनाक बिन्दु' से आगे न गुज़र जाने देने की सामर्थ्य का प्रतीक है। इस स्तर पर 'जटिलता' और 'अन्तर्निष्ठा' एक ही सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं। सर्जनात्मक तनाव और उसके जटिल प्रारूपों की परस्पर कशमकश में दर्द के हद से गुज़रकर दवा हो जाने की स्थिति भी आ सकती है, लेकिन तब वह ऐसी दवा होगी, जिसे किसी भी परचून की दुकान से खरीदा जा सके, उसके लिए दर्द का सर्जनात्मक संदर्भ और अन्तर्निष्ठा का प्रश्न समाप्तप्राय होता है—तनावरहित सपाट रचना के बारे में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न बेमानी होता है। तनावहीनता की स्थिति अ-जटिलता की भी स्थिति है, जिसमें रचना का नियमन या तो शुद्ध संवेग करने लगते हैं या फिर अ-संश्लिष्ट भाव अथवा विचार वृत्तियाँ। हिन्दी के सार्थक युवालेखन के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि उसका अधिकांश अब भी रचनाकार-व्यक्तित्व के विकेन्द्रीकरण की अनिश्चयपूर्ण सर्जनात्मक संभावनायुत क्षेत्र-परिधि से गुज़र रहा है। अपने परिवेश के प्रति अधिकाधिक संसक्ति आज के युवा लेखक की नियति है, पर तनावहीनता के खतरे भी पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक बढ़ गये हैं।

(अगले अंक में समाप्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की भाषा

परमानन्द श्रीवास्तव

देखते-ही-देखते कविता की भाषा में ऐसे सरलीकरण की प्रवृत्ति पैदा हुई है, जिसके मूल में एक प्रकार का अतिशय निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण है—जो वस्तु के प्रति शायद गुण हो सकता है, पर भाषा के प्रति ज़रूर ही अपराध से कम नहीं है। और इसमें सन्देह नहीं कि इस सरलीकरण के ख़तरों का निराकरण कहाँ तक आज विकसित होती हुई कविता की भाषा कर पाती है इस पर ही अगली कविता की सफलता निर्भर करेगी। पिछले कुछ बरसों में यह बात उभरकर सामने आई है कि नया कवि भाषा का 'निर्माण' नहीं करता, इस्तेमाल करता है ("ठीक उसी तरह जैसे वह अपने मोजे या तौलिये का इस्तेमाल करता है"—केदारनाथ सिंह : युवा लेखन : प्रतिपक्ष का साहित्य—आलोचना, जनवरी-मार्च, ६८)—यानी उससे सिर्फ़ काम चलाता है। और यह भी कुछ प्रतिभा की कमी के कारण या परिश्रम से बचने के लिए नहीं बल्कि पूरे जीवन के प्रति एक खास व्यवहारवादी दृष्टिकोण विकसित होने के कारण—जिसके मूल में एक ओर यदि आदर्शवादी रुझान का अन्त है तो दूसरी ओर एक खास तरह का व्यर्थता-बोध भी है जो विचारों के स्तर पर भी उतना ही स्पष्ट है जितना भाषा के स्तर पर। 'भाषा का संस्कार' आज के कवि के लिए इसका कोई अर्थ नहीं है—वह तो भाषा के 'ध्वंस' के ही पक्ष में है—(उसके लिए कविता भी "केवल रचना नहीं, बल्कि ध्वंस भी है"—श्रीकान्त वर्मा)। उसे पता है कि—

"भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी"

और इसीलिए वह कविता से ही कविता का काम लेना नहीं चाहता—

"न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही"

(रघुवीर सहाय : **आत्महत्या के विरुद्ध**)

इसी तर्क से भाषा के संसार में भी उसने "एकमात्र उपयुक्त शब्द" से काम लेना बन्द कर दिया है और "शब्द की अद्वितीयता" की धारणा को—जिस पर अज्ञेय जैसे कवि शुरू से इतना अधिक बल देते आए हैं, हमेशा के लिए खत्म कर दिया है।

....

जीवन मैं तोड़ रहा हूँ

....

शब्द और शिल्प और भाषा और छन्द
सारे के सारे ये पिछले सम्बन्ध
मैं तोड़ रहा हूँ।

(दूधनाथ सिंह : **सुरंग से लौटते हुए**)

आज का कवि यह मानकर चलता है कि शब्द होता है, एकमात्र शब्द नहीं होता और 'शब्दशोधन' की बात ही उसे इस तर्क से बेमानी लगने लगती है—शुद्ध कला-दर्शन की चरम परिणति मात्र। जीवन के प्रति, और दूसरे स्तर पर भाषा के प्रति इसी व्यवहारवादी रुझान के कारण कविता के संसार में, कहा जा सकता है कि शब्दों का एक खास तरह का समाजवाद या यथार्थवाद पैदा हुआ है। और जैसा भाषा के क्षेत्र में या कविता के क्षेत्र में "शरारतपूर्ण सहसंयोजन" के पक्षधर कवि लक्ष्मीकान्त वर्मा ने संकेत किया है—शब्दों के प्रति 'पूजा का भाव' समाप्त हो गया है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के वक्तव्य में यह धारणा व्यक्त की थी कि कवि 'शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ' भाषा या कविता में भरना चाहता है—और क्योंकि उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं, इसीलिए वह प्रयोग की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनौती स्वीकार करता है। अज्ञेय की दृष्टि में कवि के सामने यह सबसे बड़ी समस्या थी कि 'भाषा का पुराना व्यापकत्व' उसमें नहीं है। यह बड़ा अर्थ देने के लिए भाषा का इतना सांस्कृतिक परिष्कार किया जाने लगा कि उसकी तात्कालिकता लगातार क्षीण होती चली गई और आगे वह समय भी आया जब तात्कालिकता ही भाषा का अपरिहार्य और उपयोगी मूल्य जान पड़ने लगी।

जिस व्यर्थता-बोध की चर्चा ऊपर की गई है उसी के समानान्तर एक प्रकार के नगण्यता बोध का प्रभाव भी इधर के युवा लेखन की भाषा पर दिखाई देने लगा है जिसे नामवर सिंह के अनुसार कभी-कभी 'कृत्रिमता' की हद तक भी पहुँचा दिया गया है (आलोचना : जनवरी-मार्च, ६८)। यों जिस व्यवहारवादी रुझान की चर्चा शुरू में की गई है, उसने भी एक प्रकार की कृत्रिमता को प्रोत्साहित किया है। एकदम नया-नया कवि भी आज जिस भाषा से शुरू करता है वह इसी व्यवहारवादी दृष्टिकोण के कारण ज़िन्दगी की सही और सच्ची पकड़ यानी अनुभव का आभास देती है—हालांकि वहाँ सच्ची पकड़ नहीं होती बल्कि उसका धोखा खड़ा करने वाले क्लिशेज़ होते हैं, मुहावरे होते हैं—नितान्त चालू मुहावरे—जो कविता को कहीं-से-कहीं ले जा सकते हैं। यह सिर्फ़ भ्रम है कि युवा कवियों की अक्सर ही प्रकाशित होने वाली लम्बी कविताएँ अनुभवों की सच्चाई या अनुभवों के जटिल विस्तार के कारण रूप या आकार में लम्बी हैं—वस्तुतः वे उसी 'कृत्रिमता' का विस्तार हैं जो दूसरे शब्दों में अनुभव या भाषा के अभिन्न अनुशासन से एक प्रकार की मुक्ति या छूट देती है। श्रीकान्त के इस कथन में सचाई है कि "भाषा के ज़रिए केवल संसार की परिभाषा ही नहीं की जाती, छला भी जा सकता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि तात्कालिकता या तात्कालिक सार्थकता का आज की भाषा और कविता के संसार में अपना खास मूल्य है। कहा जा सकता है कि इसी एक गुण के कारण भाषा कभी भी शायद अपने समय की खुरदरी सचाई से इतनी अभिन्न नहीं थी। पर इसी के साथ यह खतरा भी है कि शब्द की अद्वितीयता समाप्त होने के साथ-ही-साथ भाषा प्रयोग के क्षेत्र में एक ऐसा सामूहिकतावादी दृष्टिकोण न बन जाय—जो भाषा और कविता को उसी प्रकार अमूर्त बनाने लगे जिस प्रकार अतिशय कलात्मकता भाषा और कविता को अमूर्त्त बनाती है। इसके खतरे एकाध अपवादों को छोड़कर करीब-करीब सभी युवा कवियों की भाषा में दिखाई देते हैं—उनमें दुर्लभ है वह 'शब्दाभिव्यक्ति' जिस पर मुक्तिबोध भी बल देते आए हैं—"जिसके समय लेखक धारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है।" मुक्तिबोध के ही शब्दों में जो कवि या लेखक के आत्मसाक्षात्कार या आत्मनिर्माण का भी समय होता है।

भाषा का सरलीकरण भाषा के क्षेत्र में इसी सामूहिकतावादी दृष्टिकोण का एक पहलू है—जो आज की कविता के सामने सबसे बड़ा संकट है। यह नहीं कि युवा कवि इस संकट से परिचित नहीं हैं—

और अब ज़ुबान पर भी कहाँ है।
अँधेरे में दूर तक झिलमिलाती है एक रोशनी
जो रोशनी से भी अधिक राहज़नी है
झूठे से भी निकम्मे इस कमज़ोर सच से
मुझे सख्त नफ़रत है
बावजूद इसके अँधेरे में चीज़ों को मैंने
एक नए सिरे से टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित शब्द भंडार नहीं
खोला है।

(देवेन्द्र कुमार : एक युवा-कवि की आत्म-स्वीकृति)

यहीं भाषा की 'सरलता' और 'सरलता' में फ़र्क करना पड़ेगा। क्या यह अकारण ही है कि एक ओर कृत्रिमता की हद तक कठिन भाषा समझ में आती है—सामान्य पाठकों को भी बोधगम्य जान पड़ती है, दूसरी ओर बेहद सीधी भाषा संस्कारशील पाठकों को भी कभी-कभी चुनौती जैसी जान पड़ती है—कभी उस विडम्बनापूर्ण संकेत के कारण जो इस प्रकार की भाषा देना चाहती है और कभी-कभी सरल जान पड़ने वाले शब्द या मुहावरे के अपरिचित इस्तेमाल के कारण। जहाँ अधिक सीधी भाषा में व्यक्त काव्यात्मक सचाई सचाई को अधिक तीखी और सार्थक ज़मीन दे पाती है वहीं भाषा के क्षेत्र में सामूहिकतावादी रुझान व्यक्त करने वाले चालू मुहावरों में "वास्तविकता के खो जाने का खतरा-सा बना रहता है"। सरलीकरण की प्रवृत्ति निश्चित रूप से इस सामूहिकतावादी रुझान से जुड़ी हुई है—खतरा कहीं है तो यहीं है—भाषा की सार्थकता को बनाये रखना है तो पहले उसे इस अति-सरली-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करण से बचाना होगा—हालांकि यह भी सही है कि उससे भाषा बचेगी नहीं—भाषा की व्यर्थता के निरन्तर बोध के कारण जो अनुत्तरदायित्वपूर्ण रवैया विकसित हो रहा है उसके चलते भाषा का अधिक-से-अधिक अर्थहीन होते जाना स्वाभाविक ही है। आज के पाठक को इस अर्थहीनता में कभी-कभी कुछ अच्छा भी लगता है—कभी नाटकीय विडम्बना, कभी सौन्दर्य-विरोधी या कला-विरोधी रुझान—पर कहीं-न-कहीं इसकी सीमा निश्चित होनी ही चाहिए। क्या युवा कवियों को यह बात अलग से बतानी होगी कि भाषा से खेलने की छूट हमें या आपको हो सकती है पर सिर्फ एक हद तक (—जहाँ तक भाषा हमारी या आपकी अपनी है—वह बस एक हद तक ही हमारी अपनी हो सकती है) उसके बाद खेल बन्द होना चाहिए। इसीलिए कहने की आवश्यकता होने लगी है कि आत्मविडम्बना—और ऐसे ही दूसरे कई सूत्र—जो पहली बार सरलता का सिर्फ़ धोखा खड़ा करते हैं—अपने-आपमें 'आलंकारिक नुस्ख़ा' न होकर जीवन के प्रति गहरे दृष्टिकोण के परिचायक होते हैं। इस विडम्बना की पहचान के अभाव में—

बहस किस बात पर हो रही है
यह जानना व्यर्थ है

(केदारनाथ सिंह)

जैसी सीधी पंक्तियाँ कुछ-का-कुछ अर्थ दे सकती हैं। विजयदेव नारायण साही और रघुवीर सहाय की कविताओं की भाषा में या कमलेश और श्रीकान्त वर्मा की कविताओं की भाषा में काव्यात्मक और काव्य-बाह्य शब्दों के प्रयोग का अन्तर हो सकता है—पर दूसरे स्तर पर इनमें अधिक गहरी समानता दिखाई देगी, जैसे कि आज की नई वास्तविकता के अधिक गहरे और सही बोध आदि के स्तर पर। जरूर ही इन कवियों में भाषा के कर्तव्य की वह खास पहचान भी है—जिसे छायावाद के बाद की काव्य भाषा में एक बार महत्त्वपूर्ण समझा गया था। पर इसी के साथ उसे समकालीन प्रासंगिकता से सम्पन्न बनाते जाने की विकलता भी है।

जिस प्रकार भाषा और कविता के संसार में 'सरलता' और 'सरलता' में फ़र्क करना ज़रूरी है उसी तरह 'गम्भीरता' और 'गम्भीरता' में भी। इधर के काव्य-समीक्षकों का ध्या[न] इस ओर जाने लगा है कि 'रोमांटिक गम्भीरता' को सच्[ची] गम्भीरता से—चाहे वह नितान्त अगम्भीर शब्द कौतुक [में] ही व्यक्त होती हो—अलग किया जाए। 'कविता के न[ए] प्रतिमान' में नामवर सिंह ने विसंगति और विडम्बना—भाषा और कविता के इन पहलुओं पर विचार करते हु[ए] सविस्तार दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार आज [के] कवि का 'शाब्दिक खिलवाड़' कविता के अन्त में 'अर्थ[पूर्ण] गम्भीरता में परिणत होता है और कविता की उपलब्धि [बन] जाता है। अकारण नहीं है कि क्रीड़ा कौतुक जान पड़ने वा[ली] कविताएँ ही अपनी समूची प्रक्रिया में सच्ची गम्भीरता [और] सार्थक नाटकीयता का आदर्श प्रस्तुत करती हैं। रघुवीर सहा[य] की कविता 'शराब के बाद का सबेरा' इसका सर्वोत्तम उद[ा]हरण है।

और अन्त में, कविता की भाषा पर विचार करते हु[ए] यह भी देखने की ज़रूरत है कि सर्जनात्मक भाषा के विका[स] की प्रक्रिया में यदि कहीं रुकावट है तो क्यों—कहीं भाषा [की] गम्भीरता या उपयोगिता के बारे में बने हुए ख़ास तरह [के] पूर्वग्रहों के कारण ही तो नहीं! और दूसरी ओर यदि एक [ख़ास] तरह की नाटकीय व्यवस्थाहीन 'सपाटबयानी' का विस्तार [है] तो उसी जीवन के व्यर्थता-बोध या भाषा के व्यर्थता-बोध अ[ौर] उससे उत्पन्न व्यवहारवादी रुझान के कारण ही—या कि[न्हीं] दूसरे कारणों से। कविता की भीतरी ज़रूरतों को नकार[ने] वाले युवा कवियों को इन सवालों पर सबसे अधिक सोचने [की] ज़रूरत है और उन कवियों को भी—जो अपने काव्य-संसा[र] को समग्र समकालीन वास्तविकता से जोड़ना चाहते हैं अ[ौर] उसे अधिक अर्थपूर्ण बनाना चाहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

समझदारी का व्यंग्यपूर्ण एहसास और विडम्बना की नाटकीयता

विजय मोहन सिंह

इधर जबकि कई साठोत्तरी कहानीकारों के संग्रह आ गए हैं, उन्हें जोड़कर या अलग करके देखने में सुविधा हो गई है। अब यह देखना ज्यादा आसान हो गया है कि पूर्ववर्ती संवेदना के विकास में साठोत्तरी कहानीकारों की उपलब्धियाँ क्या हैं या जिस 'एकरसता' और 'चरित्रहीनता' का आरोप उन पर लगाया जाता रहा है वह कहाँ तक ठीक है? ज्ञानरंजन[1] और काशीनाथ सिंह[2] के कहानी-संग्रहों की समीक्षा इसी संदर्भ में की जा सकती है।

ज्ञानरंजन ने अपनी पीढ़ी के अन्य चर्चित कहानीकारों की तुलना में अपेक्षाकृत कम कहानियाँ लिखी हैं और लगभग वे सभी कहानियाँ इस संग्रह में आ गई हैं। दूधनाथ की तरह संग्रह का 'स्तर' और 'व्यक्तित्व' बनाने की अपेक्षा वे कहानीकार के विकासक्रम को ज्यादा व्यक्त करती हैं। संग्रह की प्रारम्भिक चार कहानियों में (दिवास्वप्नी, कलह, खलनायिका और बारूद के फूल, आत्महत्या) बदलती हुई संवेदना का व्यंग्य परम्परागत कहानियों का रूप लेकर ही व्यक्त हुआ है—ज्ञान की 'दृष्टि' को ध्यान में न रखा जाए तो आसानी से ये चारों कहानियाँ प्रचलित कहानियों की कोटि में रखी जा सकती हैं, यहाँ तक कि भाषा में जो अनगढ़ता और अप्रचलन है वह या तो अरचनात्मक है या जैनेन्द्र की सीमाओं को छूनेवाली सतर्क अनगढ़ता लिये हुए है : दोनों के एक-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :

'काश, मैं अपने प्रेमल व्यवहारों की अन्तर्मुखी उत्कण्ठा को संकोच के चक्रव्यूह से बचा पाती।' (कलह) 'लेकिन परिवार वैसा ही यथावत् **बीत रहा है।**' स्थितियों के व्यंग्य की पहचान ज्ञानरंजन में शुरू से रही है लेकिन इन चार कहानियों में 'कमज़ोर लड़के-लड़कियों' पर जो व्यंग्य किया गया है वह ज्ञान की अपनी सहजता से जुड़ा होने पर भी प्रचलित सपाटता के साथ ही व्यक्त हुआ है।

वस्तुतः ज्ञानरंजन की कहानियों को जिस रूप में पहचाना जाता है, उसकी शुरुआत संग्रह में 'सीमाएँ' कहानी से ही होती है। शायद रचनाकार के लिए 'व्यंग्य' अथवा 'विडम्बना' की पहचान ही काफी नहीं होती है बल्कि उसके साथ उसकी आंतरिक जटिलता की पहचान और अभिव्यक्ति भी जुड़ी होती है। पहचान की इस जटिलता की शुरुआत 'सीमाएँ' कहानी में ही दिखलाई पड़ती है। मसलन भाषा के स्तर पर ऊपर के उदाहरणों की तुलना में 'सीमाएँ' का यह उदाहरण ही इस संदर्भ में देख लेना पर्याप्त होगा "…आज उनके सम्बन्ध में मुझे कोई अनुभव नहीं है। एक लोभ है। उनके व्यक्तित्व में एक सुप्त क्षमता है जो बहुत धीमे शायद गतिहीन जाग रही है। वे जो साफ बोलती हैं और 'फ्री' रहती हैं, उनकी सुन्दरता है। **यह भी सम्भव है, सविताजी ऐसी न हों और मैंने मन में उन्हें इस रूप में पैदा कर लिया है।**"

वर्णन की यह जटिल 'एक्युरेसी' ज्ञानरंजन में इस कहानी के साथ ही पैदा होती है। यह अनुभवों पर शब्दों की चिप्पी लगाने वाली भाषा नहीं है—अपने 'दुहरेपन' में एक स्थिति को रचनात्मक पूर्णता देने की कोशिश है। भाषा और संवेदना की यह एकरूपता जो अनुभव के 'दोनों ओर' की स्थितियों को देखने में समर्थ है—साठोत्तरी कहानियों की निजी विशेषता है।

१. फेंस के इधर और उधर : ज्ञानरंजन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली। मू० रु० ४.००
२. लोग बिस्तरों पर : काशीनाथ सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद। मू० रु० ४.५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानरंजन सही माने में और पूरी तरह 'सम्बन्धों' के कहानीकार हैं—अपनी पीढ़ी के किसी भी कहानीकार से अधिक। 'सम्बन्धों' को समझने की इस बेचैनी को 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक एक ख़ास क्रम में देखा जा सकता है। 'शेष होते हुए' में एक भोला दर्द है—मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों के अभिशाप का दर्द 'पिता से टीनू तक एक अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।' लेकिन टूटते-घिसटते सम्बन्धों के लिए यह किशोर विह्वलता 'सम्बन्ध' में ख़त्म हो जाती है—एक अनिवार्य तथा प्रौढ़ तटस्थता उसकी जगह ले लेती है, यह तटस्थता जो प्रौढ़ समझ के बाद आती है—केवल भागने या छुटकारा पाने के लिए नहीं होती 'इन आत्महत्याओं के परिणाम में महज़ चुटकी भर एक फुसफुसाया दुःख भर होता है—उतना दुःख जितना एक समाचारपत्र दे सकता है। फिर आप जानते हैं कि दुःख कितनी लचर चीज़ होती है।' (सम्बन्ध)।

दुःख को लचर मानने में यहाँ कोई क्रूरता नहीं प्रदर्शित होती—केवल उसमें एक जानकारी शामिल है। कहानी के अन्त में—जिस भाई की आत्महत्या की आशंका की जाती है, वह लौट आता है—और दुःख को लचर समझने वाला व्यंग्य साफ़ हो जाता है। अतः ज्ञानरंजन की कहानियों में ऐसी पंक्तियाँ महज़ 'स्टेटमेंट' नहीं होती हैं—वे कहानीकार की 'प्राप्ति' होती हैं। लेकिन वही जो पूरी आन्तरिकता के साथ 'खोज' में है और संलग्न है, वही यहाँ पहुँचकर 'तटस्थ' भी हो सकता है—इसी रूप में यह उसकी 'प्राप्ति' है 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक के इस विकास को मैं साठोत्तरी पीढ़ी की संवेदना के विकास रूप में रेखांकित करना चाहूँगा।

इसके अलावा ज्ञानरंजन उन कहानीकारों में भी नहीं शामिल किए जा सकते जिनकी संवेदना एक साथ दो-तीन स्तरों पर झूलती चलती है। इसीलिए ज्ञान की कहानियों में 'संवेदना की दरारें' नहीं मिलतीं और इसी कारण उनकी भाषा एक बार भी यह शंका नहीं होने देती कि कहानी कहीं भी अपने साथ 'झूठ' हो रही है या कहानीकार केवल कोई 'मुद्रा' ओढ़ रहा है। यहाँ तक कि कुछ अतिशयता-द्योतक सूत्रों में भी वह सच्चाई पकड़कर ही पहुँचा हुआ लगता है: 'मैं सोच रहा हूँ कि कितनी गम्भीरता से पूरी रात छाई रही—कितनी हँसी की ये बात है—जितना मज़ाक मैं कर सका वह भी कितनी आसानी से उलट गया—कितनी दया मैं अपने ऊपर करूँ? जीवन···जीवन··· जीवन, कोई कविता इस समय नहीं याद आ रही है, जो इस शब्द से शुरू हो और जिसे गाऊँ।' ('सम्बन्ध' कहानी का अंत)

यदि कहानी संग्रहों में विविधता की माँग भी कोई मानी रखती हो या उसकी समीक्षा में कोई प्रासंगिकता होती हो तो ज्ञानरंजन की कहानियों में यह विविधता कम है—वैसे ही जैसे प्रयाग शुक्ल में कम रही है: एक ही 'व्यक्ति' वहाँ अपनी पूरी आंतरिक ईमानदारी के साथ हर जगह है—बेहद स्वचेतन। यह स्वचेतनता (सेल्फ कांससनेस) ज्ञान की कहानियों का ख़ास चरित्र-लक्षण है। यह उनकी कहानी को बहुत बारीक बनाती है—चीज़ों, सम्बन्धों और स्थितियों को परखने का बेहद ख़ुर्दबीनी तर्ज़ है उनका और इसी वजह से वे भाषा में भी बारीक काट-छाँट करते चलते हैं। लेकिन ज्ञान की यह एक बड़ी ख़ूबी कही जाएगी कि इतने स्वचेतन होते हुए भी वे कहानी को हमेशा एक ख़तरनाक सीमा से वापस ले आते हैं यानी वहाँ पहुँचने के बाद वे कहानी की फेंटेसी को 'क्रूड' अतिरंजनाओं में (फेंटेसी नहीं) नहीं उलझाते।

माँ, पिता, बहन, भाई से अलग होते हुए आदमी की ओर ज्ञान ने जितना ध्यान दिया है, जितना रेशा-रेशा अलग करके उन्होंने उसे समझा है उतना किसी और कहानीकार ने नहीं। यहाँ ध्यान देने योग्य ख़ास बात यह है कि इस अलग होते हुए आदमी को ज्ञान अजूबा नहीं मानते और यह भी कि यह आदमी ही अपने बाप, माँ, भाई से अलग नहीं होता—बल्कि उसके बाप, माँ और भाई भी उससे अलग होते हैं। उनकी कहानियों में 'अलगाव' का यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है ('पिता' में विशेष रूप से)। यह उनको कई अन्य मुद्राधारी तथा अ-कहानीकारों की जमात से अलग करता है।

किसी यूरोपीय कथाकार के विषय में 'आइरोनिक सिम्पैथी' की बात लिखी गई थी। ज्ञानरंजन अपनी सभी कहानियों में अपने पात्रों के संसार के प्रति यही रुख रखते हैं। यह रुख भी 'अख़्तियार किया हुआ' नहीं, स्वतः 'पैदा हुआ' है! सारी गम्भीरता, लगाव, बेचैनी और बदहवासी की पोल अन्त में एक जानकार व्यंग्य के रूप में खुलती है: किसी भी मसले पर अनेक रातों की नींद हराम करने के बाद एक सुबह कोई न कोई 'सच्चाई' मालूम होनी ही है! यह भी ज्ञानरंजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अतिशय 'स्वचेतनता' का ही परिणाम है जो उन्हें बराबर अपनी कहानी से 'अलग' कर देती है; हर उधेड़ी गई स्थिति अलग से देखने पर अपने दुहरे चेहरे के साथ नज़र आती है और कहानीकार अपनी सहानुभूति के बावजूद व्यंग्यपूर्ण हो जाता है। इस तरह कहानी की हर स्थिति के साथ कहानीकार हर क्षण जुड़ता और अलग होता चलता है: अपना 'लगाव' उसे हर क्षण शर्मिन्दा करता हुआ मज़ाकिया बना देता है।

'क्रैफ्ट' के मामले में ज्ञानरंजन एक खास सीमा तक ही सतर्क हैं—दूधनाथ या काशीनाथ से बिलकुल अलग! शायद वस्तु के प्रति ईमानदारी में 'फेंस के इधर और उधर' का कहानीकार 'क्रैफ्ट' को एक सीमा के बाद शामिल नहीं समझता यानी अपने को कहानी में पूरी तरह निचोड़ने के अलावा वह उसे अन्य पहलुओं से जगमगाने नहीं जाता। इसी कारण संग्रह का हर कहानी का 'पिच' हमेशा एक ही रहता है। 'कहानी' और 'वह' हमेशा एक ही कोण पर स्थित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त ज्ञानरंजन वहाँ क्यों नहीं हैं जहाँ से अपने और अपने सामने की चीज़ के अलावा बाकी दुनिया को भी देखा जा सकता है? संग्रह की सारी कहानियों का परिवेश क्यों बिलकुल 'वही' है और वह अपनी इत्मिनानी चाल से उसके बीच होता हुआ गुज़र जाता है? काशीनाथ की तरह वह 'संकट' से लेकर 'लोग बिस्तरों पर' तक 'छलाँग' क्यों नहीं लगाता या दूधनाथ की तरह 'आइसबर्ग' से 'कोरस' तक? ज्ञानरंजन की कहानियों में यह 'फ्लाइट' क्यों नहीं मिलती?

एक ओर जहाँ यह कहानीकार के 'टेम्प्रामेंट' और चुनाव का प्रश्न है (और इस रूप में अप्रासंगिक) वहीं दूसरी ओर उसमें कल्पना-रुचि के अभाव का द्योतक भी हो सकता है। यदि वह कहानी को वहीं से उठाता या वहीं तक छोड़ देता है जहाँ तक देख रहा होता है तो यह इसलिए भी कि वह कहानी के उन पक्षों से, जो उसकी रचनात्मक कल्पना से जुड़े होते हैं, उतना परिचित नहीं है। इस रूप में वह रचना-प्रक्रिया के इकहरे स्तरों का ही उपयोग करता है और यही एक हद तक विविधता के अभाव और किसी आकांक्षापूर्ण छलाँग के अभाव का उत्तरदायी हो सकता है।

●

यदि ज्ञानरंजन की कहानियों का संसार समझदारी का व्यंग्य-भरा एहसास है तो काशीनाथ सिंह की कहानियों में स्थिति से पूरी तरह टकराये बिना उससे छुटकारा पाने के लिए 'नाटकीय व्यंग्य' का उपयोग किया गया है। आमतौर पर यह कहानीकार की कमजोरी नहीं मानी जानी चाहिए और कम-से-कम वहाँ तक अवश्य क्षम्य होनी चाहिए जहाँ तक वह कहानी के 'अपने सत्य' को नष्ट नहीं करता। संग्रह की 'सुख' या 'चायघर में मृत्यु' जैसी कहानियाँ इस दृष्टि से बेहद सफल कहानियाँ हैं।

हर सच्चाई की अपनी विडम्बना होती है और काशीनाथ सिंह इस 'विडम्बना' तक सीधे पहुँचते हैं, उसे 'मेलोड्रामेटिक' बनाते हुए तथा कहानी के चमत्कार में परिवर्तित करते हुए।

ज्ञानरंजन की तरह यहाँ 'आइरोनिक सिम्पैथी' नहीं, केवल 'आइरनी' है जो कभी-कभी क्रूरता की सीमा तक स्थितियों का रस लेती हुई उन्हें अतिरंजित करती जाती है। काशीनाथ सिंह का यह टेम्प्रामेंट है और जहाँ वे इससे छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं वहाँ 'अपने घर का देश' जैसी कहानियों में सपाट निहत्थे और ट्रैडीशनल हो जाते हैं। एक हद तक 'आखिरी रात' में वे 'विडम्बना' को पकड़ते हुए भी रस लेने वाली क्रूरता से बच सके हैं। लेकिन यह कहानी अन्य कारणों से प्रारम्भिक कहानियों की रूमानियत में जा फँसी है।

काशीनाथ सिंह मुख्यतः इसी विडम्बनात्मक अतिनाटकीयता (मेलोड्रामा) के कहानीकार हैं। 'संकट' कहानी में यह 'विडम्बना' बड़े स्थूल ढंग से व्यक्त की गई है और उसमें 'रेणु ब्राण्ड' चुटकुलेबाजी भी है। विडम्बनाओं का यह मेलोड्रामा 'अपने लोग' में सर्वाधिक सफलता से व्यक्त हुआ है। फैंटेसी की सरहद पर स्थित इस कहानी में 'विद्रोह' और 'समझौते' की विद्रूपता को बिना सपाट या स्थूल किए, बड़ी कलावन्तता के साथ व्यक्त किया गया है।

संग्रह में संवेदना के कई छोरों को छूने वाली कहानियाँ हैं जिनमें एक बात सामान्य है ('आखिरी रात' को छोड़कर) कहानी की हर स्थिति के प्रति एक प्रकार के 'खेल' या 'चुहल' का भाव। शायद यह कहानीकार की किसी भी वस्तु को गम्भीरतापूर्वक न ले पाने की मौलिक अक्षमता को भी ध्वनित करता हो, लेकिन इससे काशीनाथ सिंह की सभी कहानियों का एक अपना 'चरित्र' बन गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः 'लोग बिस्तरों पर' का कहानीकार बिना किसी स्थिति को अतिनाटकीय बनाये बिना चित्रित कर ही नहीं सकता। उसमें जब तक यह अतिनाटकीयता पूरी तरह 'फैंटेसी' नहीं बन जाती तब तक चमत्कारपूर्ण चुटकुलों तक सीमित रहती है। 'तीन काल कथा' और 'आदमी का आदमी' जैसी कहानियों के साथ यही हुआ है। दोनों कहानियाँ 'अपने समय के यथार्थ' से जुड़ने का साहसपूर्ण प्रयास हैं लेकिन कहानीकार उन्हें चमत्कारपूर्ण ढंग से नाटकीय बना पाया है :

"मर्द लड़के के गले पर हँसुआ दबाता है और गुस्से में काँखता है 'साले तुझे हलाल करके छोड़ूँगा' और अपने ओठ भींच लेता है। लड़का जो बिना चीखे-चिल्लाये-रोये उसके घुटनों के बीच दबा है, किसी तरह साँस लेता है, **ओह ऐसे नहीं, धीरे-धीरे**···"

जहाँ ऐसी पंक्तियाँ एक स्थिति की विडम्बना को सामने ले आती हैं वहीं परिणति में उस यथार्थ का सरलीकरण भी करती हैं। संग्रह की और भी कई कहानियाँ सरलीकरण की कीमत पर ही नाटकीयता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं।

लेकिन कहानीकार जिन कहानियों में सरलीकरण की इस नाटकीयता से बच सका है वहाँ विडम्बनाओं की जटिलताओं से गुज़रता हुआ उनकी 'नियति' को भी पहचान सका है जैसे 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' में साहब की तेजी से बूढ़ी होती हुई पत्नी का अन्त में यह सोचना :

'जबकि एक औरत देखने में अच्छी हो, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, बात करना जानती हो, अखबार भी पढ़ लेती हो, कोई कैसे छोड़ सकता है? और असल बात तो यह है कि कोई छोड़ना भी क्यों चाहेगा? लेकिन हे ईश्वर··· वे माथे से पसीना पोंछने लगीं।' यह मिसेज़ गोठी की गुज़रती जवानी की हविश पर व्यंग्य ही नहीं है, बल्कि उस दूसरे पहलू को भी सामने ले आता है, एक स्वाभाविक मानव-नियति को जो एक साथ ही स्थिति को हास्यास्पद और दयनीय दोनों बना देती है।

शिल्प के मामले में काशीनाथ सिंह अत्यन्त सतर्क कहानीकार हैं : हर कहानी के आरम्भ और अन्त को काफी सँवारने और उस पर कई पहलुओं से सोचने के बाद ही रखा गया है।

संवादों में यह सतर्कता खासतौर पर देखी जा सकती है : काशी ने संवादों को लेकर कुछ विशेष प्रयोग किये हैं और उन्हें अपने सीधे अर्थों से अलग कर विरोधाभास की नाटकीयता से जोड़ा है। इस सन्दर्भ में कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

१. 'अगर ये सवारियाँ हैं तो फिर केवल आ और जा क्यों रही हैं?' (कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी)

२. 'जी, मैं कासिम हूँ।' वह बोला 'कासिम हो या खड़े हो?' (लोग बिस्तरों पर)

३. 'क्या तुम दफ्तर नहीं जा रहे?' मैंने जान-बूझकर पूछा।

'तुम जानते हो कि मैं दफ्तर नहीं जा रहा।'

'कैसे नहीं जा रहे?'

'मैं कैसे जा सकता हूँ, तुम जानते हो आज रविवार है··· ऐसे दफ्तर इधर कहाँ हैं?'

'हाँ, मैं जानता हूँ दफ्तर इधर नहीं हैं।'

'फिर मैं दफ्तर कैसे जा सकता हूँ।'

'हाँ फिर तुम दफ्तर नहीं जा सकते।' (अपने लोग)

'ऐबसर्ड नाटकों' जैसे ये संवाद केवल एक शैली को जन्म देने के लिए नहीं हो सकते बल्कि पात्रों की जिस अस्वाभाविकता को कहानीकार अपने व्यंग्य का निशाना बनाता है, ये संवाद भी उसी अस्वाभाविकता के अंग हैं। यानी इन खास परिस्थितियों में ये संवाद कहानीकार के नहीं केवल उन पात्रों के संवाद हैं।

'लोग बिस्तरों पर' की कहानियाँ इस मामले में भी अपनी पीढ़ी की अधिकांश कहानियों से अलग हैं कि वे 'आत्मकथाएँ' कम-से-कम हैं—अर्थात् कहानीकार 'कहानी' की 'वस्तुगतता' से अधिक परिचित हैं। लेकिन यहीं आज की कहानी की एक समस्या का ज़िक्र किया जा सकता है : आज का कहानीकार कहानी कहने की 'अपनी' कला का जब तक आविष्कार नहीं कर लेता तब तक उसे अपनी पहचान' के लिए अपनी 'आंतरिकता' (सब्जेक्टिविटी) का ही पूरी तरह सहारा लेना पड़ेगा। नये कहानीकारों की 'आत्मकथात्मकता' का राज़ यही है! क्योंकि इसके बिना जैसे ही वह कहानी 'लेखकीय दूरी' पर रखकर लिखने की कोशिश करता है—वह 'ट्रेडिशनल' होने लगती है। काशी की अधिकांश कहानियाँ इसी कारण अपनी वर्णनात्मकता में 'ट्रेडिशनल' हो गई हैं—कहानी के 'कहानीपन' का मुकम्मिल स्वाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें मिलने लगता है—जिससे अपनी रक्षा वे एक 'फ्लाइट' के साथ 'फैंटेसी' में जाकर करते हैं। 'चायघर में मृत्यु' में बाकायदे चायघर कहानी कहने वाला और बीच-बीच में चाय की चुस्कियाँ आदि उपकरण एकत्र कर कहानीकार ओ० हेनरी और मोपांसा की वर्णनात्मकता में कहानी को ले जाता है। लेकिन इसके बावजूद कहानी एक विडम्बना को धीरे-धीरे खोलती हुई उस 'सुरक्षित बिन्दु' पर पहुँचती है जहाँ कहानीकार अपने को बचा ले जाता है।

'लोग बिस्तरों पर' कहानी की कमजोरी कई महत्त्वपूर्ण साठोत्तरी कहानियों की रेखांकित कमजोरी है और वह है 'फैंटेसी' लिखने की असफलता ! दरअसल 'फैंटेसी' का कथानक दुहरा हो ही नहीं सकता ! यदि 'फैंटेसी' का लेखक बीच-बीच में 'फैंटेसी' से अलग होकर यह संकेत देता चले कि वह 'फैंटेसी' नहीं एक महत्त्वपूर्ण यथार्थ व्यक्त कर रहा है तो कहानी 'फैंटेसी' और 'यथार्थ' दोनों धरातलों पर मारी जाती है। 'फैंटेसी' में 'रूपक' का छल चल ही नहीं सकता ! 'फैंटेसी' के 'विज़न' को इकहरे धरातल पर ही चलना होता है—तभी वह 'यथार्थ' के नये-नये कोण भी उद्घाटित करती चलती है !

साठोत्तरी कहानियों में यह 'एकतानता' पैदा न हो पाने का सबसे पहला एहसास उनकी वर्णनात्मकता से ही हो जाता है : 'लोग बिस्तरों पर' कहानी में कौंसिल साहब के पिता का सहसा बीमार होना, अखबारों में उसकी सूचना छपना और उसे लेकर कहानीकार का काफी देर तक व्यंग्यपूर्ण लहजे में उलझा रहना—यह एक सीधे यथार्थ का व्यंग्य है—हरिशंकर परसाई के तीखे रोचक निबन्धों की तरह ! दरअसल यहाँ तक कहानीकार यह निर्णय नहीं कर पाया होता है कि उसे 'फैंटेसी' रचनी है या कहानी को इसी धरातल पर चलने देना है। इसीलिए इस वातावरण को सहसा छोड़कर जब वह 'फैंटेसी' रचने लगता है तो वहाँ 'फैंटेसी' की घनीभूत एकतानता नहीं आ पाती बल्कि एक अविश्वसनीय अतिरंजना आ जाती है :

'उसने हाथ ऊपर उठाये। आदमी ने ज़ोर लगाया और उसकी खाल ठोड़ी की हड्डी में फिर फँस गई। उसके घुटने मुड़ आये, सारी देह सिमट आई और वह हाथों में झूलता हुआ काफी ऊपर उठ गया। उसे साँस लेने में दिक्कत हुई—लेकिन दूसरे ही क्षण वह एक चक्कर लेता हुआ फर्श पर चू पड़ा—बोरे के भीतर गुँथे हुए आटे की तरह।'

'फैंटेसी' के रूप में यह कहानी की चरम स्थिति है—'व्यवस्था' में फिट करने की अमानवीय दारुण यन्त्रणा ! लेकिन कहानीकार—कहानी को प्रारम्भ से ही इस स्थिति तक नहीं ले आया है, बल्कि अनजाने ही वह शुरू से उसे भंग करता रहा है—रोचक अखबारी व्यंग्यों से। 'फैंटेसी' और 'सीधे यथार्थ' के बीच तय न कर पाने की अपनी मनःस्थिति से यदि कहानीकार उबर सका होता तो यह कहानी साठोत्तरी कहानी की उपलब्धि बन गई होती।

चीख की भाषा भी हुल्लड़ हो गई

विष्णु खरे

१९६४ में कैलाश वाजपेयी का पहला कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ था और तब से अब तक के कुछ ही वर्षों में हिन्दी कविता में एक महत्वपूर्ण बदलाव आ चुका है। इस बात पर शायद सहमति हो गई है कि जिसे नई कविता कहा जाता था उसका युग समाप्त हो चुका है किन्तु उसकी उपलब्धियों को आत्मसात् कर हिन्दी कविता की समसामयिक धारा अधिक वेगवती तथा बलिष्ठ हुई है। नई कविता में से नव्य-छायावादी तत्त्वों का लोप हो जाने से और नये कवियों द्वारा उसे एक नई प्रखरता देने से आज हिन्दी कविता का स्वर केवल सात-आठ वर्षों पहले की ही कविता से इतना पृथक् है कि केवल शुतुर्मुर्गों को छोड़कर बाकी सब पर यह स्पष्ट है। हिन्दी काव्य-मानस एक ऐसी दहलीज पर खड़ा हुआ है जहाँ से पीछे मुड़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १९६४ में कैलाश वाजपेयी हिन्दी में अपने ढंग के एकमात्र कवि थे जिनकी कविताओं को उनकी प्रवृत्ति-विशेष से पहचाना जा सकता था। इन कविताओं में आक्रोश था, नफ़रत थी और एक क्रूरता थी और यह सब चूँकि उस समय नए थे, यदि स्वागतय नहीं थे तो कम-से-कम आकृष्ट तो करते ही थे और परिणामतः कैलाश वाजपेयी को एक ऐसा पाठक-वर्ग (और कवि-वर्ग भी) प्राप्त हुआ जिसके और उनके बीच घृणा-प्रेम सम्बन्ध था। उनकी कविताओं का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर बहुत तीखा था और स्वाद बहुत कसैला, किन्तु यह भी सही था कि कहीं जाकर उनका कवि एक गहरा सामाजिक प्राणी था। किन्तु अकवियों का झुंड उनके शब्दों के 'वॉयलेन्स' को अपनाकर उनसे भी आगे बढ़ तो गया, उनके सामाजिक संदर्भों से कट गया और फलस्वरूप हास्यास्पद अन्त को प्राप्त हुआ। कैलाश वाजपेयी शायद इससे इन्कार करें किन्तु हिन्दी में उनके बाद ऊलजलूल 'वॉयलेन्स' की जो बाढ़ आई है उसके लिए पहली जिम्मेदारी उन्हीं की है।

उनका दूसरा संग्रह[1] मूलतः पहले संग्रह से भिन्न नहीं है किन्तु यह अवश्य है कि रोष तथा असहायता का स्वर उनमें और संपृक्त तथा तीखा हो गया है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'संक्रान्त' की कविताओं से इस नए संग्रह की कविताएँ ज्यादा लम्बी हैं। पिछले पाँच वर्षों में न तो दुनिया में कुछ ऐसा हुआ है और न देश में कि उन सरीखे कवि से कुछ और की अपेक्षा की जा सके। यदि कवि समाज और विश्व से निर्लिप्त रह सके तो यह उसका सौभाग्य है क्योंकि फिर उसकी कविता से किसी तरह की माँग करना व्यर्थ होगा, किन्तु जो कवि अपने कृतित्व को अपने आसपास के विश्व के दाँव पर लगाता है वह जान-बूझकर एक जोखिम उठाता है। साहित्य समाज का दर्पण है या नहीं एक फूहड़ प्रश्न है, किन्तु यह सत्य है कि कवि न भी चाहे तो समाज में रहने तथा उससे प्रभावित होने (भले ही रिमोट-कण्ट्रोल से) के लिए अभिशप्त है और फिर इस दुबले पर दूसरा असाढ़ यह है कि वह सोचता, समझता, महसूस करता है—और लिखना भी चाहता है। 'सामाजिक' विषयों पर लिखी गई कविताओं के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें आकलन तथा टिप्पणी का दुहरा कर्तव्य निभाना पड़ता है और वह भी साहित्य के तक़ाज़ों के अन्तर्गत पत्रकारिता की सुविधाओं के बीच नहीं। सामाजिक स्थितियों पर लिखी गई कविता, यदि वह फूंक-फूंककर नहीं लिखी गई है तो तुरन्त एक ढर्रे का शिकार होती है और उसका अधिकांश हिस्सा अखबारनवीसी बनकर रह जाता है। सामाजिक कविता का 'यथार्थ' होना एक अनिवार्य शर्त है किन्तु यथार्थ को साँचा बनते देर नहीं लगती। इसमें यदि कुछ दोष कवि के एक फार्मूला के शिकार हो जाने का है तो उन स्थितियों का भी कम नहीं है जिन पर उसकी कविताएँ टिकी हुई हैं। एक तथ्य जो अक्सर भुला दिया जाता है वह यह है कि सामाजिक स्थितियाँ बहुत धीरे-धीरे तथा अधिकांशतः अदृश्य रूप में बदलती हैं—यदि अन्य बातें समान रहें तो बीसवीं सदी के इधर के दशकों में एक और पुनीत मिथक टूटा है और वह 'क्रान्ति' का है। और फिर स्थितियाँ किसी दूसरे देश में हर सप्ताह बदल जाएँ, भारत में जहाँ अभी भी जाति, धर्म, प्रांत, भाषा आदि के नाम पर क्या-कुछ नहीं हो रहा है, सामाजिक परिवर्तन की आशा एक चमत्कार की बाट जोहने के समान बचकानी है। उधर विश्व की राजनीति में भी एक गत्यवरोध आ गया है—कश्मीर, बिआफ्रा, वियतनाम, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन, रंगभेद, इज़राइल, निशस्त्रीकरण आदि शाश्वत प्रश्न बनकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी के उस कवि के लिए, जो अपने कच्चे माल के लिए सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर आश्रित है, यह अपरिवर्तनशील या अल्पपरिवर्तनशील सामग्री होती है—

१. राजनीतिक अव्यवस्था, संसद तथा विधान सभाओं की उपद्रवपूर्ण हास्यास्पदता, राजनीतिक चरित्रहीनता, सौदेबाज़ी, 'जनता' के हितों के प्रति पूर्ण उदासीनता।
२. एक भयावह अर्थव्यवस्था—ग़रीबी और अमीरी के बीच बढ़ती हुई अकल्पनीय खाई, महँगाई, बेरोज़गारी, इन्हें और त्रासद बनाती हुई बाढ़, अकाल, महामारी की दैवीय विपत्तियाँ।
३. पुलिसराज, नौकरशाही, गोलीबारी, हिन्दू-मुस्लिम दंगे, हिन्दी आन्दोलन, गौ आन्दोलन, अँग्रेज़ी आन्दोलन।
४. समाज के प्रत्येक अंग में भ्रष्टाचार, 'जनता' की अपरिमित सहन-शक्ति और बेहयाई, तमाम मूल्यों का ह्रास।
५. बुद्धिजीवियों की कुर्सीपरस्त नपुंसकता।
६. कलाओं का वाणिज्यीकरण।
७. देश से बाहर—हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन में रूसी अमानवीयता, नीग्रो तथा वियतनाम को लेकर अमरीकी बर्बरता तथा कभी भी विश्व-विनाश की सम्भावना।

यह सूची पूर्ण न मानी जाए, किन्तु मुझे विश्वास है कि

१. देहान्त से हटकर : अक्षर प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली-६, छः रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो मैं कहना चाह रहा हूँ उसे स्पष्ट करने में यह सहायक होगी। इन स्थितियों में परम्यूटेशन-कॉम्बिनेशन सम्भव है किन्तु कहीं आकर उनका भी अन्त होगा ही। प्रश्न यह है कि जब हिन्दी में तमाम ऐसे कवि, जो इन पर लगातार लिख रहे हैं, इन्हें तार-तार कर चुके होंगे और स्थितियाँ फिर भी नहीं बदलेंगी, तब क्या होगा ?

समसामयिक कविता के सामने शायद यह समस्या अभी न हो किन्तु जिस मुस्तैदी से कविताएँ लिखी जा रही हैं, कोई कारण नहीं दीखता कि बहुत शीघ्र कैलाश वाजपेयी तथा समानधर्मा कवियों के सामने वह उपस्थित न हो। आखिरकार आप कितने तरीकों से हमें यह बता सकते हैं कि संसद व्यर्थ है, भ्रष्टाचार बहुत है, पुलिस गोलियाँ चलाती है, नौजवान बेकार हैं और लोग भूखों मर रहे हैं। यह नहीं कि यह सब बताना महत्त्वपूर्ण नहीं है या यह सब असत्य है। प्रश्न यह है कि दुहराव-तिहराव-चौहराव के पश्चात् क्या हम इनकी प्रखरता और सत्य को कम तो नहीं कर रहे होंगे ? वह बात छोड़ भी दें, तो इन तमाम कवियों की इस तरह की तमाम कविताओं को पढ़ना कौन चाहेगा ? आज स्थिति कुछ ऐसी आ गई है कि कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, चन्द्रकान्त देवताले, धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी, जगदीश चतुर्वेदी की कविता में कुछ दूर जाकर फ़र्क़ करना न केवल कठिन हो गया है बल्कि अनावश्यक भी।

कैलाश वाजपेयी के दोनों संग्रहों में सवा सौ कविताएँ हैं जिनमें से शायद सौ 'एक जैसी' हैं। इसके बावजूद भी आप उन्हें पढ़ जाते हैं यह उनकी कम उपलब्धि नहीं है। कैलाश वाजपेयी अपनी बात साफ़-साफ़ कहते हैं—कई बार बहुत ज्यादा साफ़—और वह सीधी चोट भी करती है। किन्तु उनकी रचनाएँ कहीं भी राहत नहीं देतीं—एक लगातार तनाव दिमाग को जकड़े रहता है और इसीलिए कुछ देर बाद एक खीझ तथा उसके बाद एक सन्देह होने लगता है। प्रत्येक कवि का यह भरसक प्रयास रहता है कि उसकी कविताएँ एक प्रभाव छोड़ने में सफल रहें, किन्तु जब उसकी दिलचस्पी इसमें हो जाती है कि यह सिलसिला कभी टूटने ही न दिया जाए तो बात साफ़ हो जाती है कि उसके लिए प्रभाव तथा उसके उपकरण ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं, कथ्य नहीं। कैलाश वाजपेयी के पिछले संग्रह की कुछ उपमाएँ मुझे अनावश्यक रूप से श्रमसिद्ध तथा क्रूर लगी थीं—'जैसे ताज़ा कमल खौलते पानी में,' 'खौलते जल में जैसे बच्चा छूट गिरे' और इन कविताओं में भी यह आदत छूटी नहीं है—'कूद जाऊँ ताज़े चूने में' 'रात के कड़ाह में खून टपकता है'। मंच से जब धर्म-गुरु नरकों का आँखों देखा हाल सुनाते हैं तब श्रोताओं के विस्फारित नेत्रों को देखकर और भी रंगीन चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं। एक सीमा के बाद कैलाश वाजपेयी की कविताएँ भी सेडिज़्म को छूने लगती हैं और फिर कविता कविता न होकर सैल्फ़-फ़्लैगेलेशन हो जाती है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओं का एक उलझाने वाला पहलू उनमें सैन्स ऑव ह्यूमर की कमी भी है। वैसे पिछले संग्रह में—और इस संग्रह में भी—उनकी कुछ शरारती कविताएँ थीं अवश्य और उनसे हिन्दी कविता के गुरु-गम्भीर घटाटोप में कुछ आशा बँधती थी किन्तु आश्चर्य और खेद का विषय है कि अधिकांश रचनाएँ उस विनोद से अछूती हैं। कैलाश वाजपेयी की 'गम्भीर' कविताएँ बेराहत 'गम्भीर' हैं जबकि उनमें चुटकियों की अनेक सम्भावनाएँ थीं। इसलिए जब मैंने फ्लैप पर 'व्यंग्य' शब्द देखा तो मैं चौंका। अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी में दूसरों पर किया गया ही व्यंग्य माना जाता है किन्तु व्यंग्यकार यह भूल जाता है कि व्यंग्य करते समय उस पर भी कुछ छींटे पड़ते ही होंगे। जिस वेहेमेन्स तथा गांभीर्य से कैलाश वाजपेयी लिखते हैं और स्वयं पर हँस नहीं पाते वह आश्चर्यजनक है। चीख की भाषा भी यदि हुल्लड़ हो गयी है तो बहुत-कुछ दोष देर तक सिर्फ़ चीखते रहने का भी हो सकता है।

कैलाश वजापेयी की कविताओं में समसामयिक स्थितियों का सत्य असंदिग्ध है और आज के भारतीय समाज की विकृतियों की उनकी पहचान एकदम 'फर्स्ट-हैण्ड' है। प्रश्न पुराना है किन्तु अभी भी जायज़ है कि आखिर 'यथार्थ चित्रण' का किया क्या जाए ? कवि कह सकता है कि मेरा काम तो तुम्हें यह सब बतलाना ही था और मैंने वह कर दिया, अब तुम्हारी तुम जानो—कवि डॉक्टर तो है नहीं कि मर्ज़ भी बताए और इलाज भी करे। इससे आगे वह यह भी कह सकता है कि यथास्थिति का चित्रण क्या अपने-आपमें एक हथियार नहीं है ? किन्तु यथास्थिति का कहीं ज्यादा प्रामाणिक ब्यौरा तो सुबह के अखबार भी देते हैं, इसलिए क्या वे कविता से बड़े हो जाएँगे ? खबरें कविता होते-होते बन जाती हैं कि उन पर एक रचनाकार या उत्तरदायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तिष्क कलात्मक तरीके से कार्य नहीं करता। केवल सत्य सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होता, हम उसके कारणों, परिणामों तथा यदि आवश्यक हो तो, उपायों तक भी पहुँचना चाहते हैं।

यह हमें कैलाश वाजपेयी की कविता में दूसरे पहलू की ओर ले जाता है। उनके पास भय, घृणा, संत्रास, क्रोध तथा नकार के सारे शब्द मौजूद हैं किन्तु किसी तरह की आशा का कोई नामोनिशान नहीं है। स्पष्ट है कि यह रुख जान-बूझकर पोसा गया है और वे कहीं भी उम्मीद की गुंजाइश नहीं देखते। यहाँ आकर बात 'प्रतिबद्धता' तथा 'पक्षधरता' के करीब आने लगेगी, किन्तु मुझे कभी-कभी लगता है कि निराशावादी होना एक कठिन काम है। लेकिन निराशावादी होना एक और बात है और जूझने से मुँह मोड़ना दूसरी। इन कविताओं में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो कवि के संघर्षरत होने अथवा उसी ओर मुड़ने की इच्छा को प्रमाणित कर सके। 'एक भला आदमी कहलाने की धुन में/पीछे एक चीज़ हिलने वाली/लगा ली है', सरीखी पंक्ति मुक्तिबोध में ढूँढ़े नहीं मिलेगी। कैलाश वाजपेयी की प्रत्येक कविता के अन्त में जैसे अदृश्य अक्षरों में 'इसलिए पराजय ही स्वीकार है' ही लिखा हुआ है। चूँकि उनका विश्वास है कि 'विद्रोह/एक ऐसा हथियार है/ठीक रहे वार/बेमानी हो जाता है/न रहे,/खा जाता है जनक को', वह उनकी कविता से निष्कासित है। वे कहते हैं 'अब सब अति प्रश्नों से दूर चला आया हूँ' और मानते हैं कि 'रचना के अतिरिक्त मलत्याग से/कहीं अच्छी है/कठ जड़ता/मूर्ख सिद्धि/खालिस अकर्म!' स्पष्ट है कि 'स्टेटस को' रहे या उससे भी बदतर हालात हो जाएँ, उनका कवि निर्वाण की स्थिति में पहुँच चुका है। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि यह सारा शोर किसलिए? यहाँ पहुँचकर यह भयावह सम्भावना बनती है कि कहीं कैलाश वाजपेयी को यह नरक अभिव्यक्ति की एक सुविधा तो नहीं दे रहा है और इसीलिए वे उससे न छुटकारा पाना चाहते हैं और न देना। आज की भयावहता का सामना करने के दो तरीके हो सकते हैं—उसे पहचाना जाए और उससे जूझा जाए, या उसे पहचाना जाए और उससे जूझने के कार्य को व्यर्थ समझकर एक ऊबे हुए गुस्से का स्थायी आश्रय ले लिया जाए। कैलाश वाजपेयी का तरीका दूसरा है और हम सबको कभी-न-कभी 'यह सब व्यर्थ है' का अहसास हुआ है। इसके साथ खतरा यह भी है कि यह एक फ़ैशनेबल आश्रय बन जाता है और हर तरफ़ से आये हुए भगोड़े इसके नीचे आने की कोशिश करते हैं। धीरे-धीरे यह बहुत मँहगी विलासिता में बदल जाता है और इसके भाष्य भी बनने लगते हैं। हिन्दी के कुछ युवा कवियों ने इस खतरे को पहचाना है और फिर किन्हीं मूल्यों की ओर जाने का कोशिश होने लगी है। 'प्रतिबद्धता' आदि के नारों से दूर युवक कवि कोई ऐसी वस्तु खोज रहे हैं जो मुहर या साँचा न बनने पाए। कैलाश वाजपेयी ने सन् साठ के बाद की कविता को अपना योगदान दिया अवश्य, किन्तु इससे उन्हें कोई दुःख नहीं होना चाहिए। अब हिन्दी में कुछ नयी आवाज़ें ऐसी हैं जिन्होंने उसका परिष्कार किया है और उसे सही सन्दर्भ दिए हैं। कैलाश वाजपेयी की कविता को राइट-ऑफ़ कर देना सम्भव नहीं है किन्तु जब तक उनके विकास में प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक यही कहना होगा कि उनकी कविता वर्तमान सन्दर्भों में अर्ध-प्रासंगिक है।

सम्यक् शोक की छाया में चमकता लोक

कमलेश

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय का पाँचवाँ कविता संग्रह है। उनके समवयस्क किसी अन्य हिन्दी कवि के शायद ही इतने संग्रह प्रकाशित हुए हों। इन छपी कविताओं की संख्या भी पाँच सौ से ज्यादा ही होगी। उन्होंने कविताओं के अलावा एक कहानी संग्रह और दो छोटे उपन्यास भी प्रकाशित करवाये हैं। ये कितावें एक प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था से छपी हैं। इन सभी कृतियों में एक विशिष्ट संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं। उनमें व्यक्त लगाव भी लोगों को प्रियकर लगने चाहिए। इन सब बातों से विनोदचन्द्र पांडेय की अपने साहित्यिक समुदाय में खास भूमिका बननी चाहिए थी। हुआ है यह कि उनकी कृतियाँ नियमित तौर पर प्रकाशित होती रहीं, पर वे आलोचकों, समीक्षकों, पत्रिकाओं के सम्पादकों का ध्यान बिलकुल नहीं खींच पायीं। यह स्थिति

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ १४०, मूल्य पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ओर विनोदचन्द्र पांडेय की रचनाशीलता की खासियतों की, तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्यिक समुदाय के स्वभाव की जाँच को जरूरी बनाती हैं। किसी अन्य स्थल पर शायद यह किया जा सके। यहाँ हम केवल उनके नये कविता-संग्रह की कुछ कविताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने भर की कोशिश करेंगे।

विनोदचन्द्र पांडेय के पिछले संग्रहों की तरह विकल्प की कविताओं का मुख्य विषय प्रेम है—या प्रेम के बारे में प्रौढ़ का प्रेमोत्तर चिंतन। पहले प्रेम का कोई एक ही बारीक पहलू कविता बनता था, अब प्रेम की पूरी प्रक्रिया एक ही कविता में आ जाती है, बुद्धि पूरे जीवनक्रम में से जीवन का निष्कर्ष निचोड़ लाती है। निम्नलिखित कविता का शीर्षक है—वह घटना!

कब हम मिले, कब विशेष हुआ
मेरे विचारों में उसका विचार
उसे देखने, उसकी बातें सुनने
आ गया इन्तजार

पहले मधुर था और सह्य
मैं कई कारण दे देती थी
मेरे मन का अपना अर्थ
मेरी दृष्टि न व्यक्त करती थी

हमारे अलग-अलग थे
प्यार के कल्पनालोक
मैं तुमसे रखती रहस्य
तुम उसी संयम से मुझसे

वह घटना!
एक बार बन गया संवाद
भुलाई न जा सकती भाषा
मेरा रहस्य तुम ही हो
और आशा उतनी ही है
जितनी इस जीवन में आशा

(पृष्ठ २९-३०)

प्रेमोत्तर अवधि में आशा-निराशा भेद के निरसन के इस बिन्दु पर पहुँचकर प्रेम के 'अपूर्ण' (पृ० १०२) रूप और 'झूठ' (पृ० १२२) रूप का भी बोध है लेकिन वही जीवन का 'मेरा चमकता समय' भी है। सारा संसार इस 'सम्यक् शोक' (पृ० ११८), सम्यक् शान्ति से भीगा हुआ है।

तुम्हें भय था अन्याय न कर डालें हम
तुमने इतना सहा
अब निश्चिन्त हो दुःख में ?
गर्व के लायक अनन्त मिला ?

(आश्वासित पृ० १०६)

× × ×

मुझे सिखलाओ सहज
भय कैसे होता है क्षीण
बुद्ध की तरह आसीन
इस काली रात्रि से
तैर आना

(भय, पृष्ठ ११६)

× × ×

मैं त्यागता हूँ अपनी आत्मकथा
जो हुआ था, और आशा
कि अतीत में कुछ जोड़
अतीत को बदला जा सकता
मैं त्यागता हूँ कोई भी अनुभव
अतीत की (?) बजाए जो रह गया अनुभव से
और वह भी तृप्तियों को अणु मान
जिस महातृप्ति की हो सकती कल्पना
महा प्रेम, महा सफलता
मेरे शब्द जिसकी माया गढ़ते
मैं त्यागता हूँ चिन्तामणि मन
रहे, रहे बस यह सूनी तथता !

(संकल्प, पृ० ११७)

मात्र प्रेम से ही आर्य सत्यों की यह दृष्टि नहीं मिलती। ऊपर एक कविता में उल्लिखित बुद्ध और एक कविता शीर्षक 'प्रतीत्य समुत्पाद' (पृ० ११९-२०) उस 'सुनसान' का एहसास कराने वाली मनोभूमि की ओर संकेत करते हैं जहाँ सब-कुछ अपने अस्तित्व में निहित इस एकान्त में, भिन्न या अनभिज्ञ रूप से, बसा हुआ है।

गोला बारी से जला शहर
चाय पीते दो सैनिक; सुबह;
भूख भय से जीते जाना रोज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन के सम्यक् शोक की ओर
आँखें उठाए बिना

(सम्यक् शोक, पृ० ११०)

जब सब अन्त हो चुका होगा
उस महा-महायुद्ध के पश्चात
नष्ट सब नगर
मृत मनुष्य और जानवर
जैसा मैं पाता हूँ
प्रेमहीन सुनसान
पाएगा
उस उजाड़ धरती पर निकला चांद !

(सुनसान—पृ० ११०)

सारी प्रकृति इसी सुनसान से रिसी हुई है—

रात कोई आहट न हुई
पर जब सिरहाने पर था चांद
मेरी नींद खुल गयी
ऐसी पूर्णिमा, इतने चुपचाप

(आहटहीन, पृ० ४४)

...बरखा के बाद पहाड़ों पर
धूप के भी हाथ न लगती
अदृश्य चमकीली हवा

(स्पष्टता, पृ० ११२)

चिड़ियां लौट आई हैं
जल्दी में अव्यवस्थित;
गई थी कतार
इस शिशिर
जो कोई भी
ऊँचे आकाश पर निकला
ऐसी ही हुई हार

(इस शिशिर, पृ० ९६)

यह अनुभव जब वर्णनात्मक होता है तो लोकाख्यान-गीतिका बन जाता है, परीकथाओं में सुनी जाने वाली राजकुमार-राजकुमारी की कहानियाँ। संग्रह की सबसे लम्बी कविता 'कवि और राजकुमार' ऐसी ही कविता है। ऐसी ही कविता 'तूफ़ान की रात्रि' भी है जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—

जो वे थे फिर न रहे
जिस दिन फलांगी प्रेमियों ने घाटी

(पृ० ४५)

ऐसी ही कथा कविता 'रत्ना' १५ पंक्तियों में मात्र ५० शब्दों की है—

आठ बज गए
हो गया समय
कहानी में फँसी
रत्ना क्या करे
सत्तर पेज हैं
राजकुमारी क़ैद है
क़ैद रहेगी राजकुमारी
रात भर दैत्य के पास
रत्ना क्या करे
बज गए आठ
जिस विश्वास से उठी, रत्ना,
इस स्वीकार को याद रखना
आएगा जीवन में बार-बार,
घड़ियों के निर्मोही
छोटे-बड़े हाथ।

(पृ० ७१-७२)

यहाँ उद्धृत कविताओं से जाहिर है कि इनका विन्यास प्रचलित हिन्दी कविता से कुछ अलग है—शायद इसी कारण आज की हिन्दी कविता का अभ्यस्त पाठक इन कविताओं को पूरे मुक्त भाव से ग्रहण नहीं कर पाता। ज्यादातर कविताओं का गद्य के वाक्य में अन्वय नहीं हो पाता, इसलिए पाठक को सब कुछ भला-भला लगते हुए भी कुछ छूटा-छूटा सा लग सकता है। इतनी भी संक्षिप्ति का अभ्यस्त शायद हिन्दी पाठक नहीं हो सका है—

पलंग पर खोज
धूप का कोना
सुबह बिता डाली
बसों की गम्भीर आवाजें
चिड़ियों की हल्की
दूर पर जरा-सा धुआं
एक स्वप्न जो पास न आया
एक शांति जो दूर ही रही
अपने को जान लेना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भव है, न हुआ।

(नेताजी नगर, पृ० ६०)

कोई भी ऊब कर
नया खोजने के लिए चंचल
परखने रूप की धार
तुम्हारा जैसा भला भी···

(दिल्ली का शिशिर, पृ० ९)

इन कविताओं में राग का घनत्व पूरी पंक्ति में गाँठ की तरह पड़े हुए किसी बिम्ब से या अनुभूतिजन्य शब्द-समूहों की युग्मता से नहीं पैदा होता। "चीनी कविता-सी प्रफुल्ल और स्पष्ट" आस्वाद पूरी कविता के आकार में फैला रहता है। कविताओं को पढ़ने से यह नहीं लगता कि यह रूप सम्बन्धी जागरूकता की कमी के कारण है, बल्कि कथा-गीतियों आदि से यह लगता है कि कवि की रूपाकार सम्बन्धी प्रयोगों में भी दिलचस्पी है।

प्रेम के विश्लेषण के साथ आत्मविश्लेषण भी चलता है—

मेरी दक्षता है प्रपंच
मैं कभी कुछ कर न सका
विविधमुखी प्रतिभा
मेरी सब हीनता पर पर्दा डाले
अधूरे कर्मचारी से बचा
अधूरा कवि और इत्यादि
यही है मेरे अहं का यंत्र—
फैली माया
हर जगह हार कर हूँ
"कहीं और" सुरक्षित।

(मेरी माया, पृ० १०४)

इस 'हर जगह' का एक समाजशास्त्र भी है। यह समाज आम हिन्दी लेखक के समाज से थोड़ा अलग है। "अब तो जा चुकी जीवन से/तुम्हारे मिलन की विदेशी सैण्ट" (विदेशी सैण्ट, पृ० ११३), 'एयर कण्डीशंड' जगह, छोटे शहरों को 'मुफस्सिल' कहना, "ठण्डी रात गये/कार में अकेले लौटना/सो गये हैं नौकर तक, मैं ही हूँ एक/चाँद देखने वाला" आदि उल्लेख एक विशेष वर्ग की ओर संकेत करते हैं। इसी मनोभूमि की वजह से सेमीनार, शापिंग, पार्टियाँ, स्ट्रीट लैम्प, साइको सोमैटिक, स्नोलाइन, स्मार्ट आदि शब्दों का प्रयोग किसी और पृष्ठभूमि में उतना भद्दा नहीं लगता। एडिपस का प्रतीक, रहस्य-बोध में आने वाली बाधाओं के लिए 'क्लाउड ऑफ़ अननोइंग' शीर्षक, और स्नोह्वाइट की परीकथा भी इसी सन्दर्भ में चल सकती है। यहाँ पहाड़ से लेकर वास्को बन्दर तक के दृश्य हैं, जबकि हिन्दी चेतना अभी तक समुद्र को नहीं छू पायी है। 'चलती सीढ़ियों पर खड़े पुरुष' कितनों ने देखे होंगे।

यह अपरिचय की भाषा इन कविताओं की लोकप्रियता के रास्ते में एक रुकावट हो सकती है फिर भी दूर से भी हमें परम शोक में डूबे उजले चमकते ये दृश्य प्रीतिकर लगते हैं।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

कविता और राजनीति

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

देश या समाज जब कभी इतिहास के विध्वंसक दौर से गुज़रने लगता है तो राजनीतिक ध्रुवीकरण के क्रम में साहित्यकारों के सामने यह प्रश्न अपने संपूर्ण तीखेपन के साथ उठाया जाता है। अपने देश के प्रसंग में यह बात आज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि देश का आर्थिक संकट अब राजनीतिक संकट की पहली अवस्था में पहुँच गया है। संकट के आधार से बाह्य ढाँचे में संतरण—यही वह समस्या है जिसकी वजह से साहित्य को इस समस्या से जूझना पड़ रहा है। दूसरे महायुद्ध के समय भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी। उस समय लगभग सभी भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य के साथ यह प्रश्न उठा था।

वियतनाम की लड़ाई के प्रसंग में 'जनयुग' (१९६५ ई०) से 'साहित्यकार और राजनीति' पर विवाद चलाया गया था। उस समय एक खास किस्म के लेखकों ने इस विवाद के प्रस्तावक के विरुद्ध अभियान चलाया और मूलतः इस तर्क के साथ कि साहित्य का तो राजनीति से सम्बन्ध हो सकता है, साहित्यकार का नहीं। आज फिर जब वही प्रश्न उठाया गया है तो वे कहते हैं कि कवि का संबंध हो सकता है, कविता का नहीं। इस तरह की दुमुँहा बातें होती रही हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक खास प्रकार की राजनीति चलाने में कुशल अज्ञेय, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा फिर इस परिसंवाद में शरीक हैं। पर इस बार शीतयुद्ध का हथियार बदल लिया गया है। इस बहस में रघुवीर सहाय सत्ता प्रतिष्ठान मात्र को कोसते हैं—"आज से तीन साल पहले, नेहरू की मृत्यु से थोड़ा-सा पहले एक धारा चली थी कि राजनीति से हमें कोई मतलब नहीं। वह राजनीति की एक धारा से संबद्ध थी।" खेद है कि यहाँ भी अर्धसत्य के सहारे दिखाने के दाँत का गज़ब ढाया गया है। कहना तो यह चाहिए था कि यह यथास्थिति की एक राजनीतिक धारा थी जो बहुत ही सुनियोजित ढंग से, हर स्तर पर, हर क्षेत्र में लागू की जा रही थी। कवियों से कहा जाता था कविता लिखो, तुम्हें राजनीति से क्या लेना-देना; अध्यापकों से कहा जाता था शिक्षा मन्दिर को राजनीति से अपवित्र मत करो और मज़दूरों किसानों से कहा जा रहा था—विरोध और आन्दोलन क्यों राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाओ।

यथास्थिति की उस राजनीति का असर नयी पीढ़ी के कुछेक लोगों पर बड़ा गहरा रहा है; लेकिन रंग-ढंग बदलकर नयी पीढ़ी के इन कुछेक रचनाकारों ने यह कहना आरम्भ किया कि राजनीति मात्र भ्रष्ट है; राजनीति का पूरी तरह विरोध किया गया और राजनीतिक दलों की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को अंतर्वस्तु के स्तर पर समान रूप से भ्रष्ट कहने की लीक पीटी जाने लगी।

ईमानदार लोग स्वीकार करेंगे कि कविता से राजनीति को खदेड़ते रहने की मुस्तैदी एक तरफ से बराबर होती रही है और यह कोशिश शीतयुद्ध के रूप में अब भी जारी है। बदलाव केवल इतना है कि खदेड़ने की कोशिश में अब तर्क की बाजीगरी, घपले और छद्म गम्भीरता के साथ विचार-विमर्श का अभिनय आरम्भ हो गया है। इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि **'रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल'** उठाना किस हद तक उनके अस्तित्व की लाचारी है। हालाँकि वे अपना डर छिपा नहीं पाते—**'कहीं कविता को फिर राजनीतिक हथियार तो नहीं बनाया जा रहा है?'** फिर उनकी समझ में यह आता है कि नये कृतिकारों का राजनीति से कोई खास लगाव नहीं है। कविताओं में जो आक्रोश व्यक्त हुआ है वह **'निजी ट्रेजिक प्रोटेस्ट'** मात्र है। रहस्य की इस गाँठ के खुलते ही वे राहत की साँस लेते हैं और मुहावरे का एक फसाद खड़ा कर देते हैं—'वे कवियों की निजी मुद्राएँ हैं स्वयंस्फूर्त और मुक्त,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् व्यवस्था के बदल जाने का कहीं कोई खतरा नहीं है और न व्यवस्था के बदलने में प्रयत्नशील किसी क्रांतिकारी जन-आन्दोलन से इन मुद्राओं का कोई सम्बन्ध है। बस यही वह स्वयंसिद्धि है जिसके सहारे, पता नहीं कैसे तालमेल बिठाते हुए वे इन कविताओं में वयस्कता भी देख लेते हैं; अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की मूल्यवान कोशिश भी। अशोक वाजपेयी की इस मनोदशा पर उनके वर्गस्वामियों की मनोदशा की पूरी छाप है। पीटर वाइस ने ठीक ही कहा है—"जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिंता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती।" कवियों के निजी प्रतिवाद से चूंकि सत्ताधारियों के शिकंजे और भी मजबूत होते चले जाते हैं, अतः अशोक वाजपेयी कवियों की ऐसी राजनीति के समर्थक हो गये हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या सचमुच आज की कविता की जो मुख्य धारा है, उसमें कवियों की निजी मुद्राएँ ही हैं? सापेक्ष राजनीतिक संदर्भ की जिन्हें समझ है वे जानते हैं कि '६०-'६२ के बाद के कवियों की ये मुद्राएँ स्वयंस्फूर्त और मुक्त नहीं हैं बल्कि शासकों के विरुद्ध उभरते हुए व्यापक जन-असंतोष का हिस्सा हैं। युवा कवियों में अनेक ऐसे हैं जिनका पूरा रवैया जन-आन्दोलनों से निर्धारित हुआ है। इनका रवैया, कोई अनोखी चीज़, कोई निरपेक्ष, कोई व्यक्तिगत क्रियाकलाप नहीं है। ऐसी स्थिति में **"काव्य भाषा की नयी तात्कालिकता, चमक और विस्तार"** को "सामूहिक आन्दोलन का परिणाम" न मानना, मौलिक सूझ का दावा मात्र है, सचाई नहीं। फिर उन्हीं की परस्पर-विरोधी बातें भी याद आ जाती है, यानी यथार्थ से आज के कवि ने जिन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा साक्षात्कार की कोशिश की है, उन साक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है—" राजनीति से नया सम्बन्ध अंततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है—वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम-भरे साहित्य की ओर जाना है। वह नयी कविता की बिम्बमालाओं, प्रतीक मुद्राओं और रूढ़ियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव-प्रतिभा को फिर जीवन्त, ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है—वह उसे सभा-जुलूस, नारेबाज़ी, भाषण, कर्फ्यू, मतदान, बहस, षड्यंत्र, क्रांति, लाठीचार्ज, युद्ध, गुण नियन्त्रण, मार्शल लॉ, चुनाव, संसद् आदि में यानी उसकी रोज़मर्रा का दुनिया में रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित रहने की कोशिश है।" यह कोशिश व्यापक जनविक्षोभ के दबावों से उत्पन्न है, कोई आकस्मिक चमत्कार नहीं। प्रगतिवादी कविता और आज की कविता का भेद भी इसी सापेक्ष ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना चाहिए।

अशोक वाजपेयी अपने पूरे वक्तव्य में इस बात से सन्तुष्ट हैं कि आज के "युवतर कवियों की राजनीति, या शायद उसे प्रतिराजनीति कहना आज के मुहावरे में बेहतर हो, ज्यादा से ज्यादा सामान्य रूप से वामपक्षी कही जा सकती है: पर वह क्रांतिकारी या आदर्श-प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है। वह निजी प्रोटेस्ट, विद्रोह या विरोध की राजनीति है—अल्वारेज के शब्द उधार लेकर कहें तो वह स्थायी रूप से विरोध पक्ष में रहने की राजनीति।" यह निष्कर्ष भी '६७ और '६९ के चुनाव-परिणामों को ध्यान में रखने पर अर्द्धसत्य प्रतीत होता है। पूर्ण सत्य तो यह है कि जनमत गैर-कांग्रेसवाद के पक्ष में गया है—राजनीतिक ध्रुवीकरण तेज़ी से अहिन्दीभाषी राज्यों में हो रहा है और हिन्दीभाषी राज्यों में यथास्थिति की राजनीति अब भी काफी हद तक जनता की आँखों में धूल झोंककर सत्ता हथिया रही है, किन्तु जनविक्षोभ जारी है। आज के कवियों का राजनीति के प्रति रवैया इस स्थिति का ही पर्याय है। जिस त्वरा में अशोक वाजपेयी अल्वारेज का निष्कर्ष लागू करने को उतावले हैं, वह असल में यथास्थिति की राजनीति का ही रूपभेद से विस्तार है।

ग़ौर किया जा सकता है कि साहित्य और राजनीति के सहसंबंध को लेकर खुले तौर पर कुछ लोग शत्रुतापूर्ण रवैया नहीं अपनाते। इसलिए उनके रवैये की पूरी अंतर्वस्तु और उसके सही स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक हो गया है।

अभी केवल अशोक वाजपेयी के वक्तव्य में निहित अंतर्विरोधों को स्पष्ट किया गया है। देखना यह है कि ऐसी घपलेबाजी क्या पूरे परिसंवाद में नहीं है? **सभी वक्तव्यों को पढ़ने पर घपलेबाजों का संयुक्त मोर्चा साफ-साफ दिखाई पड़ता है।** मोर्चे के 'आधुनिक' दावेदार श्रीकांत वर्मा का कहना है—"साधारणतया जिसे विरोध की कविता कहा जाता है, उसके अस्तित्व में वंचना होती है। विरोध की कविता का अर्थ है राजनीति से विरोध की कविता। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह की कविता राजनीति की शर्तों पर उसका विरोध करती है; दूसरे शब्दों में वह विरोध नहीं करती, वह राजनीति को कविता का प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र मानकर उसी के नियमों से अपना संगठन करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि राज्य-सत्ताएँ इस तरह के काव्य का स्वागत करती हैं बल्कि अभिनन्दन करती हैं। विरोध का विकल्प पलायन नहीं—बल्कि गहरा आत्मसाक्षात्कार है।" क्या श्रीकांत बता सकते हैं कि ऑक्टिवियो पॉज का अभिनन्दन उन्होंने किसी राज्यसत्ता की ओर से किया था ? उस अभिनन्दनीय कवि ने छात्र-आन्दोलन के दमन के प्रतिवाद-स्वरूप जो कुछ भी लिखा था, उसके 'अस्तित्व में वंचना' थी ? इतना ही नहीं श्रीकांत यह मानते हैं कि आत्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध शुद्ध अनुभव से है, विचार से उसका दूर का भी रिश्ता नहीं होता— "राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं विचार होता है। वह या तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित विचार का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के ज़रिये अनुभव को झुठलाती है।" श्रीकांतजी के लिए अनुभव हारिल की लकड़ी है, जिसे वे पूरी ताकत से, बकसरत पकड़े हुए हैं। उनके लिए 'कविता और राजनीति' के बहाने 'अनुभव और विचार' की लड़ाई है जिसमें अनुभववाद के वे प्रवक्ता हैं। कविता की स्वायत्तता अगर इतनी संकीर्ण है कि उससे विचार का बहिष्कार अनिवार्य है तो फिर यह देखना पड़ेगा कि क्या अनुभव की भी कोई सीमा उनके पास है। वे कविता में उन्हीं अनुभवों के कायल हैं जिनका **'उत्तरदायित्वों'** और **'प्रतिवादों'** से कोई लगाव नहीं है। यहाँ आकर यह साफ हो जाता है कि श्रीकांत वर्मा के अनुभववाद और अशोक वाजपेयी के 'निजी प्रोटेस्ट' अर्थात् 'अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की कोशिश' में सिर्फ बलाघात का फर्क है, अंतर्वस्तु एक ही है।

घपले की शब्दावली में उलझाव की कोशिश करने वालों का एक गिरोह है। इस गिरोह की अपनी एक राजनीति है जो एक खास वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर सांस्कृतिक उत्पीड़न बनाये रखना चाहती है। जिस वर्ग का हित-साधन ये करते हैं, वह बाह्य कारण है और इनके व्यक्तिगत हित आंतरिक कारण हैं। परोपजीवी वर्ग के पिछलग्गुओं के भीतर भी परस्पर हितों का टकराव है—अतः एक घटक और दूसरे घटक के भीतर गुणात्मक भेद बनता चला जाता है। यही वह अन्तर्विरोध है जो इस बहस में शरीक घपलाबाजों की विशिष्ट अंतर्वस्तु को निर्धारित कर रहा है।

इस विवाद को 'नैतिकता' की तरफ मोड़ने का प्रयत्न अज्ञेय की ओर से हुआ है। वे मानते हैं कि नयी पीढ़ी का कवि **"अनैतिक या नीति-अतीत सूत्र से एक नैतिक युद्ध"** लड़ रहा है। अज्ञेय राजनीति पर पर्दा डालकर नीति में भाग खड़े हुए हैं। मानो आज के कवि की नैतिकता जन्मजात हो। पूछा जा सकता है अनादि काल से कवि की प्रकृति में नैतिकता अंतर्भूत रही है क्या ? या रचनात्मक क्रियाकलाप में वह अनिवार्य रूप से चिपकी होती है ? हमें मालूम है वे कभी भी यह स्वीकार नहीं करेंगे कि वर्गसमाज में व्यक्ति अपने हितों के लिए समाज के हितों का हनन करता है। ज़ाहिर है, ऐसी हालत में वह हरेक के विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है। जिस समाज में निजी संपत्ति का प्रभुत्व होता है, उसमें 'निजी संपत्ति व्यक्तिगत और समाजगत हितों में अनिवार्य रूप से द्वन्द्व के बीज बोती चलती है।' आज आदमी को खाकर ही आदमी फलफूल रहा है। इस स्थिति पर कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह के 'अनुभव' पर ग़ौर करें—

> **बात बातों का जवाब नहीं होती—**
> **सवाल हो सकती है।**
> **जैसे आदमी आदमी के लिए**
> **आज सबसे बड़ा सवाल है।**
>
> ('प्रतिश्रुत पीढ़ी'...में संगृहीत कविता से)

संविधान में निजी संपत्ति के अधिकार की गारंटी से ही ये सारे सवाल उत्पन्न होते हैं। इस संदर्भ में मानवीय स्वतंत्रता के सारे वायदे मक्कारी के अलावा और क्या लग सकते हैं ? एक ओर उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और दूसरी ओर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—मानवीय स्वतंत्रता—सीधी टकराहट है और इसमें फिलहाल जीतता है निजी स्वामित्व। बोलने की आज़ादी, काम करने की आज़ादी से कोई किसी को गुलाम नहीं बना सकता; पर निजी संपत्ति के अधिकारों के उपभोग की आज़ादी से पूरे देश को गुलाम बनाया जा रहा है। आज का कवि इसे साफ, नंगी आँखों देखता है और वही नंगी आँखें कविता में रख देता है—

> **देखो,**
> **इस देश की हर सड़क**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है
चीजों और नामों से भरी इन चौड़ी जगहों पर
तबीयत अचानक उखड़ने लग जाती है
तब तुम्हें हर बार यही क्यों लगता है
—मकान में और शहर में बड़ा भारी भेद है

—लीलाधर जगूड़ी

पर हम उन्हें क्या कहें जो तिजोरी तक जाने वाली सड़क को हर समझदार की आँखों से ओट करने में लगे है—वे इस सड़क को न देखने का नटधर्म निभाते हैं और कहते हैं आत्म-साक्षात्कार करता हूँ। "अनुभव की दुनिया और नैतिक उत्तरदायित्वों की दुनिया, दोनों के बीच आज तक एक गहरी खाई है। अनुभव की दुनिया कविता की दुनिया है, उत्तरदायित्वों और प्रतिवादों की दुनिया राजनीति की दुनिया है।"

—श्रीकांत वर्मा ('जन', पृ० ३६, अप्रैल '६६)

जिस तरह अनुभव की दुनिया में 'तिजोरी तक जाने वाली सड़कें' नहीं हैं, उसी तरह अज्ञेय की समझ की दुनिया में राज्य पूंजीपतियों और सामंतों के वर्ग-स्वार्थ की पूर्ति का हथियार न होकर, निर्गुण ब्रह्म की तरह 'निर्वैयक्तिक', सूक्ष्म, अरूप कोई अजूबा-सा है। भला उससे लड़ें कैसे! इससे वेहतर तो यही है कि कविता और राजनीति के संबंध के प्रसंग में राज्य के वर्ग-स्वरूप पर पर्दा डाल दिया जाए। और अज्ञेय इस चाल में सफल हुए हैं।

अन्त में इतना ही कहना शेष है कि आज की कविता का एक ही संदर्भ है और वह है राजनीति। राजनीति को अलग कर दीजिए, आज की कविता के किसी भी शब्द को, किसी भी वाक्यखंड को समझ पाना मुश्किल है।

राजनीति कविता की अंतर्वस्तु है और कविता अपने-आपमें निरन्तर विकसित होता हुआ एक साँचा है—एक खास प्रकार की संवेदना को व्यक्त करने वाली विधा—जिसका विकास होता चला आ रहा है। जो कविता प्रचार लगती है, वह साँचे का घटिया ढंग से इस्तेमाल होने के कारण ही घटिया नहीं लगती, बल्कि उसकी अंतर्वस्तु को भी संवेदना-शून्य समझना चाहिए। कविता को पुनर्जीवित करने के क्रम में अब केवल 'राजनीति' ही ऐसा संदर्भ है जो धर्म का स्थानापन्न, जनवादी स्थानापन्न हो सकती है—

मैं बैठ गया हूँ एक अँधेरी गुफा में
पैना रहा हूँ आदिम अस्त्र कुछ
जोखम भरे शब्द
और कभी-कभी छापे मार देता हूँ
आधुनिकतम हथियारों से सुरक्षित
सभ्यता के खेमे पर
लिख देता हूँ अपने लहू से एक कविता
एक चेतावनी यातनागृहों की दीवारों पर

(राजीव सक्सेना, 'वियतकांग', प्रतिश्रुत पीढ़ी, पृ० १६१)

'५१-५२ में लिखित मुक्तिबोध की एक कविता आज भी अपने राजनीतिक सन्दर्भ की दृष्टि से नयी प्रतीत होती है—

यदि यह बदरिया गगन में छाकर उधर ही गयी,
बरगदों की प्यास
मूलों में उभर, उठ ऐंठ कर
बँध व्यंग्य आकृति में अगर
घिर ही गयी;
जल ताल का यदि सूखकर
लम्बी दरारों में हृदय की भूख भर
भूरी हँसी हँस ही दिया
यदि हर्ष व्याकुल विहग बिजली-तार पर
बैठा कि लटका
काल ने ग्रस ही लिया
फिर भी तुम्हारी आस है ''

मुक्तिबोध, (पथरेखा खिंचेगी ही, प्रतीक-७, पृ० ६१)

कविता का भविष्य उसकी अंतर्वस्तु निर्धारित करती है। हर युग सामाजिक दबावों से अन्तर्वस्तु के विभिन्न तत्त्वों की मात्रा और गुणात्मकता में हेरफेर करता है। आज की कविता की अन्तर्वस्तु राजनीति है; उसके विभिन्न तत्त्व क्या हैं और उनकी गुणात्मकता का स्वरूप क्या है—यह अलग विषय है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिदंबरा

भारतीय ज्ञानपीठ के एक लाख रुपए
के
पुरस्कार से सम्मानित

'३७ से '५७ तक कवि के प्रायः बीस वर्षों की
विकास श्रेणी का विस्तार

रु० १०.००

श्री सुमित्रानंदन पंत

कविवर पंत जी की अन्य सुप्रसिद्ध कृतियाँ

- लोकायतन (सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित) २५.००
- कला और बूढ़ा चाँद (साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत) ६.५०
- अभिषेकिता ३.००
- पल्लव ६.००
- किरण वीणा ८.००
- पुरुषोत्तम राम ३.५०
- अतिमा ४.००
- रश्मिबंध २.५०
- पल्लविनी ११.००
- शिल्पी ४.००
- पौ फटने से पहिले ८.००

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली : डॉ० रांगेय राघव	१०.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.००
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	६.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
तुलसीदास : चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान	६.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र	३.५०

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८ फ़ैज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डॉ० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

रघुवीर सहाय का बहुचर्चित कविता-संग्रह

आत्महत्या के विरुद्ध

'Raghuvir Sahai is purely individual in his approach.' —ENLITE

"'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताएँ समसामयिक हैं। वे 'लाखों का दर्द' नये शब्दों में व्यक्त करती हैं।"

—शिवबच्चन सिंह

और

'रघुवीर सहाय का कवि न केवल अज्ञेय से बहुत दूर निकल आया है, वरन अपने साथी कवियों से भी वह भिन्न है।'

—अश्क

मूल्य : ५.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' पर संवाद।
- डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' पर सर्वश्री अमृतलाल नागर, नेमिचन्द्र जैन, और चन्द्रबली सिंह की समीक्षाएँ।
- डा० शिवप्रसाद के उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' पर श्री विजयदेवनारायण साही की समीक्षा।
- डा० रामविलास शर्मा का निबंध 'अस्तित्ववाद और नई कविता'।
- श्री सुरेन्द्र चौधरी की लेखमाला 'मार्क्सवाद और समकालीन बोर्ज्वा विचारधाराएँ' की पहली किस्त।
- 'राजनीति और कविता' पर श्री कमलेश का निबंध।
- 'अस्तित्ववादी सौन्दर्य शास्त्र' पर डा० कुमार विमल का निबंध।
- कविताएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' सर्वेक्षण माला

अब छः पुस्तकें उपलब्ध

सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

इस पुस्तक माला का उद्देश्य सजग पाठक को आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों, साहित्य विधाओं और विशिष्ट प्रवृत्तियों का परिचय देना है।

रहस्यवाद	प्रगतिवाद	हिन्दी कहानी
डा० राममूर्ति त्रिपाठी	डा० शिवकुमार मिश्र	डा० इन्द्रनाथ मदान
रु० ७.००	रु० ७.००	रु० ७.५०

ये तीन नई पुस्तकें
और प्रकाशित
हो चुकी हैं।

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
डॉ० रामदरश मिश्र
•
रु० ८.००

प्रेमचन्द
डॉ० गंगाप्रसाद विमल
•
रु० ७.००

निराला : काव्य समीक्षा
डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
•
रु० ७.५०

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

P R
८४
दि. ३६आ
जा. मा. ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

ग़ालिब की याद में

एक ख़त ग़ालिब के नाम (कविता) — कैलाश वाजपेयी — ३

ग़ालिब : मेरी दृष्टि में — शमशेर बहादुर सिंह — ४

ग़ालिब की महत्ता — ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी — ६

ग़ालिब की आधुनिकता — अहमद हुसेन — ११

ग़ालिब और सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति — कुँवर मोहम्मद अशरफ़ — २६

मिर्ज़ा ग़ालिब-अन्तर्विरोधों के बीच — नईम अहमद — ३१

जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब — विश्वनाथ त्रिपाठी — ३९

ग़ालिब की फ़ारसी कविता — नूरूल हसन अन्सारी — ४४

ग़ालिब का व्यंग्य और हास्य — क़मर रईस — ४७

ग़ालिब के गद्य के नये आयाम — क़ाज़ी अब्दुल सत्तार — ५४

ग़ालिब और सर सैयद — फ़र्रुख जलाली — ५७

तुम्हें हम वली समझते — रियाज़ पंजाबी — ६१

ग़ालिब : हिन्दी में — राजेन्द्र शर्मा — ६४

अगले झूठ के लिए (कविता) — मंगलेश डबराल — ६७

लोकतंत्र के लिहाफ़ में (कविता) — त्रिनेत्र जोशी — ६९

• समकालीन कविता

समकालीन कविता : अँधेरे से साक्षात्कार — सुरेन्द्र चौधरी — ७०

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा — मलयज — ८१

कविता की भाषा — परमानन्द श्रीवास्तव — ८८

• मूल्यांकन

समझदारी का व्यंग्यपूर्ण अहसास और विडम्बना की नाटकीयता — विजयमोहन सिंह — ९१

चीख़ की भाषा भी हुल्लड़ हो गई — विष्णु खरे — ९५

सम्यक शोक की छाया में चमकता लोक — कमलेश — ९८

• विनिमय

कविता और राजनीति — मुरली मनोहरप्रसाद सिंह — १०२

वर्ष १८ : नवांक ८, (पूर्णांक ४५) जनवरी-मार्च १९६९, मूल्य ३.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००

विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की याद में

जन्म : २७ दिसम्बर, १७६७
मृत्यु : १५ फरवरी, १८६९

'आलोचना' के वार्षिक ग्राहकों को सूचना

डाक विभाग द्वारा इस वर्ष पुनः रजिस्ट्री पैकेट की डाक-दर बढ़ा दिये जाने के कारण रजिस्ट्री से आलोचना के अंक भेजने की दरों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। अब पूर्णांक ४५ से रजिस्ट्री शुल्क सहित वार्षिक चन्दा १५ रुपये होगा। साधारण डाक से 'आलोचना' मँगाने पर वार्षिक शुल्क पूर्ववत् ही होगा।

व्यवस्था विभाग

आलोचना

वर्ष : १८

नवांक : ८

जनवरी-मार्च, १९६९

संपादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध संपादक
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ख़त, ग़ालिब के नाम

कैलाश वाजपेयी

लो फिर से फूट पड़ा लावा
बन्द भाप फट गई
ग़ज़लों की लपटें, छा गईं सर्द आसमान पर।
ख़ून में हरारत
आँखों में पारा भरे हुए
टूट पड़ी दिल्ली तुम्हारे मज़ार पर !
सुनो असद !
मैं एक अदना-सा शायर, या शायद ख़बरगो
ठीक सौ बरस बाद
तुम्हारे शहर का हाल लिख रहा हूँ !
जहाँ कहीं छोड़ी थी तुमने दिल्ली
दस क़दम आगे है अब तबाही में—
'रोज़ इस शहर में नया हुक्म होता है'
जैसा कुछ हुआ था
अठारह-सौ सत्तावन में
अब वैसा रोज़-रोज़ होता है।
तुम्हारे ज़माने में आया फिरंगी
गया नहीं—घुसकर
रहने लगा है सबके दिमाग़ में
सब सफ़ाखाने कसाईघर हो गए
बीमारियाँ—पैदा होती हैं बाग़ में।
और असद !
मरने के लिए इस शहर में
ज़हर अब ज़रा भी ज़रूरी नहीं रहा
हया ख़त्म हो गई दलबदल के साथ
शायरी करना
मजबूरी नहीं रहा !
शोहरत अब सिर्फ़ लफ़ंगों को मिलती है
यह कहना मुश्किल है
किसकी रोटी किससे चलती है।
तुम कहा करते थे 'बख़्श दो।'
मगर असद,
लोग—ख़ता भी करते हैं धौंस भी जमाते हैं
हर आने वाले मंत्री के साथ
पिछले सब वायदे गुड़ुप हो जाते हैं।
शहर अब ट्यूमर की तरह बढ़ गया है
हर दोस्त, एक घास ढकी खाई है
माँ-बाप, बच्चों से, छुट्टी के दिन सिर्फ़ मिलते हैं
हर ड्राइंग रूम—मुँहफाड़ जमुहाई है।
तुम ख़ुशक़िस्मत थे असद।
तुम्हारे ज़माने में
भीतर की पर्तों में लौटकर
मुमकिन था दर्द का एक रेशमी जाल बुनना
अपनी तकलीफ़ ख़ुद अपने से कहना
ख़ुद सुनना।
मगर सौ बरस बाद आज अब
महीन काम (शायरी) मुमकिन नहीं रहा
भीतर बाहर
इतना उखड़ उधड़ गया है आदमी
कि न ग़लत ग़लत रहा
न सही सही रहा।

१. सोलह फ़रवरी को ग़ालिब शताब्दी समारोह के सिलसिले में आयोजित कविगोष्ठी में पढ़ी गई इस रचना के कुछ अंशों को, आकाशवाणी ने अगले दिन कार्यक्रम प्रसारित करते हुए, आपत्तिजनक मानकर काट दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : मेरी दृष्टि में

शमशेर बहादुर सिंह

ग़ालिब ख़ुद एक बड़ा हीरो है अपनी व्यापकता के केन्द्र में, जो कि स्पष्ट एक आधुनिक चीज़ है। व्यक्ति का निर्वाध अपनापन। हर बात में अपने व्यक्तित्व को—अपने निजी दृष्टिकोण को सामने रखना। मैं ख़ुद किस पहलू से सोचता हूँ, किस ढंग से महसूस करता हूँ, यह उसके लिए महत्त्व की बात है।

हर बात की तह में जाने की—अपने विशिष्ट तौर पर उसका मर्म समझने की—उसकी कोशिश सर्वत्र प्रकट है।

उसकी मुसीबतें, उसका संघर्ष, जिसको वह कभी छिपाता नहीं···उसके शब्दों में हू-ब-हू आधुनिक-सा लगता है। अजब बात है। उसमें आज के, आधुनिक साहित्यकार की-सी, पूरी तड़प और वेदना के बीच, एक तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि है। उसका यथार्थवाद निर्मम है। मुक्तिबोध और निराला, अपने भिन्न संस्कारों के अस्त-व्यस्त परिवेश में, उसको कुछ-न-कुछ प्रतिबिम्बित करते हैं। निराला का यह प्रिय शेर था—

रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल
जब आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

क्या ताज्जुब है जो उसके युग ने उसको नहीं पहचाना।

अगलों के काव्य-शिल्प को वह अन्दर से ग्रहण करता है : उस शिल्प की आंतरिक, प्रातिभ, योजना को मात्र शब्दों और मुहावरों को, उनके प्रयोग की रीतियों को, वह उस्तादों के जीवन्त प्रयोगों से ग्रहण करता था, अपने ख़ास तेवर के साथ।

लोगों ने सही कहा है कि जो शख़्स एक अर्से से अंग्रेज़ी अमलदारी और क़ानून-व्यवस्था और नीतियों को निकट से और विचारपूर्ण दृष्टि से देखता आ रहा हो, जो कलकत्ते के वातावरण को भी ख़ासी-अच्छी तरह सूँघ आया हो, वह जीविका के लिए मुग़ल दरबार से बँधा रहकर भी, अपनी चेतना में पिछले युग से कभी जुड़ा हुआ नहीं रह सकता। इस अर्थ में भी ग़ालिब अपने युग में अकेला था।

वह क़सीदे लिखता है तो अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति—जो क़सीदे का बहरहाल आवश्यक अंग है—उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होती। बल्कि अपनी प्रतिभा का ओज, काव्यकला पर अपना पूर्ण अधिकार, अर्थात् क़सीदे की विद्या का सांगोपांग पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करना—अपने समकालीनों को दिखाना : यह होता था उसका काव्यात्मक उद्देश्य।

कुछ जैसे निराला को रवीन्द्रनाथ से होड़-सी रही, ग़ालिब भी पूर्ववर्ती उस्तादों की श्रेणी में सगर्व अपने को रखता था।

कभी-कभी क्या, अक्सर ऐसा लगता है कि वह समाज में, अपने जीवन में, प्रायः हर ओर विरोधाभास देखता है। हर चीज़ एक विडम्बना का भाव लिये हुए होती है। हर वस्तु प्रश्न से चिह्नित। हर बात जो सही सोची जाती है, उलटी निकलती है।···ग़ालिब जैसे खरे और सच्चे लोगों के लिए क्या यही नियति है ? ईमानदारी का कोई मतलब नहीं ? निष्ठा का कोई अर्थ नहीं ? सौन्दर्य और प्रेम का भी अन्त क्या ? सारी व्यवस्थाएँ एक तमाशा जैसी हैं। रीति-नीति, आचार, दर्शन-दृष्टि, लौकिक संबंध···सब।

शायद एक चीज़ जो स्थायी है वह कला है—और वह है ग़ालिब के लिए ग़ालिब की अपनी कला। इस कला के मर्म में स्थित कवि पूर्णतया आश्वस्त निर्द्वन्द्व और अमर-सा दिखता है। कम-से-कम स्वयं को, अपनी दृष्टि में।···और बहुत बाद में हमको भी वह वैसा ही दिखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब का सूफ़ी भाव सूफ़ियों की परम्परा से एकदम भिन्न और मात्र उसका एकदम अपना ही मालूम होता है। अगर ग़ालिब के सूफ़ी-भाव की स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो वह शायराना रिवायत क़तई न होते हुए भी, कहीं अनीश्वरवादी और कुछ-कुछ अस्तित्ववादी सूफ़ीवाद निकलेगा ! ! यह पारिभाषिकता आधुनिक है।

अपनी कला पर ग़ालिब का कितना दृढ़ विश्वास है। अपने सर्वोपरि होने में उसे किंचित् भी संदेह नहीं। देखिए उसका सेहरा देखिए। उसकी फ़ारसी ग़ज़ल, जिसमें उसने भविष्य-वाणी की है कि आगामी युगों में ही उसको सही पहचान हो सकेगी, हालाँकि तब बहुत से मूर्ख भी उसको समझने-समझाने का दावा करेंगे। अपने समकालीन विद्वान् मौलाना आज़ुर्दा को वह तमककर कहता है—अगलों के गुणगान करते तुम नहीं थकते, मगर तुम्हारी आँखों के सामने जो महाकवि बैठा अपनी अमर रचना सुना रहा है, उसको पहचानने की शक्ति नहीं रखते, कितने आश्चर्य की बात है ! [१]

मुझे ऐसा लगता है कि ग़ालिब की दिलचस्पी किसी भी प्रकार के आदर्शवाद में नहीं थी। थी तो केवल इन्सान में, उसके विडम्बनापूर्ण मगर हौसलेमंद जीवंत नाटक में। और इसलिए कि **आदमी को भी मोएस्सर नहीं इन्साँ होना !** वह स्वयं कितना बड़ा इन्सान था, हाली के मार्मिक शब्द इसकी पुष्टि करते हैं।

इतनी निर्भीकता से अपनी और अपने परिवेश की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट, ज्यों-का-त्यों, रखने वाला गद्यकार उर्दू में आगे फिर नहीं हुआ। और सबके यहाँ तकल्लुफ़ात के पर्दे हैं। एक केवल इसके यहाँ नहीं। उसके पत्र इसका सबूत हैं।

यह कम कौतुक की बात नहीं कि हिन्दी-संसार में ग़ालिब के लिए अलग खाना है और शेष उर्दू के लिए अलग। जहाँ उर्दू से बिलगाव की भावना है, ग़ालिब से नहीं। इतने दुरूह कवि होते हुए भी ग़ालिब हिन्दी-पाठकों के अपने हो गए ! ऐसा क्यों है; इसका जवाब देना आसान नहीं है।

१: तु अय् कि मह् वे-सुख़न गुस्तराने-पेशीनी
मवाश मुन्किरे-'ग़ालिब' कि दर ज़मानए-तुस्त ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की महत्ता

ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी

१५ फरवरी १८६९ का दिन हमारे साहित्य के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। इस रोज़ साहित्य-सम्राट् मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ 'ग़ालिब' स्वर्ग ही नहीं सिधारे, एक पूरा दौर, एक युग समाप्त हो गया—वह दौर जिसके प्रतीक हैं 'फ़ैज़ी' और 'रहीम' की काव्य-रचनाएँ, अब्दुस्समद के कलात्मक चित्र और सीकरी और ताजमहल की कला और सौन्दर्य। मिर्ज़ा ग़ालिब इस महफ़िल की आखिरी शमा थे। लेकिन वह 'एक युग का समापन ही नहीं करते, एक दूसरे नये युग का आरम्भ भी करते हैं।' साहित्य के जो नये आधार उन्होंने स्थापित किये, आज उन्हीं पर आधुनिक गद्य और आधुनिक काव्य के ऊँचे भवन खड़े हुए हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जिस समय होश की आँख खोली, मुगल साम्राज्य की शमा टिमटिमा रही थी। लार्ड लेक की फ़ौजें दिल्ली तक पहुँच गई थीं, अँग्रेज़ी शासन-व्यवस्था कायम हो चुकी थी, और अखिल संसार और उसके निवासियों के सम्राट् 'शहंशाहे-आलम ओ-आलमियाँ' का शासन लालकिले तक रह गया था। पुरानी व्यवस्था निरवलम्ब और जर्जर हो गई थी और नई का आधिपत्य दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा था। लेकिन पुरानी जीवन-पद्धति की मोहकता अभी कम न हुई थी बल्कि परिवर्तित स्थितियों ने पुराचीन के प्रति आकर्षण का भाव पैदा कर दिया था। ऐसी परिस्थिति का सहज परिणाम विरोध और संघर्ष था, जो इस्माइल शहीद से आरम्भ होकर सन् '५७ के विद्रोह में अन्त हुआ। ग़दर से मिर्ज़ा ग़ालिब की मृत्यु तक जीवन की पुरानी परिपाटी शिथिल से शिथिलतर तो होती गई लेकिन नई ने उसका स्थान नहीं लिया। पुराने मूल्य समाप्त तो होने लगे लेकिन नयों का आविर्भाव नहीं हुआ। इस समय भविष्य के पथ पर कोई प्रेरणा-संकेत नहीं उभरा था। जीवन गन्तव्यहीन था और लक्ष्यहीन। पराजय और अस्थिरता के इसी डावाँडोल युग में मिर्ज़ा ग़ालिब ने थके हुए हृदय को मादकता का सरूर दिया और निराश आँखों को नूर। उन्होंने जीवन की विडम्बनाओं पर दुखी होने के बजाय जीने के लिए एक हौसला और एक साहसिकता प्रदान की। उन्होंने घिरते अँधेरे में भी प्रभात का आभास खोजा और इस प्रकार समय की अन्धी चोट को सहन करने की हमें क्षमता दी।

●

ग़ालिब का लालन-पालन निहायत शानदार वातावरण में हुआ था जहाँ भौतिक ऐश्वर्य के सारे साधन उपलब्ध थे: विलास-कक्ष की शमए-मदिरा और सुन्दरी, और जुए के दांव। किन्तु समाज में शक्तिशाली होने और ऊपर उठने के लिए ऐसा वातावरण अनुकूल न था। सिपहसालारी का अवसर नहीं था। केवल सरस पटुता और वाक्चातुरी के लिए अवसर था। अतः अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्होंने साहित्य-साधना को ही अपना साधन बनाया, जिसके लिए ईश्वर ने उनको प्रचुर प्रतिभा देकर संसार में भेजा था। वह स्वयं कहते हैं: दर्पण को उजालना और अर्थ का रूप उसमें प्रकट करना, यही विशेष कार्य मेरा है। ("आईना ज़दूदन ओ सूरते-मानी नमूदन कारे-नुमायाँ अस्त।")

यही कारण है कि तूरानियों का अलम इनके क़लम की शक्ति में समा गया, और उस क़लम में तलवार की-सी तेज़ी और धार भी पैदा हो गई है। जिस निर्भीकता से मौलाना इस्माइल शहीद ने अपना सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ किया था, और आचार और परम्परा में गतानुगतिकता की प्रवृत्ति पर करारी चोट की थी, उसी निर्भीक चेतना के साथ ग़ालिब ने कोशकारों और काव्यकला के उस्तादों पर नुक्ताचीनी की है। स्वयं कहते हैं: "हर पुरानी लकीर सीधा रास्ता नहीं होती।" और अगले महानुभाव जो कुछ कह गए हैं वही पूरी तरह सनद नहीं है। मिर्ज़ा ग़ालिब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने काव्य की पूर्वसंचित पूंजी की उपेक्षा नहीं की, वर्तमान की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखी और भविष्य के लिए पथ का विस्तार किया। डॉ० अब्दुलहक़ ने सच ही कहा है कि अगर ग़ालिब न होते तो उर्दू के आधुनिक युग के प्रथम प्राचार्य हाली और दार्शनिक कवि इक़बाल भी न होते। वह यूनान के देवता जानुस के समान हैं, उनका एक मुख विगत युग की ओर देखता है और दूसरा भविष्य की ओर।

ग़ालिब असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी महानता का रहस्य उनकी तबीअत की रंगारंगी, उनके मोहक व्यक्तिवाद, उनके मानव-प्रेम और सर्वाशयी व्यापकता में छिपा हुआ है। वह महान् कवि होते हुए भी एक भरपूर इन्सान थे। उन्होंने कभी अपने व्यक्तित्व पर तह-बतह नक़ाब नहीं डाले, और पर्दे की गुलकारियों को यथार्थ कहकर लोगों से नहीं मनवाया। वह जैसे हैं, अपने-आपको वैसा ही प्रस्तुत करते हैं। उनकी यही निर्भीक सत्यनिष्ठा, मौज और मस्ती संस्कारी अनुराग और उनकी विनोदप्रियता उर्दू साहित्य की सबसे बड़ी पूंजी है। "उन्होंने नई व्यवस्था और नये युग का उस समय समर्थन किया जब मुसलमानों के आधुनिक सुधारक सर सैयद को भी ऐसा करने का साहस नहीं था।" उन्होंने उस समय के लोकप्रिय फ़ारसी कवि क़तील को, अहम्मन्य कोशकारों को और रियासत रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ को उत्तर-प्रत्युत्तर उसी आन से दिये हैं, जिस आन से कहा जाता है कि "तुर्क और तूरानी लड़ते हैं"! किसी भी अवसर पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व पर आँच नहीं आने दी।

•

उस उथल-पुथल के ज़माने में स्वयं मिर्ज़ा का जीवन बड़े संकटों के बीच से गुज़रा। वह आगरे के मनमौजी वातावरण में से निकलकर दिल्ली आए तो यहाँ शायरों के अखाड़े में उतरना पड़ा। प्रतिष्ठित कवि 'ज़ौक़' के सहज भाषा वाले आन्दोलन को उन्होंने स्वीकृति दी, किन्तु उसमें दार्शनिक दृष्टि का भी समावेश किया। कलकत्ते गए तो वहाँ 'क़तील' के अन्धभक्तों से चोटें हुईं। और फिर वह उस ईरानी-हिन्दी विवाद में कूद पड़े जो अकबर और जहाँगीर के समय से, महाकवि 'फ़ैज़ी' और 'उर्फ़ी', और तदनन्तर शेख़ अली हज़ीं और खान आरज़ू के युग से चला आ रहा था। मिर्ज़ा ने इस विवाद में भी सरगर्म हिस्सा लिया और अनेक ईरानी विद्वानों का समर्थन और प्रशंसा भी अर्जित की।

फिर इनकी पेंशन का किस्सा उठ खड़ा हुआ, जिसमें वह तीस बरसों तक उलझे रहे। यह केवल रुपये का मामला नहीं था, अपने वंशानुगत अधिकार और प्रतिष्ठा का भी सवाल था। उन्होंने अँग्रेज़ों की ख़िदमत में अर्ज़ियाँ भेजीं और हाकिमों को प्रसन्न करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न किया। लेकिन यहाँ भी प्रश्न अभिभावक की प्रशस्ति और गुण-गाथा से अधिक अपने मान-मर्यादा के प्रतीक 'जैगा, सरपेच और मुक्ता-माला' का था, या दरबार में स्थान-मर्यादा और ख़िलत का।

इस युग में वे सारी चीज़ें, जिनसे जीवन की अँधेरियों में रोशनी मिलती थी, एक-एक करके विलीन होती जा रही थीं। वे सारे मूल्य, जो मिर्ज़ा को अत्यधिक मान्य और प्रिय थे, एक-एक करके टूटते और बिखरते जा रहे थे। लेकिन इनके काव्य-लोक में कुण्ठा-विलाप या अराजक-विद्रोह का स्वर उत्पन्न नहीं हो सका था। और यह छोटी बात नहीं है। यदि 'गुलशने-हिन्द' की बात सच है तो इनके पूर्ववर्ती महाकवि मीर को तीन सौ रुपये प्रति मास मिलते रहे, लेकिन मिर्ज़ा ग़ालिब की 'व्यक्तिगत हैसियत' क्या है कभी स्पष्ट नहीं हुई और जब इसका वास्तविक मूल्य कूतने का समय आया, तो इसकी 'मालियत' बासठ रुपये आठ आने से अधिक न निकली। ऐसी परिस्थितियों में इनकी शायरी में वह निराश और विलापी स्वर कभी न आया कि जिससे वह 'आहे-जिगर-गुदाज़' और 'नालएदिलख़राश' को ही जीवन की सार-उपलब्धि समझने लगते।

•

मिर्ज़ा के व्यक्तित्व में जो चीज़ असाधारण रूप से आकर्षक और मोहक है वह है उनकी मनुष्यता। और इस पर उन्हें नाज़ है। उनके काव्य में सामान्य मानवीय समस्याओं और उलझनों का बयान है, और उन्हें यह स्पष्ट रूप से घोषित करने में किंचिन्मात्र संकोच नहीं होता था कि वह सामान्य मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर नहीं थे। श्री अकरम ने सर वाल्टर राले का कथन शेक्सपियर के सम्बन्ध में उद्धृत किया है कि "वह एक अत्यधिक दुष्प्राप्य चीज़ था, यानी एक पूरा इन्सान।" ग़ालिब भी कहते हैं: "ख़ूए-आदम दारम। आदम-ज़ादा अम" (आदम की ख़ू-बू रखता हूँ। आदम की औलाद हूँ।) महाकवि सादी की तरह इनके काव्य में भी एक विशेष प्रकार की होशमन्दी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुनियादारी है, जो हर एक को आकृष्ट करती है। काव्य के इस दर्पण में सब अपना ही सर्वांग देखते हैं, और उनके दिल की मर्मगाथा में सबको अपनी ही आप-बीती का आनन्द मिलता है। ग़ालिब का व्यक्तित्व गरिमा-मंडित और सम्मान्य मात्र नहीं, बल्कि वह हमारे "साहित्य की सबसे अधिक अन्तरंग हस्ती है।"

आप जिस रंग और जिस लिबास में भी वहाँ जायेंगे, वह साथी हस्ती आपको पहचान लेगी, आपके मर्म से अवगत होगी, और आपको आश्वासन देगी, तभी तो डॉ० बिजनौरी ने लिखा था कि अथ से इति तक मुश्किल से सौ पृष्ठ हैं, लेकिन कौन-सा राग है जो यहाँ नहीं है। इसका मूल कारण केवल मिर्ज़ा का अद्भुत और रंगारंग व्यक्तित्व है।

कुछ समालोचकों ने मिर्ज़ा को वली साबित करने की कोशिश की है, और कुछ ने शैतान। लेकिन सच्चाई यह है कि वह सिर्फ़ एक इन्सान था जो मानवीय दुर्बलताओं पर पर्दा नहीं डालता बल्कि "आँचे मी नुमायम् हस्तम्"—जो कुछ मैं दिखता हूँ वही हूँ—का कायल है।

●

ग़ालिब से पहले उर्दू शायरी के पास भावनाओं का भण्डार था, अनुभूतियाँ थीं, और भाषा और शैली के चमत्कार थे। लेकिन वह हसीन और शोख बौद्धिकता नहीं थी जो शब्द के शरीर में प्राण फूंक देती है। यह मिर्ज़ा की विशिष्ट देन है, और इस पर उर्दू जितना भी गर्व करे, कम है। वह अपनी परंपरा की पूंजी से अवगत थे, लेकिन उसकी हर परिपाटी और बन्धन से बँधे नहीं थे। इसीलिए उनकी शायरी जंतर-मंतर और कपोल-कल्पना नहीं है। उसमें साँस की गर्मी है, और जिगर का खून। उन्होंने हमें नयी विचार-सरणियाँ दीं, उनकी अभिव्यक्ति की एक नयी शैली दी, और सोचने के लिए दार्शनिक अंदाज़, और जाँचने के लिए आलोचनात्मक चेतना। उसमें मुग़ल चित्रकारी का ललित प्रस्फुटन, उसकी अर्थगर्भी संक्षिप्तता, उसका तुर्काना बांकपन है। यह अंदाज और यह शैली वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। ग़ालिब ने ग़ज़ल और कसीदे का वाह्य रूप-अलंकरण तो वही रखा है जो पहले था, लेकिन उनमें एक अंतर-क्रान्ति अवश्य पैदा कर दी है। लखनऊ में 'नासिख़' और दिल्ली में 'शाह नसीर' की दुनिया इन परिवर्तनों के महत्त्व को अच्छी तरह न समझ पायी, और ग़ालिब को यह कहना पड़ा—

"मेरे दावे पे य हुज्जत है कि
मशहूर नहीं।"

ग़ालिब की प्रेम-पारखी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि के विकास में उनकी विरासत, उनके व्यक्तित्व और उनकी जाति-वंश की विशेषताओं का बड़ा हाथ है। वह प्रेम के संयोग-रस को जीवन रूपी उद्यान में कौतुक वसंत का आगमन समझते हैं। और प्रस्तुत के आनन्द सुख-भोग को वास्तविक जीवन के लिए आवश्यक। उन्होंने जिन सत्यों का दिग्दर्शन कराया है, वे बौद्धिक क्रियाकलाप-जन्य नहीं, बल्कि अनुभव, अनुभूति और भावना से भरपूर होने के कारण ऐहिक-दैहिक एकदम भौतिक, और मानवीय हैं।

●

ग़ालिब का चरित्र और उनका आचरण आदर्श नहीं। उनमें बहुत से दोष हैं। तथापि, उनकी बौद्धिक सजगता का यह कमाल मामूली नहीं कि वह अपने परिवेश की असंगतियों से बेख़बर नहीं थे, और ह्रास और पतन के बाद नवनिर्माण को अवश्यंभावी मानते थे। उनके यहाँ जो पाश्चात्य संस्कृति की बरकतों का एहसास और अंग्रेज़ों के नये ज्ञान-विज्ञान, कानून-व्यवस्था और न्यायनिष्ठा की प्रशंसा मिलती है, वह इस बात का प्रमाण है कि वह सहज ही अपने वर्ग और परिवेश से ऊपर उठकर समस्याओं पर दृष्टिपात कर सकते थे। ग़ालिब ने कलकत्ते में कुछ दिन निवास किया था जो उस समय भारत में नयी सभ्यता का गहवारा था। आगरे के बाद दिल्ली ही उनका वतन था, जिसको पुरानी सभ्यता का प्रतीक कहना चाहिये। लेकिन यहाँ इनके समय में पुराने दिल्ली कालेज ने विज्ञान के विषयों को महत्त्व देकर एक नये क्षितिज का विस्तार प्रस्तुत कर दिया था। ग़ालिब की बौद्धिक चेतना के नक्शो-निगार इन्हीं दोनों नगरों के प्रति ऋणी हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने उर्दू शायरी ही को नया रंग और स्वर-साज नहीं दिया, आधुनिक उर्दू गद्य की बुनियाद रखने का श्रेय भी उन्हीं को है। उनके पत्रों में उनका व्यक्तित्व और उनके युग की आत्मा खुलकर बोल रही है। वही ताज़गी, उच्चाशयी दृष्टि और जीवन्तता जो उनके काव्य की विशेषता है, यहाँ भी देखने को मिलती है। जिस प्रकार उनकी ग़ज़ल व्यक्तिगत प्रेम-अनुभूति की टीका से आगे बढ़कर व्यापक जीवन के भाष्य का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, ऐसे ही उनके पत्रों में जीवन का खरा सोना पिघलता हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नज़र आता है।

•

मिर्ज़ा अपना रास्ता स्वयं तय करते हैं। उनको किसी सहारे की आवश्यकता नहीं। ऐसी घाटियों में जहाँ उनके पाँव चलते-चलते जवाब दे गये हैं, वह सीने के बल रास्ता तय करना चाहते हैं। वह रस्म-रिवाज और परंपरा के पाबंद नहीं। शेख और ब्राह्मण उनकी दृष्टि में एक हैं, उनके यहाँ "अस्ल चीज़ अकीदे से वफ़ादारी है। मिल्लतें अहम नहीं हैं। उनके मिटने से जो ईमान बनता है, वह अहम है।" उनकी मानवता के दायरे में मंदिर और काबा और जनेऊ और तस्बीह का अन्तर मिट जाता है। यही लय उनके पत्रों में भी है: "मैं तो बनी-आदम को, मुसलमान हो या हिन्दू अपना भाई गिनता हूँ।" उनके दोस्तों में हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी, उनके 'स्नेह-निकुंज' में पूर्णिमा की चाँदनी के समान मिर्ज़ा हरगोपाल 'तफ़्ता' और 'आँखों के तारे' (नूरेचश्म) मीर महदी, और अंग्रेज भी, जिनमें कोई उनका उमीदगाह था, कोई मित्र, कोई यार और कोई शिष्य।

मिर्ज़ा का जीवन से सीधा संबंध था। वह दो बरस के थे कि पिता दिवंगत हुए। पाँच साल के हुए तो चाचा सिधार गये। इसके बाद निस्संदेह इनको ननिहाल में सुख-ऐश्वर्य का उन्मुक्त वातावरण मिला। लेकिन इसका उनको मूल्य भी बहुत चुकाना पड़ा। कर्ज़ख्वाहों से कभी उनको छुटकारा नहीं मिला। ज़िन्दगी के सबसे अच्छे वर्ष उन्होंने जागीर की दौड़-धूप में गुज़ार दिये। उनके भाई मिर्ज़ा यूसुफ़ पागल हो गये। पचास बरस की उम्र में स्वयं जेल गये। हज़ार अरमानों के बाद बादशाह के उस्ताद नियुक्त हुए, तो दो ही साल में न वह पैमाना रहा न वह साक़ी। लेकिन इन विपत्तियों को वह "अपने दरिया-ए-बेताबी की एक मौजे-खूँ समझकर बर्दाश्त करते रहे।" इस खेल को उन्होंने लड़कों का खेल समझा, और अपनी सुसंस्कृत विनोदप्रियता और प्रसन्न शालीनता से जीवन को संभाला भी और संवारा भी।

परेशानियों और मुसीबतों में स्वयं हँसना और दूसरे को हँसाना आसान नहीं है। यह निष्कपट विनोदप्रियता पत्रों में भी देखने को मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं:

"मुझको देखो, न आजाद हूँ न मुक़ैयद, न रंजूर हूँ, न तन्दुरुस्त, खुश हूँ न नाखुश, न मुर्दा हूँ न ज़िन्दा। जिये जाता हूँ। बातें किये जाता हूँ। रोटी रोज खाता हूँ। शराब गाह-गाह पिये जाता हूँ। जब मौत आयेगी, मर रहूँगा। न शुक्र है न शिकायत। जो तक़रीर है बर-सबीले हिकायत।"[1]

मिर्ज़ा हातिम अली 'मेहर' को मातमपुर्सी का खत लिखते हैं। कैसा नाज़ुक मौक़ा है. लेकिन देखिये:

"मिर्ज़ा साहब, हमको ये बातें पसन्द नहीं। किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क-अफ़शानी,[2] और कहाँ की मर्सिया-ख्वानी। आज़ादी का शुक्र बजा लाओ, और ग़म न खाओ। मैं जब बहिश्त का खयाल करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़िरत हो गयी,[3] और एक क़स्र[4] मिला और एक हूर मिली—अक़ामत जाविदानी[5] है—और उसी एक नेक बख़्त के साथ ज़िन्दगानी है! इस खयाल से जी घबराता है, कलेजा मुँह को आता है। है-है, वह हूर अजीरन हो जाएगी, तबीयत क्यों न घबरायेगी। वही ज़मुर्दी काख[6] और वही तूबाकी[7] एक शाख! चश्मे-बद दूर, वही एक हूर। भाई होश में आओ, कहीं और दिल लगाओ!

मिर्ज़ा ग़ालिब का एक-एक वाक्य विचार को उभारा देता है। यथावत् चित्र खींचने में वह सिद्धहस्त हैं। यह अन्दाज़ पूर्ववर्ती उस्तादों (ज़हूरी और बेदिल) और उनके समकालीनों (तहसीन और रजब अली बेग 'सरूर') से बिल-कुल भिन्न है—

"पाँच लश्कर का हमला पै-ब-पै[8] इस शहर पर हुआ। पहला बाग़ियों का लश्कर, उसमें अहले-शहर का एतबार लुटा। दूसरा लश्कर ख़ाकियों[9] का, इसमें जान ओ माल ओ नामूस[10] ओ मकान ओ मकीन[11] ओ आसमान ओ ज़मीन को आसारे-हस्ती[12] सरासर लुट गए।..."

मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं—

"तुमने रुपया भी खोया और अपनी फ़िक्र[13] और मेरी इस्लाह[14] को भी। हाय, क्या बुरी कापी है अपने अश्आर की। और इस कापी की मिसाल जब तुम पर खुलती कि यहाँ होते, और बेगमाते-क़िला को फिरते चलते देखते। सूरत माहे-दो-हफ़्ता[15] की सी, और कपड़े मैले, पाँयचे लियर-लियर, जूती टूटी। यह मुबालग़ा[16] नहीं। बल्कि बेतकल्लुफ़ 'मुबुलिस्ता'[17] एक माशूक़ खूबरू है, लेकिन, बदलिबास।

एक और उद्धरण देखिए:

"पहले तुमसे यह पूछा जाता है कि बराबर कई खतों में तुमको ग़मोअंदोह[18] का शिकवागुज़ार, पाया है। बस, अगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी बेदर्द पर दिल आया है, तो शिकायत की क्या गुंजाइश है। बल्कि यह ग़म तो नसीबे-दोस्तां दरख़ुर अफ़्ज़ाइश[१९] है।...और अगर ख़ुदा-न-ख़ास्ता ग़मे दुनिया है तो, भाई, हमारे हमदर्द हो। हम इस बोझ को मर्दाना उठा रहे हैं। तुम भी उठाओ, अगर मर्द हो।"

इसमें कोई शक नहीं कि ग़ालिब ने इस रंज को मर्दानावार उठाया। उनके यहाँ आनन्द-लहरी संगीत भी है और विपत्तियों का मातम भी। "एक दार्शनिक का-सा भाव है, जिसमें दुःख और सुख दोनों के लिए गुंजाइश है।" और शायद दोनों की आरज़ू। इसने उनके जीने के बोझ को हलका कर दिया है। और यही उनका सन्देश है—अगर ग़ज़ल के गीत गाने वाले शायर का कोई 'सन्देश' हो सकता है।

•

मिर्ज़ा ग़ालिब को पद्य और गद्य दोनों पर समान अधिकार था। ऐसा कलावैशिष्ट्य, ऐसी महत्ता सामान्य बात नहीं। शेख़ सादी, ज़हूरी और मिल्टन के अतिरिक्त बहुत कम लोगों को यह गौरव प्राप्त है। काव्य में ग़ालिब की विलक्षण प्रतिभा की देन अपनी जगह निश्चय ही शाश्वत मूल्य की है। लेकिन अगर (मेरे मुँह में ख़ाक!) दीवाने-गालिब न होता, और केवल ग़ालिब के पत्र होते, तब भी उनका स्थान उर्दू साहित्य में वही होता जो आज है! •

अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

१. मात्र दृष्टान्त-स्वरूप।
२. आँसू बहाना।
३. जीवन के पापों के लिए क्षमा मिल गई।
४. महल।
५. निवास अनंत तक।
६. लाल-जवाहर का महल।
७. कल्पतरु।
८. एक के बाद एक।
९. खाकी वर्दी वालों।
१०. इज़्ज़त।
११. मकान में रहने वाले।
१२. जीवन-चिह्न।
१३. काव्य-चिंतन, काव्य-रचना।
१४. संशोधन।
१५. पूर्णचन्द्र।
१६. अतिशयोक्ति।
१७. सुंबुल के जंगल की तरह लबर-झबर!
१८. दुख और पीड़ा।
१९. दोस्तों को सौभाग्य से मिलता है; इसकी बढ़ती हो!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की आधुनिकता

अहमद हुसेन

प्रशंसा के लिए आप ग़ालिब से कहते कि "साहब, आप तो बड़े आधुनिक क़िस्म के आदमी हैं तो आप यक़ीन मानिए ग़ालिब खुश न होते। खुश होना तो दूर रहा, वह और उल्टे बिगड़ जाते। यद्यपि वह बड़े सज्जन पुरुष और सहज स्वभाव के आदमी थे और बुढ़ापे तक चिड़चिड़ेपन से इतनी दूर रहे कि 'बुरहाने कराते' की बहस में गंदी-गंदी गालियाँ खाते रहे और मुस्कराते रहे। पर आधुनिकता उस समय आज के समान कोई प्रशंसनीय बात नहीं बल्कि निंदनीय बात समझी जाती थी, क्योंकि वह ग़ालिब युग की करीब-करीब सारी प्रमुख मान्यताओं के विपरीत थी।

पर इससे ग़ालिब की आधुनिकता का कोई संकेत मिले या न मिले, उसकी सीमाओं का ज़रूर अन्दाज़ा हो जाता है और पता चल जाता है कि ग़ालिब अगर आधुनिक इंसान थे, या आधुनिक कवि थे, तो प्रयास से नहीं, आत्मनिर्णय से नहीं बल्कि अपनी चेतना के अनुसार उनके जीवन का जो कुछ भी स्पष्ट आदर्श था उसके बावजूद। मगर इसका परिणाम यह कम निकलता है कि उनकी आधुनिकता अधूरी और अधकचरी थी और यह ज़्यादा कि वह इतनी 'जेनुइन', सच्ची और तीव्र थी कि ग़ालिब के सचेत व्यक्तित्व को विवश करके कुछ उनके जीवन को बदले और बहुत-कुछ उनकी कला को, यहाँ तक कि गद्य में तो उनको एक विशेष शैली का निर्माता बनने पर बाध्य कर दे जिससे उत्तरी भारत में बेतकल्लुफ़ लेख के चलन का समारम्भ हो।

मगर उनका सचेत आदर्श था रूढ़िवाद जिसे बड़े गर्व से आज भी ग़ालिब के युग की तरह लोग 'वज़ादारी' कहते हैं। शेर में तो वे खैर 'वज़ादारी' के प्रति अपनी श्रद्धा जगह-जगह व्यक्त करते ही हैं, जैसे—

वो अपनी ख़ू न छोड़ेंगे, हम अपनी वज्ज: क्यों छोड़ें

और

वाँ वो ग़ुरूरे-इज़्ज़तेनाज़, या ये हिजाबे पासे वज़्ज:
राह में हम मिलें कहाँ बज़्म में वह बुलाए क्यों

लेकिन इससे कहीं ज़्यादा वह जीवन में इसके पाबन्द थे, जिसका एक रूप यह है कि जिसको मित्र कह दिया, कह दिया, अब उसकी दोस्ती से फिर नहीं सकते, अगर फिरे तो बाक़ी संसार का अनादर तो बाद में भुगतना होगा, पहले तो आदमी अपनी आँख से गिर जाएगा। मगर उससे व्यापक और हानिकर रूप यह था कि परम्परा के अनुसार जो रीति-रिवाज निश्चित हैं उनमें भी परिवर्तन करना पाप है। बाप-दादा जो खाते थे, खाइए, जो पहनते थे पहनिए, यही नहीं बल्कि जैसे लोगों से मिलते थे, जो काम-काज किया करते थे, विद्या और ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रणाली अपनाते थे वही आप भी अपनाइए और वही सब आप भी कीजिए। चलिए यह भी हो गया मगर वज़ादारी का ग़लत परिणाम यहाँ तक पहुँचता था कि विचार, कल्पना और कला के क्षेत्र में भी आप सनातन रूप अपनाइए, बाप-दादा जैसे सोचते थे आप भी सोचिए, बुज़ुर्गों में जैसे शेर कहने का चलन था आप भी अपने काव्य को उसी साँचे में ढाल लीजिए।

और ग़ालिब ने इसकी पूरी-पूरी कोशिश की। खुद इशारा करते हैं कि यह काम कितना कठिन था और इसमें उन्हें कैसा घोर परिश्रम करना पड़ा,

तर्ज़े बेदिल में रेख़्ता कहना
असदुल्लाह ख़ाँ क़यामत है

आसान डगर से कतराने और कठिन रास्ते पर चलने का ग़ालिब को शुरू ही से जो शौक था उसके अनुसार उनके लिए बेदिल की अत्यन्त कठिन मगर सुदृढ़ फ़ारसी शायरी का ही आदर्श सामने आ सकता था जो उनके पहले की शताब्दी से बुद्धिजीवी सम्प्रदाय पर छाई हुई थी। बेदिल को प्रेरणा के अधीन ग़ालिब अपनी शायरी को गोरखधन्धा बनाकर न सिर्फ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तुष्ट रहे बल्कि शायद उनको इसका गर्व भी हो कि उनका हर शेर वह ताला है जिसे कोई आसानी से हर चाभी से नहीं खोल सकता। ख़ैर, बेदिल में तो मुश्किल होते हुए भी बड़ी जान है, मगर ग़ालिब पर तो करीब-करीब उसी युग के कहीं ज़्यादा छिछले फ़ारसी शायरों का भी अच्छा-ख़ासा प्रभाव पड़े बग़ैर न रहा। प्रभाव के शक्तिशाली होने का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अपने लम्बे-चौड़े दीवान में से बहुत बड़ा भाग निकाल देने से भी, जो ज़ाहिर है इन्हीं लोगों का बिगाड़ा हुआ था, उर्दू के इस सबसे छोटे दीवान में श्री ख़ुर्शीदुलइस्लाम ने दिखाया है कि दर्जनों शेर ऐसे शेष रह गए हैं जो बिल्कुल इन्हीं गुंजलक और अस्पष्ट कवियों के समानान्तर मिलते हैं।

समय बदल जाने के बाद अपने और पिछले युग का ग़ालिब पर यह प्रभाव बहुत कम हो गया मगर बिल्कुल समाप्त बहुत अरसे तक नहीं हुआ और शायरी का वह रंग बीच-बीच में अक्सर उभरता रहा जिसका स्रोत बेदिल के यहाँ से फूटा था और जिसमें उनसे

शुमारे सुब्ह मर ग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया
तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया।

और

मेरे क़द्हे में है सहबाए आतशे पिन्हा
बरूए सुफ़रा, कबाबे दिले समन्दर खैंच

और

आगही दामे शुनीदन जिस क़दर चाहे बिछाए
मुद्दआ उन्क़ा है अपने आलमे तक़रीर का

कहलवाया था, (कोई उन्क़ा बुन्क़ा समझने वाला हो तो उससे चुपके से कहने का जी चाहता है कि मुद्दआ की तरह इन शेरों का मज़ा भी उन्क़ा है)

ये शेर बिल्कुल अर्थहीन नहीं हैं किन्तु काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ज़रूर हैं। इनमें ढूँढ़-माल के ऐसे भी शेर मिल जाएँगे जो बिल्कुल बेनमक नहीं कहे जा सकते, जैसे :

नक्शे नाज़े बुते तन्नाज आग़ोशे रक़ीब
परे ताऊस पए ख़ामए मानी माँगे

मगर यह सब शेर ग़ालिब के उस विशेष रंग से वंचित हैं जिसने ग़ालिब को ग़ालिब बना दिया।

ग़ालिब ने यह कठिन मगर निष्फल और अलाभकर डगर क्यों छोड़ी इसके बहुत से कारण हैं जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है, संक्षेप में इतना ही कहना उपयुक्त है कि मूल कारण था देहली। दस साल वे आगरे में और रह जाते तो शायद ग़ालिब कभी ग़ालिब नहीं बन सकते थे, चाहे विद्वान बनते, चाहे विद्वान-कवि, भाषा-शास्त्र के विशेषज्ञ समझे जाते, मिर्ज़ा, नौशा और दबीरुलमुल्क की भाँति विभिन्न आदरों से सम्मानित किए जाते या केवल वही गुमनाम असदुल्लाह बनकर रह जाते। उस वक्त तो ख़ैर लौंडे थे, मगर पैसा भी था और स्वास्थ्य भी, हाथ-पैर भी बुरे न थे, रंग-रूप उससे भी अच्छा था और शौकीनी और रंगीनी सबसे बढ़ी हुई। मगर बड़ा गज़ब यह था कि दिमाग़ बला का पाया था और शिक्षा भी बचपन में ही युग के अनुसार प्रमुख विषयों में अच्छी-ख़ासी विस्तृत हो गई थी, इसलिए बुद्धि के स्तर पर किसी को अपने बराबर समझते ही नहीं थे, विशेषकर शाइरी में। समझते भी कैसे, लड़कपन में जिसे बेदिल की पहेलियाँ सुलझाने में रुचि हो उसके लिए नज़ीर अकबराबादी के आगरे वालों में, **"फिर देख बहारें होली की"**, **"सब ठाट पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बंजारा"** और **"कल राह में हमको जो मिला रीछ का बच्चा"** वाली शायरी में, नगर की काव्यात्मा उसकी अति सरल लोक-प्रतिभा में क्या आकर्षण हो सकता था।

किसी ज़माने में जब नज़ीर के लोकवाद का ग़लत ढंग से पक्षपात करने की भावना आम थी। एक साहित्यिक गप्प यह भी उड़ी थी कि कुछ दिन मियाँ नज़ीर भी इन साहबज़ादे के गुरु रहे। यह सच है तो बड़े मियाँ को क़रीब से देखकर बददिमाग़ लौंडे के दिल से रहे-सहे आदर की भावना भी जाती रही होगी और अगर यह अनुमान एक निराधार अन्दाज़ा है तब भी कौन कह सकता है कि काव्य में ग़ालिब की मुश्किल-पसन्दी नज़ीर ही की घोर, 'बेमाज़' सरलता का प्रतिशोध नहीं था, क्योंकि यह सम्भव नहीं मालूम होता कि ग़ालिब जैसी हस्सास आत्मा में (वह नौ-दस का लड़का ही क्यों न रहा हो मगर उसकी काव्य-रुचि का अच्छा-ख़ासा विकास हो चला था) नज़ीर जैसे नगर के लोक-जीवन पर छाए हुए कवि के प्रति कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। क्योंकि अपने युग बल्कि अपने जीवन के दूसरे प्रसिद्ध कवियों के सम्बन्ध में निष्पक्ष रहना ही ग़ालिब का आचरण होता तो वे यह क्यों कहते—

रेख़्ता के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
कहते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उससे भी आगे बढ़कर मीर की महानता के पक्ष में नासिख़ की गवाही क्यों दिलवाते—

ग़ालिब अपना ये अक़ीदा है बक़ौले नासिख़
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे मीर नहीं

इसलिए यह ख़याल होता है कि अगर शुरू जवानी में भी यह सरफिरा मगर योग्य युवक आगरे ही में रह जाता तो शायद उसका भटका हुआ चलन पक्का हो जाता। मगर ख़ैर क्या होता क्या न होता यह तो अब केवल विद्वानों का विवाद है। यथार्थ तो यह है कि दिल्ली पहुँचकर ग़ालिब को बदलना पड़ा।

दिल्ली के पास कोई जादू की छड़ी नहीं थी जो उसने उनके क़लम से हुई और बस उसमें ऐसा कायाकल्प हुआ और ऐसी केंचुल बदली कि "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला चल पड़ा। मानो प्रेरणा को इसी चरण की प्रतीक्षा थी जिस पर पहुँचकर एक-से-एक अछूते शेर क़लम के गिर्द प्रवेश करने और उसके चरणों को छूने लगे। यह तो नहीं था मगर ग़ालिब जैसे युवक के प्रशिक्षण की दिल्ली में बड़ी शक्ति थी क्योंकि उनके रुचि-सुधार के लिए मीर, सौदा और दर्द की शायरी की तरह की तमाम उचित सुविधाएँ उपलब्ध थीं और उनका गुरूर तोड़ने के लिए मान्यता न देने वाले दरबार और दुश्मनी करने वाले कोतवाल से लेकर विदेश से आए हुए ग़ालिब के देश पर मनमाना राज करने वाले गोरों तक सारी आवश्यक सामग्री मौजूद थी।

देहली जो एक नाम था, एक परम्परा थी, सारे उत्तरी भारत को प्रभावित करने वाली एक देशव्यापी संस्था थी—जिसके साहित्यिक विचार और फ़ैसले को ग़ालिब क्या कोई भी नहीं टाल सकता था, अब उनके लिए एक शक्तिशाली यथार्थ बनकर सामने आई, एक ऐसा भारी पत्थर कि जिससे दूर के देखे हुए सारे स्वप्न टकराकर चूर हो जाते थे और ऐसा स्पष्टकारक और निठुर आईना जिसमें देखने वाली आँख को भारत वैसा ही नंग, घिनौना और लिथड़ा हुआ दिखाई देता था जैसा कि वह था (क्योंकि बनिया-राज के लिए बनी हुई शीशे की वह फूटी आँख बननी भविष्य में अभी बहुत दूर थी जिसमें मंत्रियों और नेताओं का कोई कलंक दिखाई ही नहीं देता, चाहे वह दो हाथों के बजाय अपने लड़के को मिलाकर चार-चार हाथों से लूटें और एक ज़बान की जगह, सारे हाई कमान को मिलाकर दस-दस ज़बान से झूठ बोलें)।

यह विचार बहुत व्यापक है कि दिल्ली में ग़ालिब को दुश्मनों ने टोक-टोक कर उनके काव्य की सारी मुसम्मेबाज़ी, मुश्किलपसन्दी और बेदिल के प्रति उनकी श्रद्धा नाक की राह निकाल ली, चुनांचे इन्हीं लोगों को उन्होंने झल्लाकर जवाब दिया कि **"गर नहीं है मेरे असआर में मानी न सही"**। इससे ज़्यादा दोस्तों ने समझा-समझाकर सुधार किया। यह विचार वैसे तो ठीक ही है, क्योंकि दिल्ली की महानता के सामने उनका अहंकार इतना बड़ा थोड़ी रह गया था जितना बड़ा वह आगरे के कस्बाती समाज के आगे मालूम होता था और इसलिए अब वह दोस्त-दुश्मन की बात पर कान धरने को तैयार थे, मगर ग़ालिब में जो परिवर्तन आया वह केवल आलोचकों के बस की बात होती तो वह बिगड़ते ही क्यों और इस परिवर्तन की ज़रूरत ही क्यों पड़ती? सच्ची बात यह है कि दिल्ली का अस्तित्व ख़ुद ही रूढ़िवाद के सारे ढकोसलों पर इतना सख्त प्रहार था कि पहेलीबाज़ी, ताले-कुंजी की शायरी और इस प्रकार के हर पागलपन का मुँह फेर दे। कोई टोकने वाला न भी होता तो मीर, दर्द और सौदा की दिल्ली में, मज़हर जाने जाँ की दिल्ली में कोई कब तक "शुमारे सुब्ह मरग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया" की शायरी कर सकता था। "तुम्हें याद हो कि न याद हो" वाले मोमिन "ज़बाने ख़ल्क को नक्कार ए ख़ुदा समझो" वाले ज़ौक और "मेरा रंग-रूप बिगड़ गया मेरा यार मुझसे बिछड़ गया" वाले ज़फ़र के साथ मुशायरों के मंच पर बैठकर कोई "तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया" की बड़ कब तक हाँक सकता था। और फिर दिल्ली वाले भी थे, जिनकी ज़बानों पर मीर और सौदा की ग़ज़लें अभी चढ़ी हुई थीं, दिल्ली की गलियाँ भी थीं, जिनमें कल्मे मुअल्ला के रात के मुशायरों में पढ़ी हुई ज़ौक और ज़फ़र की ग़ज़लें गूंजने लगती थीं।

अगर यह मार ग़ालिब के सुधार के लिए काफ़ी न थी तो इससे बड़ा कोड़ा यह था कि दिल्ली पर अधिकार उन लोगों का था जिनके लिए बेदिल, सायब और कलीम का क्या ज़िक्र है, उर्फ़ी व ख़ाक़ानी की भी कोई हस्ती न थी, सादी और फ़िरदौसी तक, एकाध के अलावा, बाकी सबके लिए केवल नाम ही नाम थे। उनमें जो हिन्दुस्तानी भाषा, साहित्य और काव्य पर अहसान करता था वह भी इतना कि मीर के शेर—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए
सब उसी ज़ुल्फ़ के असीर हुए

को अंग्रेज़िया कर—

ऐम ठा, टूमे ठा, एक ओर जेन्टिलमैन ठा
सब उसी काला कैडखाना में बैंड ठा

बना देता था। यह दिल्ली, "जहाँ ख़ल्क ख़ुदा की, मुल्क बादशाह का" तो था मगर "हुकुम कम्पनी बहादुर का" चलता था। फ़ारसी पढ़ने वालों को केवल तेल बेचने की आस्था देती थी। बादशाह के पीछे छिपे हुए अंग्रेज़ी राज की इस दिल्ली में पुरानी सभ्यता का, जिसे ग़ालिब भारतीय सभ्यता समझते थे, उसके आदर्शों का, उसकी मान्यताओं का, उसकी कला और उसके 'हुनर' का मूल्य गिरता जाता था, जिससे उन्हें तकलीफ़ तो बहुत होती थी और वे बार-बार 'हुनर' की ना-क़दरी का रोना रोते थे, जो उनकी अपनी व्यक्तिगत शिकायत तो थी ही, पर उससे कहीं ज़्यादा सारे साहबाने हुनर की ओर से की जाती थी, मगर इस सबके साथ वे यह भी समझते थे कि विदेशी शासकों का चूँकि हमारी कला से कोई सम्बन्ध नहीं, देश के वास्तविक अधिकारियों की सरपरस्ती अब उसके सर से उठ गई, इसलिए देशवासियों की भी इसमें अब वह रुचि नहीं रही। बल्कि ग़ालिब की आँखों को यह भी देखना पड़ा कि लोग उनके शेरों का मज़ाक उड़ा रहे हैं, 'शुमारे सुब्ह...' वाले शेर नहीं बल्कि एक-से-एक अछूते शेर का, क्योंकि फ़ारसी और उर्दू से मुँह फेरकर लोग अब अंग्रेज़ी की तरफ़ झुक रहे हैं। जब स्थिति यह हो कि ग़ालिब और उनके साथियों की शायरी का मज़ाक उड़ाया जाए और उन्हें ज़हर का घूँट पीकर कहना पड़े—

हमारे शेर हैं अब सिर्फ़ दिल्लगी के असद,
खुला कि फ़ायदा अर्ज़े हुनर में ख़ाक नहीं।

तो भला इस मेले में बेदिल वाली काग़ज़ की नाव कब तक चलती है।

मगर एक मूल कारण, जिसका महत्त्व सबसे अधिक है, ग़ालिब की अपनी आर्थिक स्थिति थी जिसमें केवल यही परिवर्तन नहीं हुआ था कि आगे की वह खाती-पीती हालत बल्कि अलल्ले-तलल्ले ख़त्म हो गए, लड़कपन से अभी जवानी में क़दम भी न रखा था—

मारा ज़माने ने असदउल्लाह ख़ाँ तुम्हें
वो वलवले कहाँ, वो जवानी किधर गई,

कहने की नौबत न आई थी कि एकदम से शादी हुई, घर का बोझ सर पर पड़ा और नौउम्र ग़ालिब अपने-आपसे पूछने लगे—

वो बादए शबाना की सरमस्तियाँ कहाँ

शादी के बाद ग़रीबी दबे पाँव नहीं बल्कि आँधी और तूफ़ान की तरह आई और ग़ालिब को ऐसा जकड़ा कि फिर ज़िन्दगी-भर न छोड़ा। अक्सर गद्य और पद्य में ख़ुद कहा है कि हर्ष और उल्लास का बस एक क्षण मिला था, मगर उसका दण्ड जीवन-भर झेला और फिर पूरा नहीं हुआ।

तो ग़रीबी तो आई मगर उसके साथ-साथ इतिहास के थपेड़े ने ग़ालिब को अशराफ़ या 'एरिस्टोक्रेसी' के वर्ग से बहाकर निचली मध्यम श्रेणी में ला पटका। ग़ालिब की मर्ज़ी से नहीं, वह तो उसी पुराने वर्ग में जमे रहने के लिए बहुत मचले, बहुत हाथ-पैर पटकते रहे, अधेड़ उम्र तक दौड़-भाग करते रहे, क्योंकि बाप-दादा की जाने दीजिए तो ख़ुद उनकी अपनी शादी इसी वर्ग में हुई थी, नवाब और राजा क़िस्म के लोग उनके सगे-सम्बन्धी थे और उन्हें देखकर दिल में हूक उठनी स्वाभाविक थी कि काश हम भी इन्हीं में शामिल होते।

मगर लाख जतन किए, अंग्रेज़ों से दोस्ती की, लन्दन तक चिट्ठी-पत्र दौड़ाए, गोरी चमड़ी के मामूली-से-मामूली चपरकनातिए से लेकर मल्का विक्टोरिया तक की प्रशंसा में कविताएँ लिखकर भेजीं, मगर सारी ज़िन्दगी पर मारने का फल रत्ती-भर न मिला। वह जो मोमिन ने कहा है, "आख़िर तो दुश्मनी है दुआ को असर के साथ" उसका विस्तार ग़ालिब की पूरी ज़िन्दगी बन गई।

बादशाह की उस्तादी की सम्भावना तो ख़ैर बहुत बाद में पैदा हुई थी, मगर शुरू ही में राजों और नवाबों के साथ सम्मिलित होने के स्वप्न का ठोस परिणाम यह भी न निकला कि डेढ़-दो सौ बीघा ज़मीन ही मिल जाती और खाते-पीते जमींदारों में ही गिनती होने लगती। अन्त में रामपुर से पिन्शिन बँधने तक वही बावन रुपये मासिक की आय और ज़िन्दगी-भर का साथ। इस आमदनी में यूँ भी कौन-सा चैन था जो शराब की लत पड़ गई और उसने पैसे की मार को पेट की मार बना दिया। घर की सामग्री गिरौ रखने का कारण पेट की आग थी या मदिरा की प्यास, मगर यथार्थ यह है कि बर्तन-भाँडों के बाद कपड़े तक गिरौ रखने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौबत आने लगी, चुनांचे एक पत्र में, व्यंग्य के रूप में लिखते हैं (क्योंकि व्यंग्य की हँसी से जिगर के घाव छिपाने का हुनर ग़ालिब से अच्छा शायद कम लोगों को आया है) कि और लोग कपड़े पहनते हैं मैं कपड़ा खाता हूँ।

दारू की दौड़-भाग में पाँव जितने तेज़ हुए उतने ही हाथ बँधते गए, दिमाग खुलता गया और बावन रुपये की गरीबी का अहसास शायद उससे भी ज़्यादा बढ़ गया जितना कि उचित था, वरना यह बात कहीं समझ में आने वाली है कि ग़ालिब जैसा मर्यादा पर मर मिटने वाला आदमी जुए की सज़ा में जेल जाए, वह शख्स जो ख़ुदा के दर के द्वार बन्द पाकर पता नहीं सचमुच पलट आता या न पलटता मगर अंग्रेज प्रिंसिपल के दर से जरूर पलट आया—और यह समझ-कर पलटा कि इस दर को फलाँगते ही बावन रुपए की जिन्दगी से मुक्ति है, अच्छे-खासे पैसों की नौकरी है और कालेज के अध्यापक का आदर है।

इसी तंगा-तुर्शी पर, जिसने जुए में उलझाया, ग़ालिब ने ख़ुद बड़े व्यंग्य के साथ टिप्पणी की है कि "मियाँ बड़े शायर बनते हैं, आपकी सूरत तो देखिये, इनकी हक़ीक़त क्या है, बनिया चाहे तो भूखा मार दे, कर्ज़दार चाहे तो इज़्ज़त उतार ले..." ...इस तरह वह तो कड़वी-से-कड़वी बात फीकी हँसी हँस-हँसकर कहे जाते हैं मगर पढ़ने वाले को ज़ब्त करना मुश्किल हो जाता है और कहीं-कहीं तो आँखें भी रोते हुए दिल का साथ देने लगती हैं।

तो दिल्ली का मतलब था शासक वर्ग से कटकर मध्यम वर्ग में मिल जाना, हकीमों, मुंशियों, सरकारी अहलकारों, छोटे-मोटे अहलकारों, गर्ज़ यह कि सफ़ेदपोशों और आमतौर पर उन लोगों से मेल-जोल जिन्हें 'अहलेदुआ' और 'अहले-पेशा' कहकर सालहासाल तक ग़ालिब उनसे एक तरह की दूरी बनाए रखने की बेकार-सी कोशिश करते रहे, मगर कब तक? रफ़्ता-रफ़्ता ऐसे घुल-मिल गए कि बिल्कुल एक हो गए जिसका पूरा-पूरा प्रमाण उनके पत्रों में मिलता है। वह इन पत्रों में अपने बहुसंख्यक मित्रों से जिस प्रकार खुले दिल से बात करते हैं, हर रुकावट, हर कृत्रिम भावना, हर तरह की ऊँच-नीच, हर प्रकार के ऐंच-पेंच, सावधानी और संकोच से मुक्त होकर हँसते और गले मिलते हैं वह ऐसा रूप है जो घर के बाहर नहीं घर के अन्दर सच्चे जनतन्त्र का चित्रण है।

उर्दू में पत्र-व्यवहार ग़ालिब ने बाध्य होकर किया। माना कि पत्र लिखने के लिए उन्हें कोई ख़ास मजबूरी नहीं थी जैसी जननी के समान एक शायर को होती है। जब उसकी चेतना पर शेरों की वर्षा होने लगती है, "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला दिल की धड़कन तेज़ कर देता है, दिमाग़ की रगों में तनाव पैदा कर देता है और सारी आत्मा को गर्भवती की तरह बोझिल बना देता है। मगर यहाँ भी हुआ वही कि इस रास्ते पर वह लोगों की ख़ुशी के लिए चले और फिर इस पथ-गमन की प्रतिध्वनि से ख़ुद उनको ही लोभ हो गया और यद्यपि फ़ारसी के स्थान पर उर्दू में पत्र-व्यवहार का चलन उन्होंने ख़ासी उम्र में शुरू किया, थोड़े ही समय में ख़त लिखने-लिखाने की चाट-सी लग गई और "कासिद के आते-आते ख़त इक और लिख रखूँ" का वह सिलसिला बँधा कि पत्रों के बोझ से ग्रन्थ के ग्रन्थ तैयार हो गए। और चूँकि यह सारा सिलसिला ही प्रौढ़ आयु में प्रारम्भ हुआ इसलिए उनकी पूरी पत्रावली समतल प्रकार से असाधा-रण उच्च साहित्यिक स्तर पर दिखाई देती है जिसमें बहुत खोज लगाकर मानो अनुसन्धान के लिए कोई-आध सिकुड़न या झोल पकड़ में आजाए तो बड़े भाग्य की बात समझनी चाहिए।

इसलिए ग़ालिब को बदलना पड़ा। बेदिल के और अपने "नक्शे नाज़े बुते तन्नाज़..." वाले काव्य को हुनर समझते हुए भी बदलना पड़ा। लेकिन मीर, दर्द और सौदा की परम्परा, दिल्ली की भाषा की घुलावट, सुथरी शायरी में जनता के एक अच्छे-ख़ासे भाग की दिलचस्पी, यहाँ के उच्च साहित्यिक स्तर के प्रभाव दोस्तों की सलाह और दुश्मनों के टहोकों और फिर अँग्रेज़ी राज के कोलाहल के कारण एक बार जब उन्होंने बदलना शुरू किया तो इतनी तेज़ी से बदले कि कुछ बरसों में "शुमारे सुब्ह......" के दूर देश से

आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।

के अपने प्रिय प्रदेश में पहुँच गए। कहने का मतलब यह नहीं कि उन्होंने वह ग़ज़ल फ़ौरन कह दी जिसमें यह शेर आता है, न यह कि इसी प्रकार के शेर शीघ्र ही आम तौर पर कहने लगे, बल्कि यह कि अब उनकी शायरी का स्रोत जैहून के बजाय जमुना हो गई जिससे "आगे आती थी......" वाली शायरी फूटती है। अब उनका ध्यान ऐसी दिशाओं की ओर मुड़ गया जहाँ पहुँचकर कविता की ऊँची चोटियाँ नीचे दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक फैली मालूम होती हैं।

चूँकि यह सुधार युग की माँग के अनुकूल था इसलिए समय बीतने के साथ-साथ यह सुदृढ़ होता गया और फिर एक प्रकार से दिल्ली से भी अत्यधिक प्रभावशाली एक नगर उनके जीवन में आया—कलकत्ता—जिसने सारे आन्तरिक जीवन में ग़ालिब की चेतना ही नहीं अर्धचेतना में भी एक क्रान्ति पैदा कर दी। दिल्ली में जो रास्ते उन्होंने अपनाये थे अब उन पर पक्के हो गए और नज़ीर के लोकवाद से भागने वाला कवि, लोकभाषा, लोकशैली, लोकस्वर और लोकध्वनि में बेदिल और उर्फ़ी के अर्थ अदा करने वाला सबसे कामयाब शायर बन गया :

हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।
आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।
है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ
वर्ना क्या बात कर नहीं आती।

और इसी के साथ लोक-भावना को बेदिल और उर्फ़ी बल्कि उनसे भी उच्चतम भाषा और शैली में प्रस्तुत करने का सलीका भी उसने कमाल को पहुँचा दिया :

एक नौ बहारे नाज़ को ताके है फिर निगाह
चेहरा फ़रोग़े मै से गुलिस्ताँ किये हुए।
माँगे है फिर किसी को लबे बाम पर हवस
ज़ुल्फ़ सियाह रुख़ पे परीशाँ किये हुए।

इन दो नगरों के अतिरिक्त दो व्यक्ति भी हैं जिनका कवि को आधुनिक बनाने में बड़ा हाथ था। एक का नाम था असदुल्लाह ख़ाँ और दूसरे का ग़ालिब। असदुल्लाह ख़ाँ गृहस्थ, दुनियादार और समझदार आदमी थे और ग़ालिब थे कलाकार अपने व्यापकतम अर्थों में।

मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ बहुत समझदार ही नहीं बल्कि कवि और कलाकार होते हुए भी ख़ासे चालाक आदमी भी थे, बुरे मानों में भी और अच्छे मानों में भी, क्योंकि वे दूसरों का बुरा चेतने वालों में से बिल्कुल नहीं थे। उनकी चालाकी का प्रमाण अँग्रेज़ों के प्रति उनके रवैये से मिलता है जिनको उनका रोआँ-रोआँ कोसता था क्योंकि अँग्रेज़ों ने ख़ुद उनकी पेन्शन करीब-करीब डकार ली थी, उनके भाई को जान से मारा था, उनके सैंकड़ों अज़ीज़ों और दोस्तों को मारा था, उनके नगर के उसी भाग को, जो दिल्ली की जान था, गिराकर बिल्कुल ज़मीन के बराबर कर दिया था। मगर ग़ालिब ने कभी उनके विरोध में भूले से भी एक लफ़्ज़ नहीं लिखा, लिखना तो दूर रहा उनके ख़तों में भी इसका दूर-दूर कोई इशारा नहीं मिलता, इसलिए पता चलता है कि वे घनिष्ठ मित्रों तक से अपने दिल के इन ज़ख़्मों का कानाफूसी में भी भी ज़िक्र नहीं करते थे और इसीलिए भाई की मौत को जान-बूझकर बीमारी के कारण मशहूर कर दिया जिससे उन्हें विरोध फैलाने का दोषी न समझा जाए इस सबके पीछे डर से भी बड़ा कारण उनकी सावधानी थी, क्योंकि फ्रेज़र के क़त्ल पर नवाब शमसुद्दीन को फाँसी तो बाद में हुई (जिस पर लोगों को यह भी शुबहा था कि नवाब की शिकायत ग़ालिब ही ने की) मगर ग़ालिब इससे २०-३० वर्ष पहले ही अंग्रेज़ों के तेवर भाँप गए थे और यह रहस्य अच्छी तरह समझ चुके थे कि उनकी बाएँ ओर आए तो जान की अमान नहीं। इसी तरह अपनी समझदारी के कारण वे बहुत शुरू में ही समझ गए कि शायरी और अदब की हवा किधर की है और अंग्रेज़ को ख़ुश रखने की कोशिश की तरह, यहाँ भी समय का साथ देने के लिए बदले तो कुछ बहुत ख़ुशी से नहीं। ख़ुशी तो जब हुई जब सच्ची कला के निर्माण से एक सच्चे कलाकार को मज़ा आने लगा।

एक ओर ज़माने और स्वयं मिर्ज़ा साहब की अपनी सूझ-बूझ और दूसरी ओर व्यक्तित्व पर परम्परा के प्रभाव में जो अन्तर्विरोध था, इस समस्या का समाधान कवि की कलात्मक आत्मा ने किया, काव्य-अहंकार ने अर्थात् शायरी के क्षेत्र में ग़ालिब के एक अत्युत्तम विशेष वाद ने। मगर यह समाधान दोनों विरोधी तत्त्वों में से किसी एक को अपनाकर और दूसरे को छोड़कर नहीं बल्कि दोनों फ़ीतों को एक साथ इस प्रकार बुनकर किया गया जिसमें परम्परा का रंग पृष्ठभूमि में चला गया और युग का आगे-आगे, और यही ग़ालिब की आधुनिकता है।

ग़ालिब के विशेष 'वाद' से हमारा क्या मतलब है? केवल यह कि ग़ालिब की इस अभिलाषा ने कभी एक क्षण के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ा कि वह अपना मार्ग अलग बनाए। पिटे हुए रास्ते पर चलने से उनके पग रुकते थे और चबाए हुए निवाले उगलने से उनकी आत्मा को सदा घृणा रही। इस प्रवृत्ति का कला तो क्या रोज़मर्रा के जीवन पर भी इतना प्रभाव था कि जब बाल सफ़ेद होने के कारण दाढ़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुड़ाना छोड़ी तो सर मुड़ाना शुरू कर दिया क्योंकि एक पत्र में खुद लिखते हैं कि दिल्ली में दाढ़ी तो एक यूनीफार्म बनी हुई है। सक्के और धोबी से लेकर बादशाह तक···बादशाह का ग़ालिब ने नाम तो नहीं लिया मगर उनके पत्र में इशारा इतना व्यापक है कि बहादुरशाह उसकी लपेट में आ ही जाता है—सभी दाढ़ी रखे हैं, इसलिए मित्रो मैंने दाढ़ी रखने के साथ बाल मुड़ाने शुरू कर दिए ताकि भिन्नता का कोई चिह्न तो हो। और आदमी जब अपना रास्ता अलग निकालता है, चाहे वह किसी क्षेत्र में हो तो उसे आगे देखना पड़ता है पीछे नहीं, वह आधुनिक बनता है रूढ़िवादी नहीं।

"शुमारे सभा···" से "हम वहाँ हैं जहाँ से हमको···" तक का अन्तर केवल कठिन और सरल, भाषा और शैली का अन्तर नहीं, बल्कि काव्य के प्रति कवि के रवैये का, वैदेशिकता और भारतीयता का, बिगड़े हुए बेदिल और बने हुए ग़ालिब का, दो शताब्दियों का नहीं दो युगों का अन्तर था। आश्चर्य यह है कि यह देखने में अपार अन्तर ग़ालिब ने इतना अविलम्ब कैसे तय कर लिया, यद्यपि आरम्भ में वह कोई बहुत स्वेच्छा से पग धरते भी नहीं दिखाई देते। पर यही उनकी प्रतिभा है कि इतने घोर दोदिलेपन के संकट में पड़े और दो युगों के बीच खिंचते रहे, जिसका शायद ही किसी भाषा में किसी भी कवि से सामना हुआ हो और शायद ही किसी को अपनी मातृभाषा के दीवान का बड़ा हिस्सा फाड़कर फेंकना पड़ा हो, मगर इस विकट संकट पर वह बहुत सफलतापूर्वक वर आए, और अपनी कला का स्वाभाविक स्तर उन्होंने जवानी में ही ढूंढ लिया। फिर इस नये रास्ते पर वह जितना आगे बढ़ते गए उतना ही उनके हृदय में विश्वास और पग में गति आती गई।

इस यात्रा में वह किन चरणों से गुज़रे यह बड़ी लम्बी कहानी हो जाएगी, इसलिए उसे यहाँ छोड़ने के सिवा कोई चारा नहीं, क्योंकि ग़ालिब की आधुनिकता के आरम्भ पर पहुँचते-पहुँचते इतना अधिक समय पहले ही बीत चुका है। यह इसलिए आवश्यक था कि इस परिवर्तन की समालोचना किये बिना न तो हम ग़ालिब की आधुनिकता के महत्त्व का अनुमान कर सकते थे और न उसका वास्तविक अर्थ समझ सकते थे।

और अब जो इस नये ग़ालिब से हमारा परिचय होता है तो वह पुराना सनातनवादी, कठिनतावादी, बुद्धिवादी, उच्चतावादी, जातिवादी ग़ालिब पहचाना भी नहीं जाता और उसकी जगह एक ऐसा सज्जन पुरुष मिलता है जो व्यक्तिवादी होते हुए भी मानववादी है और भरपूर मानववादी है। अभिजात अमीरों और सरदारों के कृत्रिम जीवन का उसके यहाँ ज़रा भी मैल नहीं बल्कि केवल मित्रता की स्वच्छता है, सबसे प्रेम है, भाईचारा है, अज्ञान की कड़ी-से-कड़ी आलोचना के बावजूद एक गलियारे दुश्मन के लिए भी इस हिमाकत पर हँसी है कि कम्बख़्त को गाली देनी भी नहीं आती, बूढ़े ग़ालिब को जवानों जैसी गाली देता है।

ग़ालिब के किसी गम्भीर विद्यार्थी को इस पर विस्मय तो नहीं होगा पर इसकी क़द्र अवश्य करनी चाहिए कि इस परिवर्तन ने, चाहे वह कितना ही मौलिक रहा हो और कितना ही अल्पकालिक, किन्तु किसी सख़्त झटके का नहीं बल्कि विकास ही का रूप धारण किया और एक प्राकृतिक प्रगति के साथ उत्पन्न हुआ। इसकी प्रकृति एक दबे हुए अर्ध-सचेत आंतरिक संकट से बढ़कर एक विनाशकारी संघर्ष की नहीं होने पाई। समाज के लिए तो झटके वाला परिवर्तन एक बिन्दु पर पहुँचकर अनिवार्य हो जाता है और इसलिए रचनात्मक होता है, लेकिन व्यक्ति को अधिकतर तोड़ देता है और अगले चरण पर पहुँचने के लिए कुकर्मक अंश कटकर अलग होते हैं तो साथ-ही-साथ श्रेष्ठ तत्त्वों को भी काफ़ी हद तक त्यागना पड़ता है। किन्तु ग़ालिब को अपनी आत्मा के साथ सौभाग्यवश यह हिंसा नहीं करनी पड़ी और आत्म-मन्थन के किसी ऐसे संघर्ष से नहीं गुज़रना पड़ा जिसमें परम्परावादी और बेदिलीय या अन्य फारसी काव्य से प्रभावित मोहक तत्त्वों को अपने अन्दर समेटे हुए अपनी आत्मा के श्रेष्ठ भाग की बलि देनी पड़ती। उन्होंने केवल युग-संकट से गुज़रकर नये युग में प्रवेश किया तो अपने पूरे व्यक्तित्व को विघटन से मुक्त सही-सलामत बचा लाए। नये ग़ालिब में पुराने ग़ालिब का कोई अंश मरा नहीं केवल परिवर्तित हो गया। और इसलिए ग़ालिब की आधुनिकता का अध्ययन उनके अन्दर पड़ी हुई किसी दरार का अध्ययन नहीं, आधुनिकता और रूढ़िवाद की अलग-अलग परतों, अलग-अलग फीतों की अपेक्षा का प्रयास नहीं बल्कि सारे फ़ीतों के बुने हुए ताने-बाने का, पूरे-के-पूरे ग़ालिब का, उनके पूरे व्यक्तित्व और पूरी कला, पूरे गद्य और पद्य का अध्ययन है। क्योंकि पच्चीस और तीस वर्ष की आयु के बीच में इस परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अभिप्राय भली-भाँति पूरा हो चुका था और भविष्य में उनको किसी विशेष आत्म-संकट का सामना नहीं करना था, जो भी था बाहरी संकट था, विशेषकर पैसे का संकट जो अन्त समय आ गया और न कटना था न कटा।

●

अभी जब हमने ग़ालिब की आधुनिकता के व्यक्तित्वव्यापी होने का ज़िक्र किया तो उससे हमारा अर्थ यह था कि उनके मानवीय जीवन का और उनकी सारी कला का ढंग ऐसा था जिसने उन्हें आधुनिक युग के, हमारे अपने युग के, काफ़ी समीप कर दिया। ऐसा मनुष्य आधुनिक नहीं तो और क्या कहलाएगा जो पिछली शताब्दी के भी पहले अर्द्ध भाग के आसपास बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों का क्या ज़िक्र है पत्रों के साधारण आवागमन के सम्बन्ध में भी समय का इतना लिहाज़ रखे कि किसी सम्बोधक का सप्ताह में उसके निश्चित दिवस पत्र न आए तो उसको सख़्ती से हिदायत दे कि भई तुम ख़त बैरंग भेज दिया करो, न इसके खोने का डर रहेगा न विलम्ब का?

इसे आप एक कलाकार की सनक कहकर नहीं टाल सकते क्योंकि हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक मामलों में ग़ालिब समझदार क्या ख़ासे दुनियादार आदमी थे और उनमें सनक-बनक नाम-मात्र भी नहीं थी। सनक तो आदमी ऐसी रखता है जिसमें दूसरे को कष्ट हो, अपने को नहीं, जबकि समय की पाबन्दी ऐसी चीज़ है जिसमें दूसरे को ही नहीं, अपने को भी उतना ही कष्ट देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो वह बैरंग ख़तों के पैसे अपनी जेब से देने को उठाने को, तैयार हैं। इसलिए यह कोई बनावट की या ऐसे ही बेध्यानी की फ़रमाइश नहीं है बल्कि गम्भीरता से की गई है जिससे मिज़ाज का एक स्थायी स्वभाव प्रकट हो रहा है। यह बात जानने के लिए कि समय की पाबन्दी में कितनी आधुनिकता है हम केवल वर्तमान भारत को देख लें जहाँ एक सौ दस रेलें चलने के बाद भी अभी समय के ध्यान से इतने ऊँचे हैं कि औरों का क्या ज़िक्र है एक बहुत बड़े प्रदेश के बहुत बड़े मुख्यमंत्री और केन्द्रीय गृहमंत्री दूसरी शताब्दी के दूसरे अर्द्ध भाग में रेलगाड़ी पर पहुँचने के लिए अक्सर चार-चार घण्टे अभी कभी-कबार छः-छः घण्टे तक विलम्ब से गए हैं!

यह तो हमने सिर्फ़ सामने की बात की और एक इशारा कर दिया जो किसी विस्तृत अध्ययन में एक प्रतीक का काम कर सकता है जिससे ग़ालिब के मस्तिष्क की एक हल्की-सी झाँकी मिल जाय। पर हम उनके जीवन के अन्य पहलुओं को भी देखें तो उनसे भी हमें आधुनिकता का निस्सन्देह संकेत मिलता है। और कुछ नहीं तो आप ग़ालिब के मित्रों ही को ले लीजिए। इसको छोड़िए कि ये भिन्न-भिन्न प्रकार के थे और यह भी भूल जाइए कि उनसे ग़ालिब के सम्बन्ध वही पुराने सामन्ती युग के थे या नये उद्योग युग के, बल्कि केवल उनकी संख्या को ले लीजिए। एक पत्र में ख़ुद लिखते हैं कि "सत्तर वर्ष की आयु में जनसाधारण से नहीं जन-विशेष से सत्तर हज़ार व्यक्ति नज़र से गुज़र चुके हैं।" इनमें सब तो नहीं, क्योंकि 'इन्सान-शनास' ग़ालिब को इन्सानों की पहचान थी और वह ख़ूब जानते थे कि इनमें जो जितना ज़्यादा विशेष है उतना ही निकम्मा और गिरा हुआ, पर सौवाँ भाग भी दोस्तों का हुआ तो सात सौ मित्र हो गए, पर उनके वास्तविक मित्रों का वृत्त, चाहे वह इस बात का अहसास न रखते हों, जन-विशेष नहीं जन-साधारण ही में थे, जैसा कि उनके पत्रों के सम्बोधकों से स्पष्ट है।

फिर पत्र-व्यवहार तो उन्हीं से कर सकते थे जो उनके गद्य की सरलता, उनकी वार्ता की शैली, उनके सम्बोधन की समीपता, उनके व्यंग्य की चोट और हास्य-विनोद के कौशल से प्रभावित और प्रसन्न होने की रुचि रखता हो। इनकी अपेक्षा कितने ही ऐसे होंगे जो सज्जन पुरुष होने के कारण ग़ालिब जैसे 'इन्सान-शनास' के मित्र तो रहे होंगे किन्तु उनसे पत्र-व्यवहार की या तो गुंजाइश नहीं थी या नौबत नहीं आई। इनमें बहुत बड़ी संख्या उनके सबसे घनिष्ठ मित्रों की है जो स्वयं दिल्ली में रहते थे और जिनमें बल्ली-मारान के हाताकाले साहब वाले काले साहब जैसे व्यक्ति भी थे जिनके यहाँ कारागार से आकर उन्होंने शरण ली और एक पत्र में लिखा कि "पहले गोरे की क़ैद में था, अब काले की क़ैद में हूँ।"

यह सब मिलाकर कितने हुए? हज़ार-डेढ़ हज़ार तो ज़रूर हो गए होंगे। चलिए इसे भी छोड़िए, केवल उन लोगों की सूची बनाकर देखिए कि कितनी लम्बी होती है जिनके नाम ग़ालिब के पत्र मुद्रित हो गए हैं। इतनी अधिक संख्या में और इतने विभिन्न प्रकार के, रुचि, वर्ग, बुद्धि और विचार, पेशे और धर्म, और सामाजिक स्तर के लोगों से हम उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेतकल्लुफ़ वार्ता करते देखते हैं तो उनकी संख्या और विभिन्नता पर ही आश्चर्य होता है। इसको भी जाने दीजिए, केवल उन नगरों की सूची बना लीजिए जहाँ ये पत्र भेजे गए तो उत्तरी भारत का शायद ही कोई शहर रह जाय जिसका इसमें नाम नहीं आएगा।

इसी के साथ यह भी ध्यान रहे कि रेलें अभी नहीं बिछी थीं, उनके जीवन के अंतिम वर्षों में भी स्थिति ऐसी थी कि उनको रामपुर जो कई बार जाना पड़ा तो दिल्ली से सौ-सवा-सौ मील का यह फ़ासला तय करने में एक-एक सप्ताह लग गया और जवानी में कलकत्ते जो गए थे वो तो कई शहरों में रुकते-रुकाते पूरे साल भर में पहुँचे थे।

और तब हमें अंदाज़ा होता है कि इस आदमी का व्यक्तित्व मानवीय चरित्र की कितनी व्यापक दिशाओं पर छाया हुआ था। समय और स्थान की कितनी विस्तृत सीमाओं तक फैला हुआ था।

मगर इसमें आधुनिकता की क्या बात है? यही कि सामंती युग में दोस्ती का यह व्यापक विस्तार संभव ही नहीं था। और इसलिए राजा हो या भिखारी हर एक के बस दो-चार दोस्त होते थे, बहुत हुए तो दस-बारह। जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ उसके हद-से-हद चालीस-पचास मित्र हो गए, किन्तु इनमें भी निकट मित्रों की संख्या कम ही होती थी। आम तौर से जिसे जीवन में एक-डेढ़ दोस्त मिल जाता था, अपने को बड़ा भाग्यवान समझता था और इसकी पूर्ति के लिए अभिलाषा केवल यह रह जाती थी कि शत्रु भी उदार मिले, क्योंकि दोस्त और दुश्मन दोनों में कोई ऐसा अपार अंतर नहीं होता था, दोनों का पुरुष से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता था, जीवन-मरण का संबंध, क्योंकि मित्र अपने प्राण देकर भी मित्र की रक्षा करता था और शत्रु भी अक्सर ज़रा-सा बहाना पाकर साफ़-साफ़ मित्र ही बन जाता था।

स्पष्ट है कि जब तेज़ रौ परिवहन के साधन न हों तो दिल्ली से कलकत्ते तक किसी के दूर-दूर प्रदेश में इतने बहु-संख्यक दोस्त कैसे हो सकते हैं। मानव ग़ालिब की यह व्यापक श्रेणियों और दूर देश तक फैली हुई मित्रता, पहले ही से, आनेवाली रेलों और अन्य औद्योगिक गतिशीलता के युग की सूचना दे रही थी जिसमें लोग अल्प समय में कई गुना ज़्यादा व्यक्तियों से मिल सकेंगे, अतः उतने ही अधिक मित्र भी बना सकेंगे। मगर यह केवल मेल-मुलाकात के विस्तार और परिवहन की शीघ्रता का प्रश्न नहीं, बल्कि उससे ज़रा गहरा सामंती और नवीन स्वभाव और प्रवृत्ति का प्रश्न है।

सामंती युग के प्रतिनिधि औरंगज़ेब को देख लीजिए। जीवन-भर युद्ध-क्षेत्र में गतिशील रहा। उसके लिए परिवहन का क्या अभाव था जिसकी सुविधा डेढ़-दो सौ वर्ष बाद भी ग़ालिब को प्राप्त रही? परन्तु फिर भी चूँकि वह अपने चारों ओर बदलती हुई स्थिति के अनुसार अपने को नहीं बदल सकता था, अर्थात् सिकुड़ते हुए सामंतवाद के युग में अपने सिकुड़ते हुए व्यक्तित्व का रिश्ता भविष्य से नहीं जोड़ सकता था, इसलिए शायद उसका कोई मित्र न था, और तो और स्वयं उसे अपनी सन्तान पर भी विश्वास नहीं था।

इसकी अपेक्षा दारा शिकोह को देखिए जो सामंती प्रथा की उत्पत्ति होते हुए भी भारत की बदलती हुई गति की धमक को अपनी रगों में महसूस करता था अर्थात् राष्ट्रीयता की बिल्कुल प्रारंभिक कसमसाहट का विरोधी नहीं बल्कि उससे थोड़ी-थोड़ी सहानुभूति रखने वाला विद्वान् राजकुमार था और इसलिए उसके इतने मित्र थे कि जब उसे अपमानित करने के लिए औरंगज़ेब ने जलूस निकाला तो उसके अपने परिवार और दिल्ली के सूफ़ियों और पंडितों में ही नहीं बल्कि घर-घर में रोना था और सारे नगर में मातम।

हो सकता है मित्रता के विषय में इस दृष्टिकोण से कुछ लोग सहमत न हों और आपत्ति उठाएँ कि एक औरंगज़ेब और दारा शिकोह का इत्तफ़ाकी उदाहरण किसी सिद्धान्त का प्रमाण कैसे बन सकता है और सामंतवाद या उद्योग युग का मित्रता की घनिष्ठता या उसकी संख्या से क्या संबंध हो सकता है। मगर हम पुनः यह विनती करेंगे कि ये दोनों ऐसी दूर की बेजोड़ बातें नहीं और इनका संबंध पता चलाने के लिए किसी बड़े अनुसंधान की ज़रूरत नहीं है। सामंती युग की मित्रता इतनी घनिष्ठ होने के बावजूद इस अर्थ में एक प्रकार की बनिऔटी थी कि आप मेरी रक्षा के लिए जान दीजिए, मैं आपको बचाने के लिए बलि हो जाऊँ। इस मित्रता में कभी-कभी प्राण देने के अवसर भी आ जाते थे जिनकी कहानियों ने उसमें इतना रोमांचक आकर्षण पैदा कर दिया है कि अब तक हम इस मित्रता का गुणगान करते हैं। पर ग़ौर से देखिए तो इसका आधार स्वार्थ था, मानव के चरित्र का मूल्यांकन कम। मेरा मित्र चोर हो, डाकू हो, संसार के लिए कितना ही बुरा हो, किन्तु हर बुरे-भले में मेरा साथ देता है इस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए उसके चरित्र की ओर से मेरी आँखें बंद हैं, मेरे लिए तो विश्व का श्रेष्ठतम नायक वही है। सामंती व्यवस्था में चूंकि सुरक्षा का अभाव था इसलिए मित्रता में प्रथम प्रश्न किसी व्यक्ति के विश्वासपात्र होने का, चाहे वह निष्ठा इसलिए हो कि लड़कपन का साथ था या इसलिए कि गाढ़े वक्त में साथ दिया, मानक और भाव वही था जो शेख सादी निश्चित कर गए थे कि :

दोस्त मांबाशद कि गीरद दस्ते दोस्त
दर परीशां हालिओ दर आंदगी।

(दोस्त वही है जो परीशान हाली में और विपदा में दोस्त का हाथ पकड़े।)

जीवन की किसी घटना या घटनाओं के फलस्वरूप दोस्त, दोस्त का दोस्त हो जाता था। किसी को मित्र प्राप्त हो जाए यह सुखद घटना सही क्योंकि शेख सादी या किसी और पैमाने पर नाप-तौलकर दोस्त का निर्वाचन नहीं होता था, जिस प्रकार गुन-अवगुन के आधार पर किसी नरेश का निर्वाचन नहीं होता था। गाँव, नगर, प्रान्त या देश के प्रशासक की अच्छाई-बुराई भी दोस्त के समान इस पर निर्भर थी कि उसके द्वारा सुरक्षा का प्रयोजन कहाँ तक उत्तम होता है।

मगर जब सामन्त-युग का अन्त होने लगा, सुरक्षा खासी सुरक्षित हो गई, नए युग के नए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे, नई मान्यताएँ उभरने लगीं तो अब मित्रता का वह पुराना स्वार्थी आधार भी बदला। यह आधार यद्यपि नए सामाजिक सम्बन्धों की पेचीदगी के समान और इस पेचीदगी के कारण भी बहुत पेचीदा था, पर सरलीकरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि इस मित्रता का आधार था प्रेम और आदर। अब उन व्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनको जीवन-प्रवाह ने हमारे पास पटककर हमारे साथ मित्रता अथवा शत्रुता के बन्धन में बाँध दिया, अब समर्थन और विरोध के सम्बन्ध सहविचार और सहकारिता के सम्बन्ध, चरित्र और दुराचार के आकर्षण और अनाकर्षण के सम्बन्ध का भी पेचीदा होते हुए जीवन में महत्त्व होने लगा और यही सम्बन्ध विकसित दोस्ती और दुश्मनी का आधार बनने लगा। अब आदमी दोस्ती के सम्बन्ध में घटनाओं से बाह्य नहीं रहा बल्कि स्वभाव और आचार की अनुकूलता के अनुसार अपने दोस्त बनाने लगा, उनका निर्वाचन करने लगा, अपने प्रति किसी की निष्ठा की पूजा अर्थात् स्वयं अपनी ही पूजा करने की अपेक्षा दूसरों के गुन-अवगुन का मूल्यांकन करने लगा। आदमी की कद्र हुई, दारा के दिल में सेनापतियों और राजनीतिक शतरंज के मोहरों—शहज़ादों, रईसों और सरदारों—और निष्ठावान रक्षकों या सरबकफ़ सिपाहियों के अतिरिक्त संस्कृत के विद्वान् पंडितों और फ़ारसी के शायरों ही की नहीं, सरमद जैसे चरित्रवान् सूफ़ियों और फकीरों की कद्र पैदा हुई जिसके कारण वह लोकप्रियता में मुग़ल शहज़ादों में शायद सबसे आगे बढ़ गया और ग़ालिब को 'इन्सान शनासी' का ज्ञान मिला जिसके सहारे उन्होंने अपनी मित्रता का जाल सारे भारत में फैला दिया।

इतने बहुत-से आदमियों से बकौल पंजाबियों के 'राज़ी-ख़ुशी' होने की शक्ति मिजाज़ में इतना गुन कि कोई इतने विभिन्न लोगों से प्रसन्न हो और उन्हें प्रसन्न करे, क्या ये बातें युग धारा के विरोध के साथ सम्भव हैं? ये बातें रूढ़िवादी संकीर्णता की सूचक हैं या आधुनिक उदारता की।

इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि व्यावहारिक जीवन में जितनी आसानी से ख़ुश हो जाते थे, जिस खुले दिल से और जिस तरह दोनों हाथों से दोस्ती बाँटते और लूटते थे, उसी तरह और उतने ही वे कला के स्तर पर दुराराध्य भी रहे।

शायद इसी वजह से इतने प्रसिद्ध होने पर भी ग़ालिब शायरी में अपने कोई ख़ास शागिर्द नहीं बना सके, हालाँकि उस ज़माने में क्या दाग़ के ज़माने तक चलन था कि चेलों में जो ज़रा खाते-पीते होते थे वे अपनी ग़ज़लों के सुधार और संशोधन का पूरा एक-एक, दो-दो रुपया (वर्तमान मूल्य के अनुसार कम-से-कम पचास-पचास, सौ-सौ रुपया) पुरस्कार के रूप में दे दिया या भेज दिया करते थे और इससे बड़े-बड़े उस्तादों की अच्छी-ख़ासी आय हो जाती थी जिसकी तत्कालीन उस्तादों में ग़ालिब को सबसे अधिक आवश्यकता थी। वैसे ग़ालिब के पास भी इस्लाह के लिए कभी-कभार एकाध ग़ज़ल लिफ़ाफ़े में आ जाया करती थी मगर उसको भी जब वे बना-सँवारकर वापस करते थे तो ग़ज़लगों की ग़ज़ल से ज़्यादा उन्हें अपनी इस्लाहों पर विवाद छेड़ने में मज़ा आता था। यह भी कहा जाता है कि शायरी में हाली ग़ालिब के चेले थे। यह ऐसी ही बात है कि यदि शान्तिप्रिय द्विवेदी कवि भी होते तो सुमित्रानन्दन पंत के समालोचक होने के कारण बिना पूछे-गछे और बग़ैर सोचे-समझे हम यह भी मान लेते कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

८४ ज०ना६८
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी पन्त के चेले हैं चाहे उनकी कविताओं में पन्त का प्रभाव मिलता या न मिलता। यह अलग बात है कि सौभाग्यवश हिन्दी काव्य में गुरु-शिष्य की परम्परा ही नहीं है, इसलिए कोई किसी का चेला माना नहीं जा सकता।

भला बताइये कहाँ हाली की "ऐ माँओ-बहनो-बेटियो, दुनिया की इज़्ज़त तुमसे है" वाला प्रयोगी काव्य और कहाँ ग़ालिब की "दामाने बाग़बानो कफ़े गुलफ़रोश" वाली महकती हुई रंगीन ग़ज़ल गोई और विचार एवं भावना की तीव्रता के ताप की सूचक, "आबगीना तुन्दिए सहबा से पिघला जाए है" की दहकती हुई शायरी। सच यह है कि हाली ग़ालिब के रस्मी शागिर्द नहीं थे जो कुछ ग़ज़लों के काफ़िए ठीक करा लेते और कुछ शेरों का झोल निकलवा लेते बल्कि वे उनके सच्चे शागिर्द थे और उनसे प्रभावित होकर उन्हीं के समान हाली ने गद्य और पद्य में अपने लिए बिल्कुल नई राह निकाली, जो नवीनता में शायद ग़ालिब से भी अधिक थी।

ज़रा ग़ौर करने से ग़ालिब के शागिर्दों के अभाव का रहस्य खुल जाता है। हर मिलने वाले आदमी को तो वे अपना मित्र बना लेते थे, शिष्य कहाँ से आते! हर आने वाले से, चाहे वह पहली बार आया हो, बिल्कुल घुल-मिल जाते और ऐसी संसार-भर की मज़े-मज़े की बातें करते कि घटिया क़िस्म की ग़ज़लों के एक-एक शेर को लेकर और पित्ता मारकर उसका सुधार करते अर्थात् उसके शब्दों की मक्खी-पर-मक्खी मारने के लिए धैर्य कहाँ से लाते। रह गया पत्र-व्यवहार द्वारा गुरु-शिष्य के सिलसिले का संचालन, सो वह और भी मुश्किल था। ऐसे अहमक और रुचिहीन कितने हो सकते थे जो ग़ालिब के अछूते और सर्वश्रेष्ठ पद्य को छोड़कर, उनके जीवित बोलते-चालते वार्तालाप को भूलकर अपनी ठस ग़ज़लों पर समय बर्बाद करते।

तो रोज़मर्रा के सामाजिक व्यवहार में उनकी आधुनिक प्रवृत्तियों के समान कला के क्षेत्र में भी ग़ालिब की प्रतिभा आधुनिक प्रतिभा थी। तबियत को बदमज़ा करने वाली औरों की शायरी का बोझ वह कवि क्या उठाता जिसकी समालोचक चेतना कला के क्षेत्र में इतनी जाग्रत थी और काव्य के मूल्यांकन के मामले में इतनी दृढ़ और कठोर कि खुद अपनी खामियों को उसने माफ़ नहीं किया और अपने दीवान का बड़ा भाग नष्ट कर दिया। इस मामले में तो ग़ालिब पिछले युग से ही नहीं आजकल के कवियों से भी आगे हैं। जो अब तक एक-एक मिसरए तरह में दोग़ज़ले और सहग़ज़ले कहलाते हैं और फिर भी उनका जी नहीं भरता। यदि कोई यह कहे कि साहब! ग़ालिब को अपनी 'शुमारे सब्ह...' वाली शायरी तो नष्ट कर ही देनी चाहिए थी तो फिर इस कसौटी पर हमारे वर्तमान भाइयों के सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ शेरों की ग़ज़लें ही नहीं बल्कि पूरे-पूरे दीवान जला देने पड़ेंगे।

इतनी व्यापक मित्रता उनके भरे हुए अहंकार के साथ कैसे चल सकी, यह प्रश्न अक्सर किया गया है और उसी के साथ यह भी कि इस मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व किस स्तर पर था जो एक ओर मित्रता में नीचे बिछे हुए सागर की तरह फैला हुआ है और दूसरी ओर काव्य में पर्वत के शिखर के समान ऊँचा और दुर्गम है।

इन सवालों में एक भ्रम छिपा हुआ है जो रुककर ग़ौर करने से दूर हो जाता है। जहाँ तक बहुस्तरीय जीवन का सम्बन्ध है, यह तो इतनी साधारण बात है कि हर व्यक्ति के जीवन में, स्वयं हमें अपने जीवन में अनिवार्य रूप से मिल जाएगी, मगर हमको कभी अपने ऊपर सन्देह नहीं होता कि हमारी मानसिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई है, स्टीवेंसन के डॉ० जेकिल और मिस्टर हाइड की तरह हमारी आत्मा का विघटन हो गया है, बल्कि हर स्तर पर हमारा जीवन समतल रूप से वास्तविक और सत्य रहता है, शत्रु के साथ हमारी कठोरता के कारण बालकों के साथ हमारा कोमल व्यवहार असत्य नहीं बन जाता। फिर कवि के व्यक्तित्व की दशाएँ जनसाधारण से व्यापक ही होती हैं, उसकी गहराइयों को हम ऊँचाइयों के विपरीत क्यों मान लें, क्षणों और बिन्दुओं पर केन्द्रित उसकी कलात्मक तीव्रता को इतना हल्का क्यों समझ लें कि व्यावहारिक जीवन के तरल विस्तार में बहकर वह गुम हो जाएगी।

रह गया कलाकार के अहंकार के प्रति हमारा सन्देह, तो यह और भी बड़ा भ्रम है। कलाकार में कलाकार की हैसियत से अहंकार न हो तो वह कला की रचना कर ही नहीं सकता। यदि मैं अपनी ही दृष्टि से तुच्छ हूँ और अपनी कला का मेरे ही लिए कोई महत्त्व न हो तो फिर मैं व्यर्थ उसमें क्यों व्यस्त रहूँगा? रचना के लिए प्रेरणा कहाँ से आएगी, परन्तु इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि मैं कला की चेतना के द्वार खोलकर और सब दरवाज़े बन्द कर लूँ और मैं बस अपनी कला के

पुस्तकालय
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवरेस्ट पर हर समय चढ़ा रहूँ जिसमें सारी मानव-जाति चींटियों की तरह रेंगती हुई प्रतीत हो और कभी शायरी के हिमालय से उतरकर सरल जीवन से, जनसाधारण से किसी तरह कोई सम्पर्क स्थापित ही न करूँ। किसी का दोस्त न बनूँ, दुश्मन न बनूँ, किसी से सहानुभूति न रखूँ, किसी से सहयोग न करूँ, किसी के बराबर आकर अपने को नीचा और हल्का न बनाऊँ। गोया हिमालय के शिखर पर अपने काव्य-कुटीर को पूर्णतः काल-कोठरी में बदल कर दम लूँ।

जी नहीं, अहंकार का यह अर्थ बिल्कुल नहीं। अहंकार तो कलाकार का एक शस्त्र होता है और ग़ालिब के हाथों में तो यह बहुत तेज़ धार का और बहुत नुकीला ही नहीं बल्कि बहुत सजीला शस्त्र बन जाता है जिसका प्रयोग वह अपने मित्रों या जनसाधारण बल्कि दुश्मनों के विरुद्ध भी नहीं करता, क्योंकि उसकी कोई ज़रूरत नहीं इसलिए कि उनसे उसका कोई मुकाबला नहीं, अहंकार को कुचलने वाली कोई लड़ाई नहीं।

ग़ालिब के अहंकार की वज्रता का जब बखान किया जाता है तो इस लतीफ़े अथवा घटना का अक्सर वर्णन होता है कि एक घटिया शायर के साथ 'असद' के तख़ल्लुस का साझा करने के डर के मारे उन्होंने अपना तख़ल्लुस ही बदलकर 'ग़ालिब' कर लिया, मगर जो घटना इससे कहीं अर्थपूर्ण है उसे भुला दिया जाता है। और फिर इस दूसरे 'असद' का वह शेर भी तो ज़रा देखिए कि कितनी उच्च कोटि का है जिसे बेचारे ग़ालिब के साथ मढ़ा जा रहा था :

'असद' इस जफ़ा पर बुतों से बफ़ा की
मेरे शेर शाबाश रहमत ख़ुदा की।

उस समय 'मरा आतुन नज़ीर' या 'रियायते लफ़्ज़ी' के अलंकार का इतना ज़ोर था कि नासिख़ की भाँति के सनातनी कवियों के पूरे काव्य का आधार बस इस पर निर्भर था कि पहले जो एक शब्द आया था उसकी रियायत से, अर्थात् उसके अनुकूल या विपरीत, दूसरे शब्द भी पंक्ति या शेर में साथ-साथ आ जायँ तो बस कवि ने कमाल कर दिया, चाहे शेर में और कोई वास्तविक सुन्दरता न हो, चाहे 'दरिया' के साथ उचित-अनुचित किसी प्रकार 'मगर' के शब्द को घसीटकर लाने और उसे शेर में ठूँसने की इस डंड-बैठक में शेर अर्थहीन ही रह जाय, लेकिन उस युग के दूसरे महान् कवि अनीस के समान ग़ालिब को भी अलंकार के इस दुरुपयोग से गहरी घृणा थी। तो जब उन्होंने इस शेर को, जिसमें 'रियाय[ते] लफ़्ज़ी' की भरमार है—ग़ालिब ने एक पत्र में इस ओ[र] इशारा भी किया है और लिखा है कि 'असद' के अनुकूल 'शे[र]' और 'बुत' और 'जफ़ा' के विपरीत 'ख़ुदा' और 'वफ़ा' [को] घसीटा गया है—और 'असद' की 'चोट' पर शेर के शब्द [का] प्रयोग हुआ है, क्योंकि अरबी में 'असद' का अर्थ 'सिंह' का [है] तो यह है वह शेर जिसका पुरस्कार ग़ालिब को भेंट किया जा रहा था तो जब उन्होंने इस शेर को, जो न सिर्फ़ 'रियाय[ते] लफ़्ज़ी' पर निर्भर है बल्कि जिसमें 'वो मारा साले को! शाबाश बेटा!' वाला ऐसा बाज़ारी और अश्रेष्ठ स्वर अप[]नाया गया है जिससे उनके हस्सास कान झनझना उठे हों[गे] और उनकी चेतना पर प्रचंड प्रहार हुआ होगा क्योंकि 'शाबाश' का शब्द तो दूर रहा, जिसका शेर में उन्होंने शायद कहीं प्रयोग ही नहीं किया है और ख़तों में भी किया है तो केवल व्यंग्य के रूप में। ग़ालिब तो 'शा' और 'बा' की खड़ी-खड़ी आवाज़ों की दो भारी-भरकम बल्लियों की चोट अपने कानों पर खाना गवारा नहीं कर सकते थे न कि स्वयं ये लट्ठे अपने श्रोताओं की श्रवण शक्ति पर खेंच मारते।

ग़ालिब के यहाँ कान को बुरी लगने वाली बहुत मुश्किल से मिलेगी। सारा कलाम छान मारिए तब भी मजाज़ के इ[न] मिसरों की तुलना-योग्य एक मिसरा नहीं मिलेगा

हर एक झोंका हवा का मौत का पैग़ाम लाता है
घटा की घन गरज से क़ल्बे गेती काँप जाता है

मजाज़ ने पहले मिसरे में 'आ' की आवाज़ को सात बा[र] दुहराकर और दूसरे में 'ग' अथवा 'घ' की तकरार करने ('ग' की गमक की ताल कुछ ऐसी स्थापित होती है कि अंत का 'काँप' भी 'गाँप' ही के समान मुँह से निकलता है) दहश[त] का समाँ खींचने और शब्दों का भयंकर आडम्बर बनाने [में] ख़ैर कमाल कर दिखाया है मगर ग़ालिब को ग़ज़ल में इसके समानान्तर अवसर क्यों पेश आने लगा था। इसलिए वह इ[स] सिलसिले में बहुत ही आगे चले जाते हैं तो बस यहाँ त[क] पहुँचते हैं कि

एक तीर मेरे सीने पे मारा कि हाय हाय

जिसमें चूँकि 'मेरे' और 'सीने' की 'मे' की आवाज़ दब[ती] है इसलिए आलोचकों ने आपत्ति को स्पष्ट करने के लिए [ऐसे] पढ़ा है : **"एक तीर मीर सीन पै मारा कि हाय हाय।"** मगर इस दूसरे रूप तक में जिस आवाज़ की तकरार पर का[न]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौंकता है वह 'ई' की आवाज़ है जिसकी अपेक्षा 'म' और 'र' की तकरार ज़्यादा उभरने नहीं पाती और अन्त में तो दोनों बार 'ह' के खड़ेपन को 'ए' की नरमी से हल्का कर दिया गया है।

गोया एक अर्धबुद्धि ने 'मेरे शेर शाबाश…' वाले शेर का जो आरोप लगाया तो इस शेर की पृष्ठभूमि, वातावरण, आभूषण, अर्थ और आकार गरज़ यह कि इसका सारा संसार ग़ालिब के काव्य की पूरी कल्पना के ऐसा विपरीत था कि उन्हें ऐसा लगा मानो उनकी सारी शायरी पर कालिख थोपी जा रही है और यद्यपि वह स्वयं तो यह कहकर रह गए कि "असद' और 'शेर' और 'बुत' और 'ख़ुदा' और 'जफ़ा' और 'वफ़ा' ये मेरी गुफ़्तार नहीं" लेकिन इस स्थिति में वह जो कुछ कर सकते थे उससे कम और क्या होता कि अपना तख़ल्लुस बदल लिया।

और जब अहंकार की अत्युक्ति के लिए इस घटना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है तो इन्साफ़ का तकाज़ा है कि आत्म-नम्रता की इतनी बड़ी घटना को भी याद रखा जाए जिसका उदाहरण शायद ग़ालिब के सिवा और किसी के यहाँ न मिलेगा और जिसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि यह घटना उस व्यक्ति से सम्बन्धित है जिसे अपने युग के सारे शायरों में ग़ालिब अपना अकेला प्रतिद्वन्द्वी मानते थे और इसलिए जिसके प्रति प्रेम और प्रशंसा की अपेक्षा अप्रसन्नता की भावना ज़्यादा स्वाभाविक थी। [बल्कि उर्दू में तो सम-कालीन और समस्तर कवियों में बाक़ायदा लड़ाई-दंगे होते रहे हैं। आतश तो उस मुशायरे में जहाँ उन्होंने नासिख पर और उनकी रियासत पर चोट करने वाली गज़ल पढ़ी ("ज़ेरे ज़मीं से आता है जो गुल सो ज़र बकफ़। कारूँ ने रास्ते में लुटाया ख़ज़ाना क्या") इसमें बाक़ायदा क़राबीन या बन्दूक भर के लेकर गये थे।] मगर डाह की इस परम्परा के होते हुए भी मशहूर है कि मोमिन के एक शेर—

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।

से ग़ालिब इतने प्रसन्न थे कि इसके बदले अपना पूरा दीवान देने को तैयार थे।

मोमिन के अतिरिक्त ग़ालिब के साथ के दूसरे शायर थे ज़ौक। इनसे सरकारी कवि होने के कारण ग़ालिब की लाग-डाँट रहती थी। एक शहज़ादे का सेहरा कहने के सिलसिले में जब ग़ालिब ने अपनी स्वाभाविक सावधानी की बाग ज़रा ढीली छोड़कर मरते या अंतिम शेर में ज़ौक पर चोट कर दी कि—

हम सुख़न फ़हम हैं ग़ालिब के तरफ़दार नहीं,
देखें इस सेहरे से बढ़कर कोई कह दे सेहरा।

तो यह हल्की-सी फ़बती न तो ज़ौक से सही गई और न उनके शागिर्द बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उनको माफ़ किया और आख़िर ग़ालिब को दरगुज़र के आवेदन के लिए अलग से क़ता लिखना पड़ा जिसमें माज़रत के तौर पर विचारे ने कहा—

उस्तादे शह से हो मुझे पर ख़ास का ख़याल,
यह ताब यह मजाल यह ताकत नहीं मुझे।

मगर ज़ौक की पदवी का ग़ालिब पर कोई रोब नहीं था। होता भी कैसे, वह तो बादशाह तक को जिसकी दी हुई पदवी का ज़ौक को गौरव हो सकता था, भली-भाँति समझते थे कि यह कैसा बेजान बुड्ढा है। अलबत्ता शायरी के आधार पर उनकी कद्र कर सकते थे, तो यहाँ ज़ौक के पास बहुमूल्य मोती कम ही थे। इसीलिए ग़ालिब ज़ौक को अपने बराबर का नहीं समझते थे। फिर भी हमारे ख़याल में इसका कारण ग़ालिब का बढ़ा हुआ अहंकार नहीं बल्कि काव्य के वास्तविक मूल्य के प्रति उनकी वही रूढ़ चेतना है जो पराए को क्या अपने-आपको भी नहीं बख़्शती थी, जैसा कि अभी हम देख चुके हैं। मगर ज़ौक की शायरी को महत्त्व न देने के बावजूद, जिसमें भविष्य ने ग़ालिब की राय की पूर्णतः पुष्टि कर दी है, ग़ालिब के व्यवहार ने कम-से-कम एक मौक़े पर तो यह भली-भाँति दिखा दिया कि ज़ौक के प्रति उनका रवैया मूलतः उनके समालोचनात्मक मूल्यांकन के कारण है, बढ़े हुए अहंकार के राक्षसी बल से पराजित होकर नहीं। ज़ौक का एक अच्छा शेर उन्हें सुनने को मिल गया—

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

तो उसकी तारीफ़ की और बहुत तारीफ़ की।

लेकिन बस तारीफ़ की, इसके बदले में अपना दीवान देने को तैयार नहीं हुए, यद्यपि इसकी भाषा इतनी सरल है कि इसका गद्य रूप कोशिश के बावजूद इससे सरल या भिन्न नहीं हो सकता।

स्वर में भी वह सहज स्वभाव है कि यह पता ही नहीं चलता कि कोई विशेष या महत्त्वपूर्ण बात कही जा रही है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि यह भ्रम होता है जसे रोज़मर्रा की वार्ता में कोई ऐसे ही बात-बात में एक बात कह गया है। भाषा और स्वर की यह सरलता और बेतकल्लुफ़ वार्ता की शैली खुद ग़ालिब को नसीब नहीं। उनके शेर तो क्या मिसरे भी ऐसे कम मिलेंगे जो इस शेर की तरह तवक्क़ुफ़ात से पाक हों, अड़चनों न सही तो रुकावटों से, बीच-बीच में ठहराव, 'कामा' और 'सेमिकोलन', 'लफ़्फ़ोनस्र' के खंडन और कुछ नहीं तो साँस रोकने और बदलने के विभाजन से मुक्त हों। ग़ालिब की शायरी कल्पना और उससे बढ़कर विचार और उससे भी कहीं ज़्यादा भावना के जिस तनावपूर्ण स्तर पर होती है उसमें ज़ौक के इस शेर की ऐसी रवानी, ऐसा तरल बहाव सम्भव ही नहीं है। वहाँ अधिकतम सरलता जो आ सकती है वह इतनी कि "आगे आती थी हाले दिल पै हँसी। अब किसी बात पर नहीं आती।" जिसे ज़ौक के शेर की-सी रवा रवी में पढ़ जाएँ तो आप उसके सौन्दर्य से प्रसन्न तो क्या होंगे शायद उसके असली अर्थ तक भी नहीं पहुँच सकें, शब्दों के नीचे बहुत तह में दबा हुआ व्यथा का वास्तविक अर्थ, क्योंकि जिस तरह ज़ौक का शेर वार्ता का शेर है ग़ालिब का शेर आत्मवार्ता का शेर है। इसको रुक-रुक के तो नहीं अगर धीरे-धीरे अधखुले होंठों से चिंताजनक अन्दाज़ में पढ़ना होगा, जैसे कोई आँसू और हँसी और विस्मय के बीच की स्थिति में कुछ कह रहा है, दूसरों से इतना नहीं जितना अपने-आपसे, बताने से ज़्यादा शायद पूछने के खयाल से।

ग़ालिब ने छोटा-सा शेर कहा है जिसके शब्द संख्या में करीब-करीब ज़ौक के एक मिसरे ही के बराबर होंगे और हल्केपन में भी ज़ौक के शेर में आगे नहीं तो उसके बराबर ज़रूर हैं। परंतु इन हल्के-फुल्के शब्दों के बीच की खाली जगहों में भावना का भारी-भरकम मन-मन भर का ऐसा शब्दहीन अर्थ छिपा हुआ है कि ग़ालिब का यह छोटा-सा शेर आप खुद ही इतने विलम्ब से पढ़ेंगे कि इसमें ज़ौक के शेर का शायद दुगुना समय लग जाय।

यही नहीं बल्कि पहले मिसरे के अंत के बाद और दूसरे के आरम्भ से पहले भी एक अच्छा-खासा अंतर देना होगा, कुछ तो यह संकेत देने के लिए कि दोनों मिसरे जिन अलग-अलग स्थितियों को व्यक्त करते हैं उनमें समय या शायद भावना का एक पूरा युग बीत चुका है, कुछ श्रोता (या स्वयं अपने-आपको भी) सूचित करने के लिए कि नई स्थिति कितनी भिन्न है, उसकी भावना के अनुसार सोच में डूबा हु[आ] जो स्वर चाहिए कंठस्तर को उस गहराई तक उतारने के लि[ए] (चाहे आप शेर मन-ही-मन पढ़ रहे हों, क्योंकि आवाज़ के साथ पाठ के समानान्तर मन-ही-मन पढ़ने में भी स्वर का वही उतार-चढ़ाव बाक़ी रहता है)।

तो इन दोनों शेरों में ज़ौक और ग़ालिब की शायरी अपने शबाब पर है, यौवन पर है, और दोनों का वास्तवि[क] अन्तर इनसे भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। मगर ग़ालि[ब] का शेर बहुत भारी होते हुए भी और उनकी आम शायरी की अपेक्षा रवानी में अधिकतम होते हुए भी पाठ में वह तरल प्रवाह नहीं रखता जो ज़ौक के शेर में है।

और फिर इसका विषय भी कोई हल्का और मामू[ली] नहीं। विषय में ग़ालिब के एक और शेर या कम-से-क[म] उसके प्रथम मिसरे "मुनहसिर मरने पर हो जिसकी उम्मीद" से बहुत करीब है। फिर भी ग़ालिब ने इसको मोमिन के शे[र] का स्थान नहीं दिया। क्यों? केवल इसलिए कि ज़ौक के यहाँ मोमिन वाले शेर की वह प्रेम की चाशनी नहीं है जो ग़ालि[ब] ने दूर से सही और बहुत हल्की-सी सही, मगर अपने शेर में भी किसी-न-किसी तरह पैदा कर दी है: "मुनहसिर करने प[र] हो जिसकी उम्मीद नाउम्मीदी उसकी देखा चाहिए?" हमा[रे] विचार में यह कारण बिल्कुल नहीं है, क्योंकि ज़ौक के शेर में भी यह चाशनी उतनी ही है जितनी खुद ग़ालिब के शेर में। यदि ग़ालिब के यहाँ 'नाउम्मीदी' प्रेम के विफल होने के कारण है तो ज़ौक के 'घबराने' के रहस्य की खोज भी प्रेम ही में लगाई जा सकती है।

ज़ौक के शेर की सुन्दरता को स्वीकार करते हुए भी उसे कोई विशेष महत्त्व न देने का अर्थ साफ़ है। मानो ग़ालि[ब] कह रहे हैं कि ज़ौक का शेर केवल एक शेर है, इससे ज़्याद[ा] कुछ नहीं और मोमिन का शेर केवल शेर नहीं बल्कि पूरे दीवान पर भारी है। ज़ौक का शेर उनकी आम शायरी का प्रतिनिधित्व नहीं करता, उनके कलम से बस निकल गया है, एक इत्तिफ़ाक है, सुघटना सही मगर है तो फिर एक घटना। इसकी अपेक्षा मोमिन का शेर उनके आम रंग से बहुत दूर व भिन्न नहीं बल्कि उसी धरातल का है, वह एक शेर उनके एक मूल्यवान दीवान का प्रतिनिधि है इसलिए अतिशयोक्ति के ह[प] में जब मैं यह कहता हूँ कि अपने दीवान के बदले यह शेर लेने के लिए तैयार हूँ तो इसका अर्थ यह है कि इसे मोमिन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठतम काव्य का प्रतीक स्वीकार करता हूँ, इसको लेकर शायरी का एक ऐसा बहुमुखी कण ग्रहण करूँगा जिसका हर मुख मोमिन की शायरी की सुन्दरता से उज्ज्वल हो।

ज़ौक पर मोमिन को प्राथमिकता देने के पीछे भी ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क ही काम कर रहा है, क्योंकि जहाँ ज़ौक की सुन्दरता निखरती है वह क्षेत्र इस संसार का अंश नहीं मालूम होता :

ऐ शमा तेरी उम्रे तबीई है एक रात
हँसकर गुज़ार या इसे रोकर गुज़ार दे।

मगर मोमिन की शायरी विशेषकर उनके प्रेम में तो ग़ालिब से भी अधिक यथार्थ है, ऐहिकता है अर्थात् आधुनिकता है।

कभी हममें तुममें भी चाह थी, कभी हममें तुममें भी राह थी
कभी हम भी तुम भी थे आश्ना, तुम्हें याद हो कि न याद हो

ग़ालिब के दिल का इस आधुनिकता की ओर खिंचना बिल्कुल स्वाभाविक था। और फिर प्रेम के अतिरिक्त भी मोमिन की शायरी मोटे तौर पर ग़ालिब की शायरी के बहुत समीप थी, बल्कि अपने विकास में भी करीब-करीब उन्हीं चरणों से गुज़री थी जिन्होंने ग़ालिब की कला को एक सदाबहार आधुनिकता के साँचे में ढाल दिया।

तो पता चला कि ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क, उनकी अविलम्ब निर्वाचन करने वाली प्रौढ़ आलोचनात्मक चेतना केवल 'इन्सान-शनासी' तक सीमित नहीं थी जिस पर उन्हें गर्व था बल्कि उससे बहुत व्यापक थी और दोस्त-दुश्मन, अच्छे-बुरे ही में नहीं बल्कि कला और अकला, सुन्दर और असुन्दर में भी स्पष्ट विश्लेषण करती थी। मगर अन्त में उसकी विशेष शक्ति वही थी : मानव की पहचान, जिसका ग़ालिब ने दावा किया है, यद्यपि शायद इस शक्ति की कार्यान्विति, गहराई उससे भी अधिक थी जितने कि ग़ालिब स्वयं उसके प्रति सचेत हो सकते थे और आदमी के क़द को पूरी तरह नाप लेती थी कि वह कितना बड़ा या छोटा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब और सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति

कुँवर मोहम्मद अशरफ़

एक सामान्य इतिहासज्ञ मिर्ज़ा ग़ालिब के व्यक्तित्व से, ब-हैसियत एक श्रेष्ठ कवि, परिचित होगा; लेकिन एक इतिहासकार के रूप में, जिसे बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने मुग़लकालीन शासन का इतिहास लिखने पर नियुक्त किया था, शायद वह परिचित न हो। इसी प्रकार यह वास्तविकता भी संभवतः उस पर प्रकट न हो कि इस क़ौमी शायर ने विद्रोहियों के सत्तारूढ़ होने पर, न केवल यह कि दिल्ली में रहना पसन्द किया, बल्कि इस यादगार ज़माने की दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ भी क़लम बन्द कीं। इस रोज़नामचे का आरम्भ ११ मई, १८५८ को मेरठ के सवारों की आमद से शुरू होता है और २० सितम्बर को समाप्त होता है, जब ब्रिटिश फ़ौजें दिल्ली की विद्रोही शक्तियों के संघर्ष पर क़ाबू पाने में सफल हो गयीं। कुछ पहलुओं से यह रोज़नामचा लखनऊ की पराजय (जुलाई, १८५८ ई०) तक की घटनाओं को लिये हुए है।

यह बात बहुत स्पष्ट नहीं है कि आख़िर किन प्रेरक शक्तियों के कारण लेखक को इस रोज़नामचे के लिखने का खयाल पैदा हुआ। ताहम इतना स्पष्ट है कि रोज़नामचा उस समय सामने आया जब अंग्रेज़ों को दिल्ली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। इसलिए हमारा यह सोचना ग़लत न होगा कि उस ज़माने की स्थितिजन्य अपेक्षाओं से अनुकूलता पैदा करने के लिए अस्ल पुस्तक पर नज़रेसानी की गयी होगी। प्रस्तुत रूप में ग़ालिब के इस रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज है वह सब अत्यन्त संक्षेप रूप में है; और इसमें बाज़ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का कोई ज़िक्र नहीं जिनकी जानकारी सबको थी। उस दौर की महत्त्वपूर्ण और परिणामकारी घटनाओं के बारे में इस रोज़नामचे का रवैया विशेष रूप से अनपेक्षित है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को रोज़नामचा दुबारा लिखने की फ़ुर्सत और इत्मीनान मोयस्सर नहीं था। इसलिए उसने अस्ल रोज़नामचे में दर्ज किये गए तथ्यों मे कमी या काट-छाँट करने, और उसमें कुछेक बाद में आये विचारों को जोड़ने पर ही सन्तोष किया। स्पष्ट है कि अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए वह ऐसा करने पर मजबूर हुआ।

इस बीती का आरम्भ एक जोश और सरखुशी की मनः स्थिति से होता है। हर तरफ़ अवाम बग़ावत पर तुले हुए हैं और बाग़ी फ़ौजें अंग्रेज़ी फ़ौजों से लड़ने और पीछा करने के लिए एक-पर-एक दाख़िल हो रही हैं। लेकिन जैसे ही मुक़ाबला शुरू होता है—जो चार महीने और दस दिन तक जारी रहा—लेखक पर्दापोशी या भेद गुप्त रखने की ओर झुकता नज़र आता है। और कुछेक पंक्तियों के सामान्य-से विवरण के बाद हमें अचानक मालूम होता है कि कश्मीरी दरवाज़े पर ब्रिटिश फ़ौजों के भारी आक्रमण के परिणामस्वरूप हिन्दुस्तानी फ़ौजों को हारकर पीछे हटने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया है। इसके बाद वह असली विषय से कतराकर आगे बढ़ता है, और मुल्क में विद्रोहियों के संघर्ष की ओर कुछ असम्बद्ध लेकिन फिर भी कई दृष्टियों से अर्थपूर्ण इशारों के बाद वह अपने घरेलू मामलों की ओर ध्यान देता है, और उन सेवाओं का उल्लेख करता है जो उसके वंशजों ने आरम्भ में अंग्रेज़ों को अर्पित कीं।

लेखक ने बग़ावत की तफ़सील देने में जो संकोच दिखाया है और विदेशी विजेताओं से जैसी सोची-समझी वफ़ादारी व्यक्त की है—अगर हम उस ज़माने के बेझिझक और बर्बर क़त्ले-आम को ध्यान में रखें तो इसकी यथार्थता का अन्दाज़ा करने में कठिनाई न होगी। इस बग़ावत से उसके सम्बन्ध या सहानुभूति का ज़रा-सा भी शुबह उसे फाँसी पर लटका सकता था। इसके अलावा ग़ालिब की जीविका का आधार-मात्र एक पेन्शन थी। और पूर्व इसके कि हाकिमों को उसे दुबारा जारी करने के लिए राज़ी किया जाय, उसके लिए अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार— और अपनी निर्दोषता—को प्रमाणित करना आवश्यक था। यह बात एक ऐसे व्यक्ति के लिए और भी ज़रूरी थी जिसका सम्बन्ध अमीर-उमरा से रहा हो और जो दिल्ली मुग़ल शाहंशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' का उस्ताद, दरबारी और दोस्त रह चुका हो। केवल इतना ही नहीं बल्कि जिसने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन-काल की बरकतों का स्वागत करने के बावजूद अंग्रेज़ों की क्रूर और निर्मम कूटनीति विशेषकर अवध की सत्तापहरण पर मानसिक विरोध और असन्तोष की अभिव्यक्ति की हो। कुछ समय पश्चात् जब मार्शल लॉ की कठोरता कम हुई, शान्ति पुनः स्थापित हुई, तो ग़ालिब ने अंग्रेज़ों की क्रूरता और दमन-नीति का ज़िक्र अधिक स्पष्टता से खुलकर किया। उसने नये जागीरदार वर्ग की ख़ुशहाली में शरीक होने से इन्कार किया कि नये शासक राजनैतिक सत्ता में उनको हिस्सा देंगे। उसने खुले तौर पर अपने बाग़ी दोस्तों के कष्ट और यातनाओं से विशेषता, और पराजित उमरा से सामान्यतया, सहानुभूति प्रकट की।

वस्तुस्थिति जैसी भी हो, यह तो वास्तविकता है कि सितम्बर सन् १८५७ में जब परिस्थिति प्रतिकूल हुई तो उसने भी अपने बहुत-से दूसरे मित्रों के समान व्यक्तिगत सुरक्षा को दूसरी तमाम चीज़ों पर तरजीह दी। इसलिए सम्बन्धित हाकिमों के समक्ष शायर ने जिस तर्क-पद्धति का सहारा लिया और जैसी होशियारी से अपनी जान बचायी उसके लिए हम उसे दोषी करार नहीं दे सकते। उसने प्रमाणित किया कि उसका वंश आरम्भ से ही ब्रिटेन के प्रति वफ़ादार रहा है और उसी उपलक्ष में उसे आजीवन पेन्शन दी गई थी। उसने बग़ावत के दौरान में अपने-आपको शाही तरफ़दारों और बाग़ियों से बिलकुल अलग रखा; और अपने-आप मकान में बन्द रहकर एकान्तवास किया। शहर में ब्रिटिश फ़ौजों के दाख़िल होने के बाद जब बहुत-से ऊँचे प्रतिष्ठित और पेन्शनयाफ़्ता लोगों ने पलायन का रास्ता अपनाया तो उसने शहर ही में रह जाना पसन्द किया। उसने अपनी निर्दोषता ('अपराधों' के घटनास्थलों से दूर रहने) के प्रमाण में हिन्दुस्तान और इंगलैंड के शीर्ष पदाधिकारियों को अपना फ़ारसी रोज़नामचा पेश किया। ऐसा उसने क्योंकर किया—इसका जानना कठिन नहीं। मुग़ल शासन-काल के साहित्य-मनीषियों को जैसी आलंकारिक और श्लेषात्मक शैली प्रिय थी उसमें वह निष्णात था। उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति होने के बावजूद अपनी भावनाओं को होशियारी के साथ उस अभिव्यक्ति की तहों में छुपा सकता था। अपनी वाक्यशैली और अर्थसन्दर्भों में दोहरे अर्थ का पुट भरने के लिए उसने अपने विशिष्ट विशुद्ध-फ़ारसी के दृष्टिकोण का सहारा लिया। सारांश यह कि उसने इस सिलसिले में हर प्रकार की सम्भव सतर्कता से काम लिया, और इस बात की कोशिश की कि उसके रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज हुआ था वह उसके विरुद्ध या उसके उन साथी बन्धुओं के विरुद्ध इस्तेमाल न हो सके जिन्होंने बग़ावत में खुलकर हिस्सा लिया था।

इन सारी बातों के बावजूद 'दस्तम्बू' दिल्ली की बग़ावत से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं के लिए एक प्रामाणिक और मूल्यवान संदर्भ-ग्रन्थ की हैसियत रखता है। मुझे इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं कि वास्तविकता को यथार्थपरक दृष्टि से देखने का भाव और मानवता से गहरा प्यार (जो लेखक के व्यक्तित्व का विशिष्ट गुण हैं) उसकी दूसरी रचनाओं की तरह इस पुस्तक में भी उभरकर आते हैं। कतिपय ज्ञात कारणों के आधार पर निःसन्देह घटनाओं का वर्णन दोहरे अर्थ लिये हुए और 'निर्वैयक्तिक' है; लेकिन ग़ालिब का कतिपय नाटकीय संदर्भयुक्त घटनाओं और कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों की सरगर्मियों को बिलकुल छोड़ देना स्पष्ट ही उस राष्ट्रीय प्रतिरोध के महान् आन्दोलन की लोकप्रियता और कई ऐसी नयी सामाजिक शक्तियों की झलक दिखाता है जो इस आन्दोलन से सम्बद्ध थीं। फ़ारसी रोज़नामचे की इस प्रति को लिपिबद्ध करने में लेखक की मजबूरियाँ कुछ भी रही हों यह बात निश्चित है कि सन् १८५७ ई० की घटनाओं के हर संवेदनशील विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

अब हम पाठकों के समक्ष 'दस्तम्बू' के कुछ उद्धरण' प्रस्तुत करते हैं और उनके यथार्थ मूल्यांकन के बारे में राय क़ायम करने का काम ऊपर छोड़ते हैं।

१. जनसाधारण विद्रोह के लिए तैयार हैं :

शायर यह वस्तुस्थिति देखकर कुछ उलझन और परेशानी में मुब्तिला नज़र आता है :

"नौकरपेशा हाक़िमों से विद्रोह करें, सिपाही अफ़सरों को कत्ल करें, और खुशियाँ मनायें और किंचित् भी पश्चात्ताप का अनुभव न करें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. ब्रिटेन से सहानुभूति रखने वालों की मजबूरी :

"इस वजह से कि तेज़ बहने वाले पानी को तिनकों से नहीं रोका जा सकता। अपने-आपको मजबूर समझकर हर शख़्स उदास और शोकग्रस्त अपने घर में बैठ रहा।"

३. मेरठ के सवारों का स्वागत :

"मेरठ की फ़ौज के कुछ बदनसीब और सिरफिरे सिपाही शहर में आये। निहायत ज़ालिम, फ़सादिये और नमकहरामी की वजह से अंग्रेज़ों के ख़ून के प्यासे। शहर के विभिन्न दरवाज़ों के रक्षक जो फ़सादियों के ही धन्धे वाले और भाईबन्द थे, बल्कि कुछ आश्चर्य नहीं कि पहले ही से इन संरक्षकों और फ़सादियों में साजिश हो गई हो। शहर की रक्षा की ज़िम्मेदारी और नमकहलाली—हर चीज़ को भूल गये; इन बिन-बुलाये या आमंत्रित मेहमानों का स्वागत किया। इन मदहोश सवारों और अक्खड़ प्यादों ने जब देखा कि शहर के दरवाज़े खुले हुए हैं और द्वार-रक्षक ही आमंत्रण देने वाले हैं—दीवानों की तरह इधर-उधर दौड़ पड़े।···"

४. बग़ावत बढ़ती और फलती है :

"···दूर-दूर के शहरों से खबरें आयीं कि विभिन्न सेनाओं के विद्रोहियों ने हर छावनी में अफ़सरों की हत्या कर दी है—और नमकहरामों ने खुल्लमखुल्ला बग़ावत का शोर मचा रखा है। दल-के-दल सिपाही हों या ज़मींदार, सब एकदिल हो गये, और किसी पूर्वनिश्चित प्रोग्राम के बिना ही दूर और नज़दीक हर जगह एक ही काम के लिए कमर बाँध ली। और फिर कैसी मज़बूती से कमरें कसी थीं कि सिर्फ़ उस ख़ून के दरिया की मौजें ही उनको खोल सकती थीं जो कमरों से गुज़र जाए। विभिन्न स्थानों के लोग किसी योजना के बिना ही जिस तरह एक ही काम यानी क़त्ल और ख़ून में लग गये थे उससे ऐसा जान पड़ता था कि जिस तरह झाड़ू की बहुत-सी सींकों को एक ही बन्द से बाँधा जाता है, उसी तरह गिनती-शुमार से बाहर इन लड़ने वालों की कमरें भी एक ही 'कमरबन्द' से बँधी हुई हैं।

निस्सन्देह हिन्दुस्तान को आराम और सुख-सुविधा से इस हद तक खाली करने के लिए अगर इन चीज़ों को ढूंढ़ा जाए तो एक घास के तिनके के बराबर भी निशान न मिले। ऐसी ही झाड़ू की ज़रूरत थी। बहुत-से लश्कर सेनानायकों के बिना ही तैयार हो गए। बहुत-सी फ़ौजें अफ़सरों के बिना ही लड़ाई के लिए उठ खड़ी हुईं।···"

५. ज़मींदार और अमीर-उमरा की बेबसी और बेचारगी :

"बड़े-बड़े प्रकांड विद्वानों और ख्यातनामा व्यक्तियों की आबरू मिट्टी में मिला दी गई। और जिन लोगों के पास न धन था, न कोई प्रतिष्ठा, वह अकूत ज़र-जवाहर और मान-प्रतिष्ठा के मालिक हैं। जिसका बाप गलियों की खाक छानता फिरता था वह हवा को अपनी सेवा में प्रस्तुत समझ रहा है।···बड़े-बड़े बहादुरों का यह हाल हो जाए कि वे अपने साये से डरें; सिपाही बादशाह और फ़कीर हरेक पर हुकूमत करने लगें।···"

६. जनसाधारण के सिपाही (विद्रोही) दिल्ली में इकट्ठा होते हैं :

ग़ालिब लिखते हैं कि जैसे ही इन लोगों ने दिल्ली में प्रवेश किया उनके विभिन्न दस्तों (टुकड़ियों) ने सबसे पहले वह सोना और चाँदी शाही खजाने में जमा कर दिया जो उनके पास था। उसके बाद वह बादशाह की सलामी के लिए लाल-किले में गये, और फिर एक विजेता के रौब के साथ शहर में घूमने निकले।

"हर तरफ़ से फ़ौजें जमा होना शुरू हो गयीं और इसी धरती (दिल्ली) की ओर रवाना हो गयीं।···बस, यह इस ज़माने की एक अजीब स्थिति है।

"अब दिल्ली के अन्दर और बाहर लगभग पचास हज़ार सवारों और पैदल की फ़ौज पड़ी हुई है।···"

७. हिन्दुस्तानी रियासतों के शासकों पर जनता के इस आन्दोलन का प्रभाव :

फ़र्रुखाबाद के प्रसिद्ध सेनानी तफ़ज्जुल हुसैन खाँ ने, जिनका बादशाह के साथ कभी कोई सेवा-सम्बन्ध नहीं रहा था, दूर ही से बादशाह की ड्योढ़ी को माथा नवाया और पत्र में अपने-आपको उनका पुराना सेवक घोषित किया।

"खानबहादुर खाँ, गुमराह, जो प्रसिद्धि चाहता था, और जो बरेली में कुछ लश्कर एकत्र करके सरदार बन बैठा था, एक-सौ-एक अशरफ़ियाँ, चाँदी के साज़-सामान से सजा हुआ हाथी और घोड़ा बादशाह की खिदमत में भेजा।···

"रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली खाँ बहादुर ने, जो इस इलाक़े में बाप-दादा के उत्तराधिकारी होने का दायित्व निभा रहे हैं और अंग्रेज़ी हुकूमत के साथ इनकी मैत्री का सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि ज़माना हज़ार बरस में भी किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरीक़े से इसको नहीं तोड़ सकता—विवश होकर केवल ज़बानी सन्देश भेजकर लोगों की ज़बान को बन्द किया।

"लखनऊ में···शरफ़ुद्दौला ने, जो बड़े अनुभवी और मामलात को समझने वाले थे···वाजिदअली शाह के दस वर्ष के लड़के को गद्दी पर बिठाल दिया, और उसको हिन्दुस्तान के शाहंशाह का वज़ीर और अपने-आपको पेशकार और नायब-वज़ीर (उपमंत्री) मान लिया।···

"शाहंशाह की क़िस्मत का सितारा इतना ऊँचा उठ गया कि दुनिया वालों की दृष्टि से ओझल हो गया।"

८. ब्रिटिश सैनिकों से मुक़ाबला :

"रात-दिन दोनों तरफ़ से गोलाबारी होती है जैसे ऊपर से पत्थर बरस रहे हों। मई-जून की गर्मियाँ हैं। धूप की तेज़ी रोज़-रोज़ बढ़ती जा रही है।···विभिन्न स्थानों से आये हुए सिपाही दिन चढ़े शेरदिल अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए जाते हैं और सूरज डूबने से पहले ही वापस आ जाते हैं।···"

९. हकीम अहसनल्ला ख़ाँ की हवेली में आग लगा दी गयी :

हकीम अहसनल्ला ख़ाँ अंग्रेज़ों के ख़ैरख़्वाह और तरफ़दार हैं···उनका घर, जो अपनी सुन्दरता और सजावट में चीन के किसी ललितकला मन्दिर के समान था, लूट लिया गया। छत को आग लगा दी गयी।"

१०. ब्रिटिश सिपाहियों का आक्रमण और बाग़ियों के पैर उखड़ जाना :

"सितम्बर की चौदह तारीख़ को पहाड़ी के दामन में बैठे हुए अंग्रेज़ों ने धूम-धड़क्के के साथ कश्मीरी दरवाज़े पर ऐसा हमला किया कि कालों की फ़ौज को भागते ही बना।···"

११. आख़िरी वक़्त तक जनता का आत्मरक्षात्मक संघर्ष :

ब्रिटिश सिपाहियों ने जब बाग़ी सिपाहियों से शहर छीन लिया तो जनता ने भी बाग़ियों का साथ दिया और गली-कूचों में आमने-सामने लड़ने और मुक़ाबिला करने लगे।

"दुष्ट और आवारा लोगों का यह गिरोह शेरदिल विजेताओं से उलझ पड़ा।···दो-तीन दिन तक कश्मीरी दरवाज़े से लेकर चौक तक तमाम रास्ते मैदाने-जंग बने रहे, दिल्ली दरवाज़ा, तुर्कमान दरवाज़ा, अजमेरी दरवाज़ा—ये तीनों दरवाज़े इस फ़ौज के अधिकार में रह गये।"

और जब दिल्ली पर ब्रिटिश सिपाहियों का अधिकार हो गया तो उसके परिणामस्वरूप—"अनगिनती मर्द-औरतों के गिरोह, जिनमें मामूली लोग भी थे और हैसियत वाले भी, इन तीनों दरवाज़ों से बाहर निकल गये।···"

१२. जनता की नैतिक दृढ़ता और साहसिकता :

ग़ालिब अपने मोहल्ले के निवासियों का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"अगर्चे गली का दरवाज़ा बन्द कर लिया गया था लेकिन अभी इतना हौसला बाक़ी था कि दरवाज़ा खोलकर बाहर चले जाते थे और खाने-पीने का सामान ले आते थे।"

१३. दिल्ली के आसपास और क़स्बों में आत्मरक्षात्मक संघर्ष :

७ अक्तूबर सन् १८५७ को अन्तिम और निर्णायक रूप से दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया, उस समय भी आस-पास के देहातों में जनता का निवारक और आत्मरक्षात्मक संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। ग़ालिब लिखता है :

"अभी बाग़ियों के बहुत-से गिरोह बरेली, फ़र्रुख़ाबाद और लखनऊ में जगह-जगह आग भड़काने और व्यर्थ ही मुक़ाबिला करने में जुटे हुए हैं। और उनके दिल, कि ख़ुदा करे ख़ून हो जाएँ, और उनके हाथ कि ख़ुदा करे बेकार हो जाएँ, इसी काम (लड़ाई) के लिए खुले हुए हैं।

"इधर सोहना और नूह के इलाक़े में मेवातियों ने बेतरह उपद्रव फैला रखा है, जैसे दीवाने ज़ंजीरों से मुक्त हो गये हों। तुलाराम नामक एक व्यक्ति···कुछ दिन रेवाड़ी में ऊधम मचाए रहा फिर शैतान ने ऐसी मति फेरी कि मेवातियों से मिल गया। यह गिरोह मैदानों और पहाड़ों में (अंग्रेज़) हाकिमों से लड़ रहा है। मालूम होता है कि हिन्दुस्तान की धरती पर हर तरफ़ तेज़ आँधियों और बढ़ती हुई आग का दौर-दौरा है।"

१४. एक घरेलू दृश्य : बारिश का पानी जमा करना :

१५ सितम्बर के बाद गल्ले की सब दुकानें बन्द कर दी गईं। मेहतर, धोबी, नाई और फेरीवाले शहर छोड़कर चले गए, जिसके फलस्वरूप दो दिन और दो रातों तक खाने और पीने को कुछ मयस्सर न हो सका। स्वाभाविक ही था, ग़ालिब की ज़िंदादिली के सोते सूखने लगे कि :

"एक दिन अचानक बादल आ गया, पानी बरसा, हमने (आँगन में) एक चादर बाँध ली और एक मटका उसके नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रख दिया, और (इस तरह) पानी हासिल किया, कहा जाता है कि बादल समुद्र से पानी लेता है और ज़मीन पर बरसाता है (लेकिन) इस बार यह अलोप-सा बादल पानी कहीं अमृत कुण्ड से लाया, मानो सिकन्दर ने जो चीज़ अपनी बादशाहत के दौर में ढूंढी थी, मुझ परेशाँ हाल ने वह निधि (अमृत) (इस) तबाही और बर्बादी के आलम में पाई।"

१५. लूटमार, हत्याकांड आदि :

दिल्ली शहर पर ब्रिटिश सैनिकों का अधिकार हो जाने के बाद परिस्थिति ने जो नया मोड़ लिया उसे ग़ालिब ने हाकिमों का 'क्रोधाग्नि' (शोलए गज़ब) नाम दिया है।

"विजेताओं ने रास्ते में जिसको भी पाया, क़त्ल कर दिया। शहर के आली ख़ानदान और मान-मर्यादा वाले व्यक्ति अपनी इज्ज़त-आबरू की दौलत को बचाने के लिए घरों के दरवाज़े बन्द करके बैठे रहे।"

ग़ालिब ने अचानक देखा कि—

"चौक के आगे क़त्ल और ख़ून का बाज़ार गर्म है और रास्ता खतरनाक है।··· (हम लोग) बिल्कुल क़ैदियों की तरह ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। न तो कोई आता है कि कोई बात सुनने को मिले, न ख़ुद बाहर जा सकते हैं कि अपनी आँखों से सारी घटनाओं को देखें।"

शहर में लूटमार का ज़िक्र करते हुए लेखक का बयान है—

"मैं जानता हूँ कि इस हमले में हुकुम यह है कि जो अधीनता स्वीकार कर ले उसे क़त्ल न किया जाए, माल छीन लिया जाय। और जो शख़्स मुकाबला करे, माल के साथ उसकी ज़िन्दगी भी छीन ली जाय। जो लोग मारे गए उनके सम्बन्ध में यही खयाल है कि उन्होंने निश्चय ही अधीनता स्वीकार नहीं की, इसी वजह से उनको क़त्ल कर दिया गया।"

"ज्ञात हो कि दिल्ली की एजेण्टी के अधीन जो जागीरें हैं वे गिनती में सप्ताह के दिनों से कम या ज़्यादा नहीं हैं। झज्झर, बहादुरगढ़, वल्लभगढ़, लोहारू, फ़र्रुख़नगर, दोजाना, पटौदी—इनमें से पाँच जागीरों के हाकिम, जैसा कि मैंने कहा, किले में मौजूद हैं और शेष दो जागीरदार पटौदी और दोजाना में आतंक के तीर का निशाना हैं।"

इस हंगामे के बाद दिल्ली की स्थिति एक बड़े क़ैदखाने की तरह हो गई थी। 'दस्तम्बू' के लेखक के शब्दों में—

"इस शहर में क़ैदखाना शहर से बाहर है और हवालात शहर के अन्दर। इन दोनों में अनगिनती लोगों को भर दिया गया है। (इन सीमित स्थानों में संख्या की भरमार को देख-कर) ऐसा मालूम होता है कि आदमी में आदमी समाया जा रहा है। इन दोनों क़ैदखानों के जिन क़ैदियों को अलग-अलग दिनों में फाँसी दे दी गई है उनकी संख्या तो मौत का फ़रिश्ता ही जानता है। शहर में एक हज़ार से ज़्यादा मुसलमान नहीं पाओगे।···इस वीराने के वासी गिरोह में या तो वे लोग हैं जो शहर में रहने की इच्छा अभी लिये हुए हैं या बन्दी लोगों के सम्बन्धी हैं, या ख़ैरात पाने वाले यानी पेंशनदार हैं।"

१६. ग़ालिब की पीड़ा, निराशा और भविष्य-चिन्ता :

स्वाभाविक ही था कि इस 'शहरे ख़मोशाँ' (श्मशानवत नगर) को देखकर ग़ालिब का दिल बुरी तरह टूट गया था। वह शहर, जिसमें हज़ारों व्यक्ति उनको जानते-पहचानते थे और हर घर में, हर बस्ती में उनके साथी-संगी और दोस्त थे, उनके लिए यह सोचना भी बड़ी टीस पहुँचाता था।

"शहर मुसलमानों से खाली हो गया है। लोगों के घरों में रात को चिराग़ नहीं जलता और किसी घर से धुआं निकलता दिखाई नहीं देता।"

बेचारगी, पराजय और अभाव के इस आलम में शायर मुसलमानों को ग़रीबी, भूख और मौत की तरह बढ़ता हुआ देखता है। लेकिन फिर अचानक उसे इस घोर अन्धकारपूर्ण क्षितिज पर धुंधला-सा प्रकाश दिखाई देता है और वह एक सूफ़ी की-सी उम्मीद के साथ लिखता है :

चर गर कि ज़े-ज़ख़्मा ज़ख़्म बर-चंग ज़नद,
पैदास्त कि अज़ बह्र चे आहंग ज़नद।
दरपर्दए-नाख़ुशी ख़ुशी पिनहानस्त :
गाज़र न ज़े-ख़श्म जामा बर-संग ज़नद।

(वादक साज़ के तारों पर मिज़राब से चोट करता है और स्पष्ट है कि इससे उसका उद्देश्य क्या होता है। खुशियां मुसीबतों के पर्दे में छिपी हुई हैं, धोबी गुस्से में आकर कपड़े को पत्थर पर नहीं मारता।) ●

रूपान्तरकार : **शमशेरबहादुर सिंह**

१. उद्धरणों का प्रस्तुत हिन्दी रूप फ़ारसी से डॉ० क़मर रईस, (रीडर, उर्दू विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा किए गए उर्दू अनुवाद पर आधारित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिर्ज़ा ग़ालिब—अन्तर्विरोधों के बीच

नईम अहमद

ग़ालिब एक महान् कवि और गद्यकार के अतिरिक्त उस्ताद भी थे। उन्होंने अपने शिष्यों की रचनाओं पर इस्लाहें की थीं वे आज इनके पत्रों की सूरत में मौजूद हैं। इन्होंने इन पत्रों में शायरी, ज़बान और अपने या किसी अन्य व्यक्ति के काव्य पर विचार प्रकट किये हैं, ये तमाम पांडुलिपियाँ ज्ञान का अमूल्य भण्डार हैं। इनसे कवि ग़ालिब के दृष्टिकोण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस लेख में ये नुकात एकत्रित करके प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

ग़ालिब हिन्दुस्तान के फ़ारसी विद्वानों, कोशकारों और कवियों को प्रामाणिक नहीं मानते थे। एक पत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि हिन्दुस्तानियों में हज़रत अमीर ख़ुसरो के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति की ज़बान को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता—

"अहले हिन्द में सिवाय ख़ुसरो देहलवी के कोई मुसल्लेमुससुबूत नहीं, मियाँ फ़ैज़ी की भी कहीं-कहीं ठीक निकल जाती है, फ़रहंग लिखने वालों का मदार क़यास पर है, जो अपने नज़दीक सही समझा, वह लिख दिया। निज़ामी व सईदी वग़ैरह की लिखी हुई फ़रहंग हो तो हम उसको मानें—हिन्दियों को क्योंकर मुसल्लेमुससुबूत जानें। गाय का बच्चा बज़ोरे सहर आदमी की तरह क़लाम करने लगा, नबी इसराइल उसको ख़ुदा समझे...।"[1]

ग़ालिब ने कई पत्रों में विभिन्न व्यक्तियों को अपने इस दृष्टिकोण से आगाह किया था। इसी राय के इज़हार की वजह से उन्हें 'क़तील' के जानने वाले यानी हिन्दोस्तान के विभिन्न फ़ारसीदानों के ख़िलाफ़ जिहाद भी करना पड़ा। हिन्दुस्तानी फ़ारसी के इन प्रेमियों का यह विचार था कि हमारी फ़ारसी भी ईरानियों की भाषा की भाँति न केवल दुरुस्त है बल्कि मुस्तनद है। ग़ालिब की दलील यह थी कि केवल उन लोगों की भाषा मुस्तनद हो सकती है जिनकी मातृभाषा फ़ारसी हो।[2]

उनका यह विचार था कि कोई व्यक्ति फ़ारसी भाषा में कविता करने की विद्वत्ता के कारण ही भाषाशास्त्री नहीं बन सकता। उसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह 'मोज़ूंतबाअ" है और वास्तव में ऐसे लोगों की 'मोज़ूं तबई' ने ही भाषा को ख़राब और लोगों को भाषा के सम्बन्ध में गुमराह किया था।[3] ये लोग फ़ारसी के शायराना मिज़ाज से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उनका ज्ञान केवल उस सीमा तक महदूद था जो पाठशालाओं में बच्चों को पढ़ाया जाता है। और इनका शब्द-भण्डार केवल इन शब्दों पर आधारित था जो मुतस्सदी नस्र में दर्ज करते हैं।[4]

फ़ारसी के सम्बन्ध में इस विवाद में ग़ालिब की इल्मियत बड़े भरपूर अन्दाज़ से बेनकाब हुई है। वह हिन्दी फ़ारसी गवैयों की ज़बानदानी को टकसाल-बाहर क़रार देते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उनके ख़्याल में विदेशी भाषा से जानकारी बहम पहुंचाना मुमकिन ही नहीं। वे लिखते हैं कि भाषा और साहित्य का ज्ञान बड़ी मेहनत, धैर्य और ज़ेहनी नज़्म चाहता है—

"जब रोदकी व अन्सरी व ख़ाक़ानी व रसीद व तुआत और उनके इम्साल व नज़ाइर का कलाम व इस्तीफ़ा देखा जाए और उनकी तरकीबों से आशनाइ बहम पहुँचे और ज़हन अऊजाज की तरफ़ न ले जाए तब आदमी जानता है कि यह फ़ारसी है।"[5]

इस सम्बन्ध में ग़ालिब का वह पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो उन्होंने 'सुरूर' को इसलिए लिखा था कि वह उसे हज़रत साहिबे आलम मारहरवी को सुनाकर उनकी नाराज़गी दूर कर दें। साहिबे आलम बिगड़े इसी बात पर थे जिस पर और बहुत-से लोग क्रुद्ध हुए थे। ग़ालिब ने इस पत्र (रूक़्क़े) में फ़ारसी शायरी के भाँति-भाँति के रंगों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर संकेत करते हुए विभिन्न उस्तादों के तर्ज़ेखास की तरफ़ तवज्जो दिलाई है और यह कहा है कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी ज़बान व बयान में 'चीज़ दीगर' से मेहरूम रहे जो ईरानी कवियों की रचनाओं में हैं—

"...इस रुक्क़े में एक मीज़ान अर्ज़ करता हूँ, हज़रत साहब इन साहबों के कलाम को यानी हिन्दियों के अशआर को 'क़तील' और 'वाक़िफ़' से लेकर 'बेदिल' और 'नासिर अली' तक इस मीज़ान में तोलें और रोदकी व फिरदौसी से लेकर ख़ाक़ानी व सनाई व अनवरी वग़ैर हम हज़रते सईदी तर्ज़े खास के मूजिद हुए। फ़ुग़ानी और एक शेवार ख़ास... हुआ। ख्याल हाय नाज़ुक और मआनीए बलन्द लाया, इस शेवाह की तकमील की 'ज़हूरी' व 'नज़ीरी' व 'अर्फ़ी' व 'नूई' ने। सुब्हान अल्लाह क़ालिबे सुखन में जान पड़ गई। इस रविश को बाद इसके साहिबाने तबाअ ने सलासत का चर्बा दिया। 'साइब' व 'कलीम' व 'सलीम' व 'क़ुदसी' व 'हकीम' 'शफ़ाई' इस ज़ुमराह में हैं 'रोदकी' व 'असदी' व 'फ़िरदौसी'। ये शेवाह 'सईदी' के वक़्त में तर्क हुआ और सईदी के तर्ज़ ने बसबब सहले हमतनाअ होने के रिवाज न पाया। फ़ुग़ानी का अन्दाज़ फैला और इसमें नये-नये रंग पैदा होते गये तो अब तीन तर्ज़ें ठहरी हैं: (१) 'खाक़ानी': इसके अक़रान। (२) 'ज़हूरी': इसके इम्साल। (३) 'साइब': इसके नज़ायर...।"[६]

यह पत्र ग़ालिब के गहन अध्ययन और कटु आलोचना का प्रमाण है। इससे यह बात साफ़ है कि उनकी फ़ारसीदानी के बलंद बांग दावे खोखले नहीं थे।

ग़ालिब ने इसी पत्र में यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तानी शायर फ़ारसी में 'चीज़े दीगर' नहीं पा सके, परन्तु उर्दू में वह सफल हुए। इस ज़मीन में उन्होंने 'मीर' के दो अशआर और 'क़ायम' व 'मोमिन' का एक-एक शेर बतौरे मिसाल दर्ज किया है और यह लिखा है कि—

"नासिख के हाँ कमतर और आतिश के हाँ बेश्तर ये तेज़ नश्तर हैं।"

ग़ालिब कलाम की इस्लाह इस तरह करते थे कि जिस शेर में तबदीली का कोई मौक़ा न होता उसे उसी तरह रहने देते। अगर किसी जगह कोई लफ़्ज़ बदलना होता तो इस परिवर्तन का कारण भी लिखते। इस पद्धति से शिष्य को यह लाभ होता कि वह इस बात को समझ जाता और फिर आगे ऐसी ग़लती की गुंजाइश न रहती।

अब्दुर्रज़ाक शाकिर की किसी ग़ज़ल के मतले का एक मिसरा यह था—

"सरख़ुश सरशार मस्तमयल्ला"

ग़ालिब ने उन्हें यह लिखा कि फ़ारसी में सरशार प्याले की सिफ़त है और इसके मानी हैं लबरेज़।

इसलिए शराब पीने वाले को लबरेज़ नहीं कहा जा सकता। उर्दू में 'मस्त व सरशार' मुतारादिफ़ अर्थों में बोला जाता है, लेकिन उर्दू का यह चलन फ़ारसी के लिए पसन्द नहीं।

'शाकिर' की इसी ग़ज़ल पर और इसलाहें हैं: 'मी रसद बर बादह अलख़' को ग़ालिब ने 'मी रसद बर शीशा अलख़' कर दिया। 'ज़ लहद चूँ ख़ाक जस्तम अलख़' पर ग़ालिब ने लिखा—'ख़ाक को जस्तन से क्या इलाक़ा ?' 'नक़द जाँ रा महर बस्तम यल्ला' में ताअक़ीद माअनी के एब की तरफ़ इशारा किया, वग़ैरह।

मिर्ज़ा 'तफ़ता'[७] को शब्द 'फ़र' के प्रयोग में कुछ सोच-विचार था ग़ालिब ने उन्हें लिखा कि 'फ़र' और 'फ़राह' शब्द 'जाह' के मुतारादिफ़ हैं, इसलिए 'आलीजाह' और 'सिकन्दर जाह' या 'मुज़फ़्फ़र फ़र' और 'फ़रीदी फ़र' की तरकीबें दुरुस्त हैं।

मिर्ज़ा 'तफ़ता' ने एक शेर में शब्द 'बेपीर' बांधा था, ग़ालिब ने उसे ग़लत क़रार दिया। इसके जवाब में मिर्ज़ा 'तफ़ता' ने फ़ारसी के एक बहुत प्रसिद्ध और माने हुए कवि मिर्ज़ा जलाल 'असीर' के कलाम से सनद पेश की, ग़ालिब इसके उत्तर में उन्हें लिखते हैं कि—

"लफ़्ज़े 'बेपीर' तौरानी बच्चा हाय हिन्दी नसराद का तराशा हुआ है जब मैं अशआरे उर्दू में अपने शागिर्दों को नहीं बाँधने देता तो तुमको शेरे फ़ारसी में क्योंकर इजाज़त दूंगा? मीर्ज़ा जाल 'असीर' अलेह रहमत मुख़्तार हैं और उनका कलाम सनद है, मेरी क्या मजाल है कि उनके बाँधे हुए लफ़्ज़ को ग़लत कहूँ। लेकिन तआज्जुब है कि अमीरज़ादाह ईरान ऐसा लिखे।"

इस कथन से स्पष्ट है कि ग़ालिब भाषा के मामले में अपने मत और अपने निर्णय पर विश्वास करते थे। वह हिन्दुस्तानी विद्वान और पंडित ही नहीं बल्कि खुद ईरानियों की बाज़ उन तरकीबों को भी ग़लत समझते थे जो सुबुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के प्रभाव के कारण इनके कलाम में स्थान पा गई थीं।

ग़ालिब अल्फ़ाज़ व तराकीब के इस्तेमाल में भी बड़े शुद्धता-प्रेमी थे। वह स्वयं आमियाना अल्फ़ाज़ और तरकीबें बाँधने से जहाँ तक संभव था गुरेज़ करते थे और अपने शिष्यों को भी यही सुझाव देते थे। इनके पत्रों में बाज़ जगह ऐसे वाक्य मौजूद हैं जिनसे इनके इस दृष्टिकोण को समझने में बहुत अधिक सहायता मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़्ता' ने इनकी एक इसलाह के ख़िलाफ़ यह जवाज़ प्रस्तुत किया कि आमतौर पर लोग ऐसा नहीं लिखते, इस पर ग़ालिब ने लिखा—

"देखो फिर तुम दंगा करते हो। वही 'बेश' व 'बेशतर' का क़िस्सा निकला, ग़ल्ती में जम्हूर की पैरवी क्या फ़र्ज़ है ?"

इन बयानों से यह परिणाम कदापि नहीं निकालना। चाहिये कि ग़ालिब अपने सिवा सबको ग़लत समझते थे। हाँ वह किसी बात को महज़ इसलिए मानने को आमादह नहीं होते थे कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की सनद मौजूद है। वह वास्तव में 'इन्टेलेक्चुअल' थे और अक़्ल की कसौटी पर पूरी न उतरने वाली चीज़ों को रद्द कर देते थे। परन्तु यदि कभी इनके दावे के ख़िलाफ़ प्रमाण मिल जाता तो अपनी ग़ल्ती को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते।

"'शिस्त बस्तन' जब 'ज़हूरी' के हाँ है तो बान्धे, ये रोज़मर्राह और हम रोज़मर्राह में उनके पैरों हैं।"

—बनाम मिर्ज़ा 'तफ़्ता'

मिर्ज़ा ग़ालिब बाज़ वक़्त इस्लाह के काम से ऊब जाते। मिर्ज़ा 'तफ़्ता' बड़े ज़ूदगो थे। एक बार ग़ालिब सख़्त बीमार हो गये, परन्तु ये अपना कलाम भेजते रहे और जल्दी इस्लाह देने का तक़ाज़ा भी किये गए। ग़ालिब ने उन्हें समझाया कि मैं बहुत बीमार हूँ, बैठ भी नहीं सकता, इफ़ाक़ा होने के बाद ही इस्लाह दे सकता हूँ। परन्तु 'तफ़्ता' के जोशे-शायरी और तलबे इस्लाह की शिद्दत पर इसका कोई असर न हुआ। ग़ालिब ने तंग आकर उन्हें लिखा कि हाँ मैं अच्छा हूँ तुम कलाम भेजो। वह इस व्यंग्य को न समझे और मासूमियत के साथ ताज़ा कलाम भी भेजा और फिर तक़ाज़ा भी कर बैठे। ग़ालिब के सब्र का पैमाना लबरेज़ हो गया। और उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्ण अन्दाज़ में 'तफ़्ता' को यह पत्र लिखा जो उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है!

"···मैंने जो लिखा था कि मैं अच्छा हूँ, उसको आप (सच) समझकर ख़ुदा का शुक्र बजा लाए। वह जो मैंने लिखा था कि शिद्दते मर्ज़ का बयान मुबालग़ए शायराना, उसको भी आपने सच जाना होगा, हालाँकि ये दोनों कल्में अज़राहे तज़आमेज़ थे···जब तुमने किसी तरह बयान वाक़ई को बावर न किया, तो मैंने तुम्हें लिख भेजा कि अच्छा हूँ और ये कलमा तुम्हें मैंने जब लिखा है कि अहद कर लिया है कि जब तक दम में दम है और हात में जुम्बिशे क़लम है जब तक मौक़े इस्लाह ख़्याल में आ सकता है, आज जो तुम्हारा दफ़्तर पहुँचेगा, उसको कल रवाना कर दिया करूँगा मुज-मिलन हाल मेरा ये है कि क़रीब बमर्ग हूँ दोनों हाथों में फोड़े, पाँवों में वरम, न वो अच्छे होते हैं न ये रफ़आ होना है। बैठ नहीं सकता; लेटे-लेटे लिखता हूँ। कल तुम्हारा दो परक़ा आया। आज सुबह को लेटे-लेटे उसको देखकर तुम्हें भिजवाया। ज़न्हार तुम मुझे तन्दुरुस्त समझे जाओ और दफ़्तर के दफ़्तर भेजते रहो, एक दिन से ज़्यादा तवक़ुफ़ न करूँगा। क़रीबे मर्ग हूँ तो बला से!"

ग़ालिब ने मुग़ल बादशाह, विभिन्न नवाबों और अंग्रेज़ अफ़सरों की शान में बहुत से क़सीदे लिखे थे, लेकिन उनके क़सीदे भी बक़ौल ख़ुद उनके दूसरे क़सीदागो कवियों से बिलकुल भिन्न हैं। 'तफ़्ता' ने इनसे अपने एक दीवान की तक़रीज़ लिखवाई मगर इसमें इनके कलाम की जितनी तारीफ़ की गई थी उसे इन्होंने कम समझा और ग़ालिब को शिकायती ख़त लिखा। ग़ालिब ने अपने अज़ीज़ शागिर्द का दिल भी रखा यानी इस तक़रीज़ में कुछ तबदीली कर दी और उन्हें अपना ज़ावियाए निगाह भी समझाने की कोशिश की। इस ख़त में उन्होंने दावा किया है कि इनकी मद्दाअसराई का अन्दाज़ क़तई जुदागाना है। अपने दावे के सुबूत में दलीलें देते हुए लिखते हैं—

"···क्या करूँ? अपना शेवा तर्क नहीं किया जा सकता। वह रविश हिन्दुस्तानी फ़ारसी लिखने वालों की मुझको नहीं आती कि बिल्कुल भाटों की तरह बकना शुरू करें। मेरे क़सीदे देखो तो तशबीब के शेर बहुत पाओगे और मदाह के शेर कमतर। नस्र में भी यही हाल है, नवाब मुस्तुफ़ा ख़ाँ के तज़किरे की तक़रीज़ को मुलाहिज़ा करो कि उनकी मदाह कितनी है मिर्ज़ा रहीम उद्दीन बहादुर 'हया' तख़ल्लुस के दीवान के दीबाचे को देखो, वह जो तक़रीज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दीवाने हाफिज़' की बमूजिब फ़रमाइश जान जाकोब बहादुर के लिखी है उसको देखो कि फ़क़त एक बैत में उनका नाम और उनकी मदाह आई है और बाकी सारी नस्र में कुछ और ही मतालिब हैं। वल्लाह अगर किसी शाहज़ादे या अमीरज़ादे के दीवान का दीबाचा लिखता तो उसकी इतनी मदाह न करता जितनी तुम्हारी मदाह की है। हमको और हमारी रविश को अगर पहचानते तो इतनी मदाह को बहुत जानते। किस्सा मुख्तसिर, तुम्हारी खातिर की और एक फ़िक़रा तुम्हारे नाम का बदलकर इसके एवज़ एक फ़िक़रा और लिख दिया है। इससे ज़्यादा, भई, मेरी रविश नहीं। ज़ाहिरातुम खुद फ़िक्र नहीं करते और हज़रात के बहकाने में आ जाते हो। वो साहब तो बेशतर इस नज़्म व नस्र को मोमल कहेंगे। किस वास्ते कि उनके कान इस आवाज़ से आशना नहीं जो लोग कि क़तील को अच्छे लिखने वालों में जानेंगे, वह नज़्म व नस्र की खूबी को क्या पहचानेंगे ?"

अलफ़ाज़, तरकीबों और मुहावरों के इस्तेमाल पर पूरी तरह ग़ौर करना, अपने मुआमले और ग़ौर व फ़िक्र के नतीजे को मुसल्लिमुससुबूत उस्तादों की पैरवी से बरतर समझना, मदाह में भी तारीफ़ के बजाए, 'कुछ और ही मतालिब' पैदा करना, इन लोगों की राय को कोई एहमियत न देना, जो लुग़त की बैसाखी के सहारे के बग़ैर क़दम नहीं उठा सकते, अपनी आवाज़ के 'नाआशना' होने, दूसरों से मुन्फ़रिद होने का एहसास और आम लोगों की पसन्द व नापसन्द से बेनियाज़ी का यह अन्दाज़ 'ग़ालिब' के कलाम में भी जारी व सारी है। ग़ालिब उर्दू के अकेले कवि हैं जिन्हें उनकी ज़िन्दगी ही में नहीं बल्कि उनके मरने के कुछ अर्से बाद तक भी फ़ारसीगो की हैसियत से ज्यादा क़ाबिले ज़िक्र समझा जाता रहा। खुद 'ग़ालिब' का भी यही दावा था। उन्होंने अपने अशआर में जाबजा अपने उर्दू कलाम को फ़ारसी कलाम से बहुत कम दर्जा क़रार दिया है।

ग़ालिब की फ़ारसी भाषा शेरो-अदब से यही वाकफ़ियत उनकी उर्दू शायरी में भी प्रगट हुई। वह अपनी फ़ारसी शायरी पर घमंड करते थे और उर्दू शायरी को कम अहमियत देते थे। आखिरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के उस्ताद ज़ौक से उन्हें मासराना चश्मक थी। ज़ौक का सरमाये नाज उनका उर्दू कलाम है। ग़ालिब उन्हें तंज़िया अंदाज़ में मुखातिब करते हुए कहते हैं कि मेरी उर्दू शायरी तो मेरे दबिस्ताने सुख़न की मुरझाई हुई पत्ती है। अगर कोई रंगारंग नक्श देखना चाहे तो मेरे फ़ारसी कलाम का अध्ययन करे, मेरी उर्दू शायरी तो बेरंग है।

फ़ारसी से इसी लगन की वजह से उनके चौबीस वर्ष तक की उम्र तक के कहे हुए कलाम पर फ़ारसी ज़बान की ऐसी छाप है कि मुझे उसे उर्दू मानने में तकल्लुफ़ है। महाकवि मीर ने 'नुक़ाते शोअरा' में लिखा है कि ऐसे अशआर या ऐसे मिसरे, जिनकी ज़बान फ़ारसी शब्दों पर आधारित हो उन्हें मेआरी उर्दू या मेआरी शायरी नहीं माना जा सकता। मीर के बाद के तज़किरा निगार के यहाँ इस ख्याल से साफ़-साफ़ या बिलवास्ता इत्तिफ़ाक मौजूद है। मीर ने अपने दौर के पहले के कई फारसी शायरों के उर्दू कलाम को इसी कसौटी की बुनियाद पर लचर और ग़ैरफ़सीह क़रार दिया है। मीर के एक और समकालीन और उस्तादेज़माना मुहम्मद रफ़ी सौदा ने भी अपने एक शेर में यही राय दी है। मिर्ज़ा जानेजाना अपने दौर के एक सूफ़ी बुज़ुर्ग जो फ़ारसी और उर्दू के अच्छे शायर थे लेकिन उनकी उर्दू पर फारसी की गहरी छाप थी। सौदा ने इस बयान की आलोचना करते हुए कहा है कि ऐसी शायरी रोड़ा है बाट का। ग़ालिब के चौबीस साल यानी १८२१ ई० तक की शायरी का यही रंग है। उन पर इस वक्त तक फ़ारसी के मशहूर शायर बेदिल का असर था। ग़ालिब इस बात को इस तरह स्वीकार करते हैं :

असद हर जा सुख़ने तरहे बाग़े ताज़ा डाली है
मुझे रंगे बहारे ईजादी 'बेदिल' पसंद आया।

इस दौर की शायरी में क़सीदे और ग़ज़लें दोनों में फ़ारसी शब्द तरक़ीबें, बंदिशें ही नहीं बल्कि कई जगह तो मिसरे-के-मिसरे और शेर-के-शेर बिल्कुल फ़ारसी में हैं। कहीं-कहीं पूरे मिसरे या शेर में उर्दू का केवल एक शब्द आया है। उदाहरण के लिए एक शेर में लिखते हैं—

मौजे खमयाज़ा यक नशा च स्लाम वच कुफ़्र
कि जी यक खते मुस्तर चे तौहम च यकुम
किबलओ अबुरए बुत यक रहे ख्वादी शौक
काबओ बुतकदा यक महमिले ख्वाबे संगी

इस दौर की गज़लों में बहुत-सी तरकीबें खालिस फ़ारसी तरकीबें हैं। उदाहरण नवाज़िशे नफसे आश्ना, कमाले बन्दगिये गुल, खमीदन हाये चंग।

ग़ालिब के उर्दू कलाम का यही फ़ारसीपन, यही ग़ैर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्दूपन था जिसकी वजह से उसे पसन्द नहीं किया जाता था। ग़ालिब को इस बात का एहसास था। पहले उन्होंने तरह-तरह से खुद को बहलाने का प्रयत्न किया परन्तु बाद में उन्हें उर्दू वालों के सामने हथियार डालने पड़े। और अपना अन्दाज़े बयान बदलना पड़ा। लेकिन नापसन्द किए जाने का एहसास डसता रहा। आख़िर वे ज़ेहनी कशमकश में मुबतिला हो गये। एक मुक़ाम वह आया जब उनकी समझ में न आता था कि शेर कहें या तर्क़ कर दें।

मुशकिल है ज़बस कलाम मेरा ऐ दिल
सुन सुन के इसे सुख़नवराने कामिल
आसां कहने की करते हैं फ़रमाइश
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल

आख़िर में ग़ालिब ने वही फ़ैसला किया जो उर्दू वाले चाहते थे। इसलिए उन्होंने १८२१ तक के अपने दीवान की तरतीब के वक्त अपने अशआर की बड़ी तादाद निकाल दी। ये वही अशआर थे जिन पर ग़ालिब को घमंड था और जिनके बारे में ग़ालिब का दावा था कि "ज़ाहिल इसे सुनकर मलूल होते" और उन्हें मोहयल करार देते थे। ये तमाम अशआर पेचीदा मज़ामीन और समझ में न आने वाले इस्ते-आरों, तशबीहों और बोझल तरकावों पर मुश्तमिल हैं। यह दीवान 'नुसखमे हमीदया' के नाम से मशहूर हुआ।

ग़ालिब १८२६ तक अपने इस कलाम की इस्लाह करते रहे। बहुत-सी गज़लें तो इन्होंने रद्द कर ही दी थीं। लेकिन बाज़ गज़लों की इस्लाह की, बहुत से शेर और मिसरे बदले। यही वह ज़माना (१८२१ से १८२६) है जब वे उर्दू के लबो-लहज़े में उसके अपने मुनफरिद शेरी मिज़ाज के मुताबिक शेर कहने लगे थे। ग़ालिब के इन्हीं उर्दू अशआर की वजह से आज उन्हें उर्दू का सबसे बड़ा शायर माना जाता है। लेकिन उनके इस मुन्तख़िब दीवान पर अब्दुला खाँ ओज ने खुद उनके मुंह पर फ़बती कसी थी कि इन चंद वरक़ों की बिना पर तुम साहिबे-दीवान नहीं बन सकते।

डेढ़ जुज़ पर भी तो है मतलओ मक़ता ग़ायब।
ग़ालिब आसान नहीं साहिबेदीवाँ होना॥

लेकिन इसी डेढ़ जुज़ को डॉ० अब्दुल रहमान बिजनौरी ने 'इलहामी किताब' करार दिया है। हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' और 'मुकद्दमे शेरो शायरी' में इसकी तारीफ़ की है। और आज तक इक़बाल के सिवा उर्दू के इसी दीवान पर सबसे ज़्यादा किताबें लिखी गयी हैं। उर्दू वाले आलमी अदब के मुक़ाबले अपनी इसी किताब को पेश करते हैं। और यूरोप-अमरीका के उर्दूदाँ भी इस दीवान और इस लेखक के भक्त नज़र आते हैं। आख़िर इस कायापलट का कारण क्या है?

: ३ :

इस परिवर्तन के कारण ग़ालिब के कलाम की रंगारंगी है। दार्शनिक दिमाग़ रखने वाले को इसमें दार्शनिक मुशिगाफियां नज़र आती हैं, आशिक मिज़ाज को हुस्नो इश्क़ की कार-फरमाई पसंद आती है। किसी को सूफ़ी विषयों से लगाव है और कोई ग़ालिब की शोख़ी और व्यंग्य पर जान देता है।

लेकिन ग़ालिब की कविता की सबसे बड़ी मुनफरिद विशेषता जोश, उत्साह, उमंग, तड़प, वलवला है। वह ख़्वाहिश-परस्त और ख़्वाहिश-पसंद ही नहीं है बल्कि नाकाम ख़्वाहिशों, नाउम्मीदियों और यासो-हसरत में भी जीवन, सरख़ुशी-तमन्ना के पहलू और जवाज़ ढूंढ़ निकालता है।

ग़ालिब कहता है कि बहार का मतलब फूलों का खिलना नहीं है। बहार आये तो इस जोश से आये कि गुलाब सरो की बुलन्दी तक पहुँच जाये। उत्साह का हक़ तो जब अदा हो सकता है जब कि प्राकृतिक बंधन समाप्त हो जाएँ। बस्ती में बुलन्दी की शान पैदा हो जाये।

समझ इस फस्ल में कोताहिये नश्शोनुमा ग़ालिब
अगर गुल सरो की कामत पे पैराहन न हो जावे

उसके नज़दीक बहार की कल्पना ऐसी बहार की कल्पना है कि बाग़ की शादाबी, रंगीनी और सनाई से मुरग़ाने चमन मस्त हो जायें। घास और फूलों की हलक इतनी बढ़ जाये कि परिन्दों की बुलन्द परवाज़ी को छूने लगे और उनसे न आराम से बैठा जाय न उड़ा जाय।

है जोशे गुल बहार में यां तक कि हर तरफ़
उड़ते हुए उलझते हैं मुर्ग़े चमन के पांव

ग़ालिब हुसूल मक़सद से अधिक प्रयत्न को अधिक प्रिय रखता है। आरज़ुओं और उम्मीदों की प्राप्ति की कशमकश और जदोजेहद उसे सरमस्ती के आलम में ले जाती है। इस आलम-बेखुदी में वह सरशारी और कैफ़ होता है कि लोक-परलोक से बेख़बर हो जाता है।

अजब निशात से जल्लाद के चले हैं हम आगे
कि अपने साये से सर पाँव से है दो क़दम आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ुदा के वास्ते दाद इस जुनूने शौक़ की देना
कि इसके दरपे पहुँचते हैं नामाबर से हम आगे

बहार के जलवे से यही दिलबस्तगी इसके रोम-रोम में समा गयी है और इसे महबूब के नक़्शे-क़दम में फ़िरदौस का आलम दिखाई पड़ता है।

जहाँ तेरा नक़्शे क़दम देखते हैं
ख़्याबाँ-ख़्याबाँ अरम देखते हैं

महबूब मुजस्सिम स्वर्ग बन गया है और रास्ते के धूल में फूलों का जलवा नज़र आता है।

ये किस बेहशते शमायद की आमद आमद है
कि नहीरे जलवये गुल, रह गुज़र में ख़ाक नहीं

इस मुजस्सिम स्वर्ग की कल्पना में अगर मनुष्य मर जाये तो उसकी क़ब्र की मिट्टी भी फूलों की सेज बन जायेगी। गोया शौक़ का वफ़ूर और कल्पना की उड़ान हर तकलीफ़ को आराम बना सकती है।

बस कि हैं हम एक बहारे नाज के मारे हुए
जलवये गुल के सिवा गर्द अपने मदफ़न में नहीं।

ग़ालिब की कल्पनात्मक दुनिया में हर प्राकृतिक वस्तु बदल गयी है। शराब इसके यहाँ जज़्बे का मुतरादिफ़ है। यह वह चीज़ है कि मिट्टी में जान डाल दे, अचल को चल कर दे और ख़ाक को आसमान की तरफ़, पस्ती को बुलन्दी तक उठना सिखा दे :

हैं बसकि जोशे बादह से शीशे उछल रहे
हर गोशये बिसात है सर शीशा बाज़ का।
देख कर तुझको चमन बसकि नमू करता है
ख़ुद ब ख़ुद पहुँचे हैं गुल गोशये दस्तार के पास।

तड़प और जोशे-जुनू ऐसी चीज़ है कि दर-दीवार नाचने लगे, दर दीवार और दीवार दर बन जाये, मुर्दे में जान पड़ जाये और उमंग एवं मस्ती के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहे—

हुई है किस क़दर अज़ीनिए मय जलवा
कि मस्त है तेरी कूचे में हर दरो-दीवार।
न पूछ बेख़ुदिये ऐश मुक़द्दम सैलाव
कि नाचते हैं पड़े सर-बसर दरो-दीवार।

शरीर को प्राण, अचल को चल और मृतक को जीवित कर देने का यह रहस्य मनुष्य की लगन, इस शौक़ के असीम होने से उत्पन्न होती है। प्रकृति-विजय का यह हौसला और पदार्थ को बदल डालने का यह विश्वास ग़ालिब के काव्य की मुख्य विशेषता है—

बला से हैं जो ब पेशे नज़र दरो-दीवार
निगाहे शौक़ को हैं बालों पर दरो-दीवार।

अनुभूति की यह अधिकता ग़ालिब को चैन से नहीं बैठने देती। वे निश्चित समस्याओं पर फिर से विचार करना चाहते हैं। फ़ैसलों का पुनर्निरीक्षण करना चाहते हैं। सफलता की आशा न होने पर भी प्रयत्न करना चाहते हैं—संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का यह संगम बड़े भरपूर अन्दाज़ में प्रकट हुआ है। वे कहते हैं कि आख़िर हम किसी परम्परागत कथन को पूर्ण सत्य क्यों मान लें? जीवन जो नयी संभावना के क्षितिजों का उद्घाटन कर रहा है। इन्हें अपना आधार क्यों न बनायें!

अपना नहीं वो शेवा कि आराम से बैठें
इस दर पै नहीं बार तो काबा ही को हो आयें।

× × ×

क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले एक-सा जवाब
आओ न हम भी सैरे कोहेनूर को चलें।

आकांक्षाओं और अपूर्ण आशाओं, अपूर्ण अरमानों को वे निराशा, अनास्था और कुण्ठा से अच्छा समझते हैं। क्योंकि राख में शोले न हों मगर चिनगारियाँ तो होती हैं—गर्द में तो कुछ भी नहीं होता। यह 'कुछ' 'सब' का जवाब नहीं मगर 'नहीं' से श्रेष्ठ है। जीवन मृत्यु की अपेक्षा आदरणीय है।

आता है दाग़े हसरते दिल का शुमार याद,
मुझसे मेरे गुनाह का हिसाब ख़ुदा न माँग।

× × ×

मानए दश्त नवर्दी कोई तदबीर नहीं,
एक चक्कर है मेरे पाँव में जंज़ीर नहीं।

× × ×

उस लब से मिल ही जायेगा बोसा कभी तो हाँ
शौक़े, फ़ुज़ूलो, जुरंते-रिन्दाना चाहिए।

अनुभूतिहीन को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है। जिसे यह विश्व, इसके दृश्य, दुनिया की भोग्य वस्तुएं और कष्ट प्रभावित नहीं करते, वे व्यक्ति आत्महत्या कर लें तो अच्छा है, क्योंकि पत्थर की भाँति जीवन व्यतीत करने से मृत्यु की वेदना और कष्ट उठाना अधिक आनन्दकर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ंजर से चीर सीना, अगर दिल न हो दो नीम
दिल में छुरी चुभो मिज़ाँ गर ख़ूचकर नहीं।

ग़ालिब का यही जोश, भावना और उमंग इसे दुनिया के आनन्द से भरपूर जोखिम उठाने को उत्साहित करता है। वे उर्दू के एकमात्र शायर हैं, जिसने रूप और आनन्द की आकांक्षा को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। मीर ग़ालिब से बड़ा शायर है। मीर का काव्य ग़ालिब की अपेक्षा कई गुना अधिक है। लेकिन मीर के काव्य में अपने-आपकी अधिक चर्चा है। इच्छा और उमंग मीर के यहाँ भी है लेकिन दुनियादारी नहीं है, इसलिए मीर को ग़ालिब से कम महत्त्व मिला। यह सौ वर्ष में या वर्तमान युग में ग़ालिब जिन लोगों का प्रिय रहा, वे भी इसकी तरह अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के लोग रहे हैं। ग़ालिब को ऐसे तमाम लोगों ने पसन्द किया है जो दुनिया के पीछे बेतहाशा भागे हैं। जिन्होंने अवसरवाद, खूबसूरत फ़रेबी, किसी भी माध्यम से प्रतिष्ठा और ख्याति अर्जित करने की खातिर अपने आदर्शों का बलिदान किया है। ऐसे लोग ग़ालिब में अपने अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व को पूर्ण होता देखते हैं और इन्हें ग़ालिब में अपनी कमज़ोरियों का समाधान मिलता है। ग़ालिब को पसन्द करने और सराहने में चेतन एवं अवचेतन अथवा अर्द्धचेतन रूप में आन्तरिक, हार्दिक, मानसिक एवं दृष्टि की शान्ति मिलती है।

ग़ालिब भावना की सन्तुष्टि और आनन्द की प्राप्ति की इच्छा बड़े कलात्मक रूप में व्यक्त करते हैं। ग़ालिब की शैली में लखनवी शायरों यथा—इन्शाअल्ला खाँ 'इन्शा' और कलन्दर बख्श जुरायद की तरह नारी के अंगों तक ही सीमित नहीं रहती। लखनऊ के शायरों की तरह कंघी, चोटी, अंगिया, कुर्ती या गाल, छाती, नाभि, कमर और पिंडली में ग़ालिब खो नहीं जाता। इसको हसीन लिबास या शरीर के भागों से सेक्स-सन्तोष नहीं होता। ग़ालिब शरीर के हिस्सों को अलग-अलग नहीं बाँटता बल्कि वह उसे एक सम्पूर्ण इकाई समझता है। और इस इकाई से पूर्णरूपेण आनन्द उठाना चाहता है।

ग़ालिब ने एक लम्बी ग़ज़ल में अपनी सेक्स की माँग और आनन्द-प्राप्ति की इच्छा को बड़े साहस के साथ स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। तनहाई हो, शराब हो, हुस्न श्रृंगार किये हुए हो, आशिक भी नशे में हो और हसीना भी नशे के आलम में हो कि, शराब पीने के कारण उसका चेहरा उपवन की तरह रंगीन हो जाता है :

मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किये हुए
जोशे-क़दह से बज्मे चिराग़ाँ किये हुए
माँगे हैं फिर किसी को लबे बाम पर हवस
जुल्फ़े सियाह रू पै परेशाँ किये हुए।
चाहे है फिर किसी को मुकाबिल पे आरज़ू
सर मय से तेज़ दश्नए मिज़गाँ किये हुए।
एक नौ बहारे नाज़ को ताके हैं फिर निगाह
चेहरा फरोगे मय से गुलिस्ताँ किये हुए।

ग़ालिब ने एक स्थान पर और कहा है कि इश्क़-मुहब्बत पूजने का नाम नहीं है। यह भावना आध्यात्मिक नहीं है, यह तो शरीर की भूख को व्यक्त करने का एक रास्ता है। उर्दू के किसी शायर ने शरीर की इस भूख को इस प्रकार नहीं बिखराया है और न ऐसा दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है। अपनी शारीरिक इच्छाओं को दार्शनिक रूप देना और इश्क को केवल आध्यात्मिक समझने वालों का इस प्रकार खुले रूप में उपहास करना ग़ालिब के ही बूते की बात है :

ख्वाहिश को अहमकों ने परस्तिश दिया करार।
क्या पूजता हूँ उस बुते बेदादगर को मैं।

ग़ालिब की स्पष्टवादिता सीमाहीन है वह अपने महबूब से भी दोटूक कह सकता है कि मुहब्बत वियोग में सुलगने का नाम नहीं है। यह तुम्हारी अदाओं का नाम भी नहीं है बल्कि शरीरों के संयोगों का नाम भी नहीं है। इस अनुभूति की पूर्ति दूरी से नहीं बल्कि शारीरिक सान्निध्य से ही हो सकती है—

गुंचए नाशुगुफ्ता को दूर से मत दिखा कि यूं
बोसे को पूछता हूँ मैं मुँह से मुझे बता कि यूं।

× × ×

हमसे खुल जाओ बवक़्ते-मयपरस्ती एक दिन
वरना हम छेड़ेंगे रखकर उजरेमस्ती एक दिन।

× × ×

बोसा देते नहीं और दिल पै है हर लहज़ा निगाह
जी में कहते हैं कि मुफ़्त आये तो माल अच्छा है।

ग़ालिब सौंदर्य से आनन्द भी उठाता है और उसके पदार्थ पर भी सोचता है। इस प्रकार वह भोग और आनन्द में दार्शनिकता मिला देता है। ग़ालिब की इसी अदा पर दुनिया-दार जान देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही वह अन्दाज़ है जो इन्हें अपनी शारीरिक भूख पर पर्दे डालने में मदद देता है।

ये परी चेहरा लोग कैसे हैं
ग़म जओ, असबओ अदा क्या है।
शिकने ज़ुल्फ़े अम्बरी क्यों है
निगहे चश्मे सुरमा सा क्या है।

ग़ालिब का यह आनन्द का स्वरूप वह अन्दाज़ है, जो दुनियादार और अवसरवादियों को उनकी भोग प्रवृत्ति से इनकार करवाकर भी दुनिया से चिपटे रहने के प्रयास में सहारा देता है। ये लोग भोगवृत्ति पर गर्व और उसकी बिना झिझक अभिव्यक्ति ग़ालिब से सीखते हैं—

बोसा नहीं न दीजिए दुश्नाम ही सही
आख़िर ज़ुबां तो रखते हो तुम गर दहां नहीं

×

गो हाथ को जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है
रहने दो अभी साग़रो मीना मेरे आगे।

ग़ालिब का यही ज्ञान, बौद्धिक उपज, अनुभूति, हार्दिक और बौद्धिक अन्तर्विरोध हैं, जिन्होंने इसे इतना लोकप्रिय किया है और इसके अनुकरण की बराबर कोशिश की गई है लेकिन वह हर बात में एकदम अलग था। उसके अनुकरण में भी कोई सफल नहीं हो सका।

अनुवाद : असग़र वजाहत
सुहेला नश्तर

१. "मकातबे ग़ालिब" मुर्तब्बा : अर्शी।
२. मियाँ अन्ज़ "फ़रहंगे जहाँगीरी" शेख़ रशीद शाक़िम "फ़रहंगे रशीद" अज़माइ अज्म में से नहीं। हिन्द उनका मोलिद, माख़ूज उनका अशआरे क़दमा, हादी उनका क़ियास, टेकचन्द और स्यालकोटिमल उनके पेरो।
—"मकातीबे ग़ालिब" मुर्तबा : अर्शी-८३
३. ...ये लोग (ख़लीफ़ा शाह मोहम्मद और माधूराम, ग़नीमत एवं क़तील) राहे सुखन के ग़ोल हैं, आदमी के गुमराह करने वाले, ये फ़ारसी को क्या जाने, हाँ तबाए मोज़ूं रखते थे, शेर कहते थे।
—"ख़तूते ग़ालिब", मुर्तब्बा महेशप्रशाद ११६
४. "ख़ुतूते ग़ालिब", मुर्तब्बा "महर" ३२७-३२८।
५. "मेहर" ३२८।
६. उर्दूए मुअल्ला ११०।
७. मुन्शी हरगोपाल 'तफ़्ता' 'ग़ालिब' के अज़ीज़तरीन शिष्यों में सम्मिलित थे। ग़ालिब उन्हें प्रेम में 'मिर्ज़ा तफ़्ता' कहा करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब

विश्वनाथ त्रिपाठी

ग़ालिब के यहाँ बातों को उलझा-उलझाकर इस तरह पेश किया जाता है कि शायरी से गहरा लगाव न रखने वाला थोड़ी ही देर में "मगर इनका कहा ये आप समझें या खुदा समझे" से सहमत होकर बेहतर और ज्यादा ज़रूरी कामों में लग जाएगा। इस उलझाव का सबसे ज्यादा फ़ायदा मिर्ज़ा ग़ालिब (कवि) को हुआ है। उनकी शायरी समझदार प्रशंसकों को ही अपनी तरफ़ खींचती है। ग़ालिब के दिल का रास्ता उसके दिमाग़ से होकर गुज़रता है, और उनका दिमाग़ एक बीहड़ जंगल है, जिसमें रास्ता पाने के लिए टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चलना पड़ता है। ग़ालिब ने अपना व्यक्तित्व, जोकि उनके काव्य का स्रोत है, निहायत हिफ़ाजत से छिपा रखा है। और उसकी भी मिर्ज़ा को कसक है :

खुलता किसी पे क्यों, मिरे दिल का मुआमलः
शेरों के इन्तिखाब ने रुस्बा किया मुझे।

मिर्ज़ा ग़ालिब बहुत बड़े शायर हैं। लेकिन उर्दू का शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो शायरी से इतना बेनियाज़ हो। यह बात बिलकुल उलटी लगती है। लेकिन हिन्दी कविता के पाठक भक्त कवियों को याद कर लें तो बात साफ़ हो जाए। तुलसीदास ने कभी भी कवि-कर्म को गौरव नहीं दिया। मिर्ज़ा ग़ालिब भी कवित्व से अपना लगाव एक झटके में तोड़ सकने की सामर्थ्य रखते थे और सिपाही के पेशे पर नाज़ फ़रमा सकते थे—

कुछ शायरी जरीअए इज्जत नहीं मुझे

शहर में अपनी आबरू की हकीकत समझने वाले ग़ालिब शाइरी की भी हकीकत समझते थे।

शाइरी के बारे में मिर्ज़ा ने अपने विचार पत्रों में भी व्यक्त किए हैं। मुंशी हरगोपाल तफ़्ता को लिखते हैं—"मैंने कब कहा था कि तुम्हारा कलाम अच्छा नहीं। मैंने कब कहा था कि दुनिया में कोई सुखन-फहम कद्रदां न होगा। मगर बात ये है कि तुम मश्के सुखन कर रहे हो और मैं मश्केफ़ना में मुस्तगर्क़ हूँ। बूअली सीना के इल्म को और नज़ीरी के शेर को ज़ाया और बेफ़ायदा और मौहूम समझता हूँ। ज़ीस्त बसर करने को कुछ थोड़ी-सी राहत दरकार है और बाक़ी हिकमत और सल्तनत और शायरी और साहरी सब खुराफ़ात है।"

उनकी कविता पढ़कर लगता है कि वे ज़िन्दगी भर ज़िन्दगी की जटिल समस्याओं से उलझते रहे। क़िस्मत ने उन्हें ज़िन्दगी भी ऐसी ही बख़्शी थी कि समस्याओं को सुलझाने में उनकी मदद को कोई न आया। जीवन की क्रूरतम भौतिक और घटनागत विडम्बनाएँ उन्हें झेलनी पड़ीं। खुदा शायद दूसरों के लिए तो था ग़ालिब के लिए नहीं था। वह औरों की मदद के लिए तो आया ग़ालिब की मदद के लिए एक बार भी नहीं आया। उन्हें ज़िन्दगी की मुसीबतों से उम्र भर तनहा लड़ना पड़ा। यहाँ ग़ालिब की निराशा के पीछे उनके जीवन की असफलताओं और हृदय-विदारक घटनाओं पर एक निगाह डाल लेना ज़रूरी है। "पाँच वर्ष की आयु में बाप का और आठ-नौ वर्ष की आयु में चचा का साया सर से उठ गया। एक सम्पन्न ननिहाल में माँ के बेरंग आंचल के नीचे बचपन व्यतीत किया और आरंभिक युवावस्था की चन्दरोज़ा फ़ुरसतें गुनाह के बदले उम्र भर की असफलता, विफलता, उत्ताप और जलन मिली। अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु से जीवन की निर्ममताओं का सामना करने के लिए अकेले मैदान में उतरना पड़ा। आय का कोई साधन नहीं था। बाप और चचा की मृत्यु के बाद जो जागीर पालन-पोषण के लिए थी अधिकांश लोग खा गए और ग़ालिब उम्र भर हाथों में अर्ज़ियां और कसीदे लिए हुए देहली, लखनऊ, कलकत्ता, कानपुर दर-बदर ठोकरें खाता फिरा, अयोग्य धनवानों और अंग्रेज़ अफ़सरों की झूठी प्रशंसा में हृदय-रक्त उगला और उसके बाद भी कर्ज की शराब पी और भीख पर ज़िन्दगी गुज़ारी। मरते समय भी यह कटु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति साथ थी कि विधवा पत्नी पर ग़रीबी और निर्धनता में क्या बीतेगी। यह भी हुआ कि ऋणदाताओं की नालिश और डिग्रियों के डर से घर में छिपकर बैठना पड़ा और किसी शत्रु के षड्यंत्र से जुए की लत में कैदखाने का अपमान सहना पड़ा। मुगल दरबार में वह आदर पद भी न मिला जो निम्न-तर कोटि के कवियों को प्राप्त हो रहा था और आयु के अन्तिम चरण में एक बौद्धिक वाद-विवाद के अपराध में बरसों माँ-बहन की गालियाँ खानी पड़ीं। युवावस्था में युवती प्रेयसी का जनाज़ा आँखों के सामने उठ गया। घर में बच्चों के खेल-कूद के बजाय उनकी लाशें नज़र आईं। जिस भाँजे को गोद लिया था वह जवान मर गया। बन्धु-बांधव आँखों के सामने कत्ल हुए।" सरदार जाफ़री के इस कथन में निरी घटनाओं और तथ्यों का उल्लेख मात्र किया गया है, मिर्ज़ा के साथ यह सब हुआ था।

जीवन को निस्सार धनी भी कहते हैं और गरीब भी—सुखी भी और दुखी भी। जीवन के दुखों पर एक पृष्ठ सचित्र साप्ताहिकों में भी अध्यात्म-चर्चा के कालम में रहता है। लेकिन दुख और दुख में अन्तर होता है। सारी सुख-सुविधाओं में सड़ने वाले व्यक्ति का दुःख अपच और अजीर्ण का दुख है और जीवन के अभावों से जूझते रहने वाले आदमी का दुःख भूखे का दुःख है। जीवन निरर्थक सुखी-दुखी दोनों के लिए हो सकता है किन्तु विभिन्न कारणों से। कारणों की विभिन्नता को रेखांकित करके समझना ज़रूरी है। इसीलिए अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए जीवन यदि एक स्तर पर निरर्थक है तो दूसरे स्तर पर कई गुना सार्थक भी। जीवन उसके लिए निरर्थक रहा किन्तु जीवन के प्रति उसकी लालसा अपार होती है। ग़ालिब के यहाँ यह लालसा मिलती है। जो ग़ालिब के कलाम में अभिव्यक्त जीवन की निरर्थकता और सार्थकता के इस परस्पर-विरोध को निराशा और लालसा के इस साहचर्य को नहीं देख पाते वे इस शेर को क्या समझेंगे—

तेरे वादे पर जिए हम तो यह जान झूठ जाना
कि खुशी से मर न जाते अगर एतबार होता

ग़ालिब की निराशा के पीछे ग़ालिब की असफलताएँ हैं—इन्हीं असफलताओं ने उन्हें चीज़ों को शक की निगाह से देखना सिखाया है। उनकी महानता इस बात में है कि घोर असफलताओं और निराशाओं ने न तो उन्हें तोड़ा न विक्षिप्त बनाया—बल्कि सन्देह करने की दृष्टि देकर मोह-मुक्त किया और बुद्धि पर भरोसा करना सिखाया। ग़ालिब जिस युग में पैदा हुए थे उसे समाज-शास्त्री क्षयिष्णु युग कहते हैं—अधिकांश उर्दू साहित्य पर यह क्षयिष्णुता घिरी हुई है। ग़ालिब के यहाँ उनकी ज़िन्दगी और ज़माने का बिखराव तो है किन्तु सस्ती भावुकता कहीं नहीं है। वे अपने ज़माने पर ही नहीं दुःख और भावुकता पर भी व्यंग्य कर सकते हैं। दुःख पर व्यंग्य कर सकने की सामर्थ्य उसी में होती है जिसका दुख सजीव होता है। भावुकता एक सीमा तक चलकर थक जाती है, स्थितियों की पीड़ा का निरन्तर बोध बुद्धि बनाए रखती है। ग़ालिब के यहाँ थककर सो जाने वाली भावुकता नहीं, पीड़ा को जगाए रखने वाली मोह-मुक्त बुद्धि है। इसी-लिए वे ज़िन्दगी, प्रतिष्ठा, मज़हब, जन्नत और शायरी सबकी हक़ीकत पहचानते हैं। इसीलिए उनकी शम्मा हर रंग में सहर तक जल सकती है यानी उनकी पीड़ा चुकती नहीं। आप अब यह भी ग़ौर फ़रमा सकते हैं कि ग़ालिब ने ज़ौक के मिसरे "मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे" की दाद क्यों दी होगी। यह ज़ौक का लिखा हुआ ग़ालिब का मिसरा है।

ग़ालिब के पत्रों में ग़ालिब की सहृदयता, परदुखकातरता, गहरी संवेदना के पर्याप्त और स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनके पत्र, जिनमें उनके जीवन की सच्ची झाँकियाँ मिलती हैं, उनकी कविताओं की कुंजी हैं। अपने मित्रों से उनका कितना गहरा लगाव था, दूसरों की तकलीफ़ उन्हें कितना द्रवित कर सकती थी, इसका पता हमें उनके पत्रों से लग जाता है। एक खत में लिखते हैं—"जिस शहर में रहूँ उस शहर में तो भूखा-नंगा नज़र न आए। ख़ुदा का कोपभाजन, ख़ल्क का मरदूद, बूढ़ा नातवान, बीमार, फ़कीर, दरिद्रता में गिरफ्तार मेरे और मुआमिलात-ए-कलाम-ओ-कमाल से कत्-ए-नज़र करो। वह जो किसी को भीख माँगते न देख सके और ख़ुद-दर-बदर भीख माँगे वह मैं हूँ।" वही व्यंग्य, गहरी पीड़ा की तीव्र अनुभूति और पीड़ा को चीरकर जीवन के वरदानों को प्राप्त करने की अदम्य लालसा यहाँ भी है। यानी मिर्ज़ा ख़ुद दर-ब-दर भीख माँगने की हालत में रहते हुए भी किसी को भीख माँगते न देख सकने की लालसा हृदय में सँजोए हैं। यह वही मिर्ज़ा हैं जो नवाब रामपुर को खतों में अपने को 'खुशनूदी का ग़ालिब' 'इनायत का ग़ालिब' लिखते हैं और 'तुम सलामत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहो हज़ार बरस। हर बरस के हों दिन पचास हज़ार" लिखते हैं। अन्य कवि इतने पर शायरी और स्वाभिमान की हक़ीक़त न समझें, शायरी को ज़िन्दगी की कटुता से अलग-थलग रखकर गुलो-बुलबुल की दुनिया तक सीमित रखें तो रखें, मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसों में न थे।

'ख़ुदा' और 'जन्नत' के बारे में ग़ालिब की जो धारणा उनके कलाम में व्यक्त हुई है, उस पर ध्यान देने की ज़रूरत है। 'ख़ुदा' से सम्बन्धित एक शेर ख़ुद ग़ालिब को निहायत पसन्द था, मुंशी हरगोपाल 'तफ़्ता' को एक ख़त में उन्होंने लिखा था—"मेरा हाल इस फ़न में अब ये है कि शेर कहने की रविश और अगले कहे हुए अशआर—सब भूल गया। मगर, हाँ, अपने हिन्दी कलाम में से डेढ़ शेर याने एक मकता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाह-गाह जब दिल उलटने लगता है, तब दस-पाँच बार ये मकता ज़बान पर आ जाता है :

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे के ख़ुदा रखते थे।

ज़िन्दगी की कटुता और अनवरत असफलताओं ने ग़ालिब को यह कहने पर विवश कर दिया था कि ख़ुदा उनसे विमुख रहा। आज से सौ साल पहले मरने वाले ग़ालिब ख़ुदा की शान के ख़िलाफ इससे ज्यादा और कुछ नहीं कह सकते थे।

ख़ुदा के ही बारे में ग़ालिब का एक और शेर भी विचारणीय है :

न था कुछ, तो ख़ुदा था, कुछ न होता, तो ख़ुदा होता
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता

इस शेर को मारफ़त और तसव्वुफ़ का शेर कहा और समझा जाता है। बड़ी-बड़ी बारीकियाँ निकाली जाती हैं इस शेर में। लेकिन एक भाव जो इस शेर में साफ़ है, वह यह कि ख़ुदा के होने की स्थिति कुछ न होने पर ही दिखलाई पड़ती है। पहले मिसरे को देखिये, ख़ुदा कब था—जब कुछ न था, ख़ुदा कब होता। जब कुछ न होता। अब जबकि ग़ालिब है तो ख़ुदा कहाँ है। पहले मिसरे की रोशनी में जवाब होना चाहिए कि 'नहीं है', यानी ख़ुदा और कुछ (जिसमें ग़ालिब की भी स्थिति शामिल है) की स्थिति साथ-साथ नहीं है। मेरा अभिप्राय यह सिद्ध करना नहीं है कि ग़ालिब नास्तिक थे, नास्तिक वे हो ही नहीं सकते थे। मज़हबी एतबार से उन्होंने ईश्वर का अस्तित्व कभी अस्वीकार नहीं किया। हाँ, वे ख़ुदा से मोहमुक्त अवश्य हो चुके थे।

ख़ुदा के बारे में ग़ैर-ज़िम्मेदाराना ढंग से कहने के ख़तरे थे। इसके अलावा आख़िरकार ग़ालिब अपने युग की सीमाओं को एक सीमा तक ही लाँघ सकते थे। लेकिन जन्नत के बारे में न कोई ऐसा ख़तरा था न कोई अन्देशा। ग़ालिब ने ख़ुदा को तो थोड़ा-बहुत बख़्श दिया, लेकिन उसके साम्राज्य जन्नत को तो पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। उन्होंने साफ कहा :

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन
दिल को ख़ुश रखने का ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।

'जन्नत' का ख़याल उसका दिल कैसे ख़ुश रख सकता है जो जानता है कि यह दिल ख़ुश रखने का ख़याल है। दूसरे मिसरे में 'अच्छा ख़याल' का सीधा मतलब 'महज़ ख़याल' है, अवास्तविक है।

'जन्नत' पर कहा गया मिर्ज़ा का एक और शेर भी विचारणीय है :

सुनते हैं जो बहिश्त की तारीफ़ सब दुरुस्त
लेकिन ख़ुदा करे वो तेरी जल्वागाह हो।

पहले मिसरे के 'तारीफ़ सब दुरुस्त' का मतलब है 'तारीफ़ सब ग़लत'। 'दुरुस्त' का मतलब नाकाफ़ी या 'अनाकर्षक' भी हो सकता है। दरसल 'दुरुस्त' के अर्थ दुरुस्त, नाकाफ़ी, अनाकर्षक—तीनों हैं।

मैं पहले मिसरे का अर्थ यों समझता हूँ, बहिश्त की जो तारीफ मामूली, सीधे-सादे या नासमझ लोग करते हैं, वो इनके लिए तो दुरुस्त होगी लेकिन मिर्ज़ा के लिए उन विशेषताओं से मुक्त जन्नत अपूर्ण और अनाकर्षक है। वस्तुतः 'दुरुस्त' का अर्थ यों है। दुरुस्त = दुरुस्त × अपूर्ण × अनाकर्षक। आगे भी देखिए—जन्नत या बहिश्त ख़ुदा की बनाई या यों कहिए सजाई हुई जगह है, और उसको 'दुरुस्त' कहते हुए ग़ालिब ख़ुदा से ही प्रार्थना करते हैं कि वह जगह उनके प्रिय की जल्वागाह हो तो उनका मन रमे। काशी में अपने आदरणीय मित्र केदारनाथ सिंह से एक शब्द सुना था 'काम्प्लेक्स डिलाइट' (मिश्रित भावाभिव्यक्ति का आनन्द)। यह बहुत 'काम्प्लेक्स डिलाइट' ग़ालिब की रचना में मिलती है, यह उनकी रचनाओं की विशेषता है। सम्भवतः इसीलिए उनकी पंक्तियों के विभिन्न अर्थ किए जाते हैं। लेकिन मुझे लगता है कि ऐसी रचनाओं में जिन अर्थों को विभिन्नता कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है वे सब मिलकर एक प्रमुख अर्थ की रचना करते हैं। सूरदास की एक पंक्ति 'नंद ब्रज लीजो ठोंकि बजाय' में ही 'ठोंकि बजाय' में जो विभिन्न भाव-छायाएँ अभिव्यक्त हुई हैं उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भाव पंचामृत' कहा है। अस्तु—

बहिश्त की 'दुरुस्तगी' से घबड़ाकर ग़ालिब ने कहा होगा

क्यों न फिरदौस में दोजख को मिला लें यारब
सैर के वास्ते थोड़ी सी फ़िज़ा और सही

ग़ौर करने की बात है कि दोज़ख की थोड़ी-सी और फ़िज़ा सैर के लिए है। ज़ाहिर है कि लाखों बरस की हूरें बहुत जल्द 'अजीरन' हो जाएँगी—इसे मिर्ज़ा जानते थे और फिर सैर करने के लिए अपनी असल जगह पर आ जाने का बन्दोबस्त करना चाहते थे। यह उन्हीं का मिसरा है न—

काफ़िर हूँ गर न मिलती हो राहत अज़ाब में।

मतलब यह कि ग़ालिब ऐसे शायर हैं जिनकी आस्था ख़ुदा, जन्नत, शाइरी सबसे डिगी हुई है—उनकी शाइरी में उनकी इसी डिगी हुई आस्था को वाणी मिली है। आस्था का यह डिगना ही उनकी मोह-मुक्ति का कारण है। ज़िन्दगी तल्ख और ख़ुदा, आक़बत, शाइरी सबसे मोह-भंग—इस स्थिति ने ग़ालिब में एक अजीब 'सिनिसिज़्म' पैदा कर दिया है। वे अच्छी-से-अच्छी स्थिति की कल्पना करते हैं और उसे अपनी सर्वदाही संदिग्ध दृष्टि से ध्वस्त कर देते हैं। इस कथन के उदाहरण में अनेक पंक्तियाँ पेश करना चाहूँगा :

अगर और जीते रहते येही इन्तज़ार होता।

घर हमारा जो न रोते भी तो बीरां होता
बह्र गर बहर न होता तो बयाबां होता॥

तंगिए दिल का गिला क्या, ये वो काफ़िर दिल है
कि अगर तंग न होता तो परीशां होता।

प्रिय से मिलन की स्थिति कितनी सुखद होती है। और ग़ालिब का माशूक भी असाधारण रूप से कृपालु है लेकिन ग़ालिब का सन्देह इस सुखद मिलन को भी चौपट करके रख देता है :—

सोहबत में ग़ैर की न पड़ी हो कहीं ये ख़ू
देने लगा है बोसा बिग़ैर इल्तिजा किए।

या कि भरा हुआ जाम सामने पाकर भी वे सोचने लगते हैं :

साक़ी ने कुछ मिला न दिया हो शराब में

यों ग़ालिब को 'होता' रदीफ़ से बहुत प्यार है। ग़ालिब ने अपने बारे में ख़ुद कहा है कि लोगों को उनका 'वो हर इक बात पर कहना कि यूँ होता तो क्या होता' याद आता है (आएगा) यह 'रदीफ़' ग़ालिब के स्वभाव का 'सिनीसिज़्म' तो ज़ाहिर ही करता है, एक दमघोंटू वातावरण को चीरकर एक सुखद वातावरण की सृष्टि की कल्पना शक्ति और लालसा का भी संकेत देता है। ग़ालिब ने अपार निराशा से अपने को दो साधनों से सुरक्षित रखा है, व्यंग्य से और अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा से।

ग़ालिब व्यंग्य एक ख़ास अन्दाज़ से करते हैं। उनका व्यंग्य विरोध-संधि पर आधारित होता है। ग़ालिब के यहाँ खुशी अक्सर ग़म के पेट में से निकलती है। ग़म और खुशी दोनों विरोधी भाव हैं लेकिन ग़ालिब के यहाँ वे एक साथ नहीं, एक-दूसरे से आलिंगनबद्ध या कारण-कार्य रूप में मिलेंगे और आपका ध्यान न ग़म पर जाएगा न ख़ुशी पर बल्कि ग़म और ख़ुशी के विरोध-साम्य पर अटका रहेगा। बात यह है कि कष्टों ने ग़ालिब को अपनी सीमा भी बता दी है। कष्टों की सीमा उनकी समाप्ति भी है। ज्ञान की अग्नि कष्टों को भी जलाती है।

जिस चीज़ पर हमारा बस नहीं उसे हम स्वीकार कर लेते हैं। ग़ालिब के इस स्वीकार में दुःख-सुख और स्वीकृति की अनिवार्यता का व्यंग्य मौजूद होता है :

कफ़स में मुझसे रूदादे चमन कहते न डर हमदम
गिरी है जिसपे कल बिजली वो मेरा आशियाँ क्यों हो

दूसरे मिसरे के 'क्यों हो' में अपने आशियाने पर ही बिजली गिरने की अनिवार्यता की स्वीकृति, उस अनिवार्यता से उत्पन्न अनुद्विग्नता यानी सुकूते-यास है। ये समूची भाव-सरणि यानी नियति की क्रूरता की अनिवार्यता उसकी स्वीकृति और अनुद्विग्नता एक-दूसरे से मिलकर ग़ालिब को अपने से ही अलग करके तटस्थ बना देते हैं और फिर अपने पर ही व्यंग्य करने की क्षमता प्रदान करते हैं। ग़ालिब का ऐसा द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व यानी उनके ही व्यक्तित्व से तटस्थ एक और व्यक्ति इन पंक्तियों में भी प्रकट हुआ है :—

हम भी दुश्मन तो नहीं हैं अपने
ग़ैर को तुझसे मुहब्बत ही सही।

उनकी अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा इन जैसे शेरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्यक्त हुई है :

है कहाँ तमन्ना का दूसरा कदम यारब ।
हमने दश्ते इमकाँ को इक नक़्शे पा पाया
मंजर इक बुलन्दी पर और हम बना सकते
अर्श के इधर होता काश के मकां अपना ।

और वह निहायत मशहूर शेर :

हज़ारों ख़ाहिशें ऐसी कि हर ख़ाहिश पे दम निकले
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।

घोर निराशा और असफलता के बीच मिर्ज़ा ने लालसा-पूर्ति की यह इच्छा बनाए रखी और एक चीज़ और बनाए रखी—'हसरते तामीर', निर्माण की इच्छा। सब-कुछ मिट जाने पर भी मिर्ज़ा की 'हसरते तामीर' नहीं मिटती। यह हसरत उनके जगत्-प्रेम का प्रतीक है। इसे प्रगतिशीलता का 'क्लीशे' न समझिए। मिर्ज़ा का शेर है :

हुआ हूँ इश्क की ग़ारतगरी से शर्मिन्दा
सिवाए हसरते-तामीर घर में ख़ाक नहीं

घर में क्या था कि तेरा ग़म जिसे ग़ारत करता
वह जो रखते थे हम इक हसरते-तामीर सो है।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब की फ़ारसी कविता

नूरुलहसन अन्सारी

हिन्दुस्तान की फ़ारसी शायरी परिमाण और स्तर की दृष्टि से उतनी ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीन है जितनी ईरानी शायरी। ग्यारहवीं सदी ईस्वी में लाहौर ग़ज़नवी साम्राज्य का पूर्वी शासन-केन्द्र था। यहाँ, ईरानियों के साथ-साथ, हिन्दुस्तानी काव्य-रसिकों ने भी फ़ारसी ज़बान में अपनी रचना के जौहर दिखाने शुरू किये। उस युग से लेकर ग़ालिब के समय तक, लगभग नौ सौ साल तक, हिन्दुस्तानी कवि कलाविद और विद्वान् अपनी मौलिक रचनाओं और सम्पादित कृतियों से फ़ारसी काव्य और काव्येतर साहित्य का दामन अनमोल मोतियों से भरते रहे। इस लम्बे अर्से में हिन्दुस्तान की धरती से फ़ारसी के जो महान् कवि उठे, उनमें ख़ुसरो, बेदिल और ग़ालिब सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

ग़ालिब ईरानी नहीं थे। उनकी मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी। उनके बाप-दादा तुर्किस्तान से आये थे और तुर्की बोलते थे। लेकिन ग़ालिब ईरान के आशिक़ और ईरानी फ़ारसी के इतने बड़े प्रेमी थे कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी को बिलकुल खातिर में नहीं लाते थे। इस सिलसिले में उन्होंने तमाम हिन्दुस्तानी शायरों और साहित्यविदों से लड़ाई मोल ली। लेकिन यह अजीब स्थिति है कि ख़ुद ग़ालिब की फ़ारसी हिन्दुस्तानी फ़ारसी है; और उनकी शायरी 'सब्के-हिन्दी।'[1]

ग़ालिब की फ़ारसी शायरी की महत्ता इसी हिन्दुस्तानियत में निहित है। इनका समय वह है जब हिन्दुस्तान में फ़ारसी शायरी का सूरज लगभग डूब चला था, और ईरानी शायरी फ़क़त भटई और शाब्दिक बाज़ीगरी का शिकार थी। ऐसे ह्रासकालीन युग में ग़ालिब ने फ़ारसी शायरी में व्यापक और गहरे सन्दर्भ में जीवन्त समस्याएँ प्रस्तुत कीं और उसे सार्वभौम और स्थायी मूल्य प्रदान किया। अपनी फ़ारसी शायरी पर ख़ुद ग़ालिब को इतना नाज़ था कि वह अपने उर्दू दीवान को 'मज्मूअए-बेरंग' कहते थे—अर्थात् ऐसा संकलन जिसमें कोई रंग न हो। और फ़ारसी दीवान के बारे में उनका दृढ़ विश्वास यह था कि—यदि काव्य एक धर्म है तो उनका फ़ारसी दीवान उसकी दिव्य वाणी है।

---

१. ईरानी विद्वान् फ़ारसी शायरी की हिन्दुस्तानी शैली को 'सबके-हिन्दी' नाम से अभिहित करते हैं।

फ़ारसी शायरी की तीन परम्पराएँ हैं—(१) ख़रासानी फ़िरदौसी, हाफ़िज़, ख़ैयाम इसी परम्परा के हैं। आज भी यही परम्परा केन्द्रीय और स्तरीय मानी जाती है। सीधी भाषा और स्वाभाविक भावस्थितियों की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। (२) इराक़ी या आज़रबाइजानी। इस परम्परा के बड़े कवि ख़ाक़ानी और निज़ामी हैं। यहाँ दुरूह और क्लिष्ट शैली के दर्शन होते हैं। (३) हिन्दुस्तानी या 'सबके-फ़ारसी',। आरम्भ विशेषतया अकबर के युग से होता है। ईरानियों के कथनानुसार यह शैली स्टैण्डर्ड नहीं: सीधी स्वाभाविक भाषा का अभाव है, भाव पेचीदा हैं, कल्पना की बहुलता है, और दार्शनिकता का प्रदर्शन। भारतीय विद्वानों के अनुसार यह दृष्टिकोण ईरानियों के राष्ट्रीय दम्भ और दृष्टिसंकोच का परिचायक है। वस्तुतः वे अभी हिन्दुस्तानी फ़ारसी शायरी का सही मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ रहे हैं। मगर ईरानी आलोचकों की दुनिया में यह स्थिति अब बदलने लगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़-मा गर्मस्त ईं हंगामा बिनगर शोरे-हस्ती रा
क़यामत मी-दमद अज़ पर्दए-खाके कि इन्साँ शुद

संसार की सारी धमाधमी हमारे दम से है। मनुष्य केवल एक मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला, मगर देखो कैसी क़यामत जगा रहा है।

आराइशे-ज़माना ज़े-बेदाद कर्दा-अंद
हर ख़ूं कि रेख़्त ग़ाज़ा-ए-रूए-ज़मीं शिनास

ऐसा लगता है कि अत्याचार से ही दुनिया की शोभा बढ़ी है। जब किसी का रक्त बहता है तो भूमि के गालों को उबटन की तरह निखार देता है।

बया दरीद गर् ईं जा बुवद ज़बाँदाने,
ग़रीबे-शहर् सख़ुनहा-ए-गुफ़्तनी दारद।

लोगो! मैं तुम्हारे नगर में अजनबी हूँ और कुछ बातें कहना चाहता हूँ। यदि कोई मेरी भाषा समझ सके तो उसे लाओ और मेरी दुःख की कहानी सुनो।

ता बादा तल्ख़तर शवद् औ सीना रेशतर
बिगुदाज़म आबगीना ओ दर-साग़र अफ़गनम्!

मैं आबगीना (शराब का गिलास) पिघलाकर जाम में उँडेल लेता हूँ ताकि उससे शराब की तलख़ी और बढ़ जाये और छाती भी और ज़्यादा छलनी हो जाए।

बादा बवाम ख़ुर्दा-ओ ज़र ब-क़िमार बाख़्ता,
देह् कि ज़े-हर्चे नासज़ास्त हम ब-सज़ा न कर्दाएम्!

अफ़सोस! हमने दुनिया के बुरे काम भी सलीके से नहीं किये। शराब उधार लेकर पी और पैसे जुए में हार गए।

दीगर अज़-ख़ेशम् ख़बर न बुवद्, तकल्लुफ़ बरतरफ़;
ईं-क़दर दानम् कि 'ग़ालिब' नाम यारे दाश्तम्!

सच तो यह है कि अब मुझे अपनी भी ख़बर नहीं। हाँ! इतना याद है कि ग़ालिब नाम का एक मित्र था। अर्थात् मेरा अस्तित्व स्वयं मेरे लिए भूतपूर्व की याद हो गया है।

ता चे-संजम दोज़ख़् ओ कौसर, कि मन् नीज़ ईं चुनीं
आतशे दर-सीना ओ आबे ब-साग़र दाश्तम!

मुझे नरक का भय या कौसर की इच्छा नहीं है, क्योंकि मेरी छाती की अग्नि नरक से कहीं तीव्र है और मेरे प्यारे प्याले की शराब कौसर से अधिक स्वादिष्ट है।

दोश बर-मन अर्ज़ कर्दन्द् इंचे दर-कौनैन बूद
लाँ हमा कालाए-रंगारंग दिल बरदाश्तम्!

कल मेरे सामने सारे संसार का धन रखा गया। मैंने उसमें से केवल एक रंग-बिरंगी चीज़ चुन ली। वह मेरा मन था। मानो यही सारे संसार की सबसे मूल वस्तु है।

परतवे-मह्र सियाहे ज़े-गलीमम् नबरद
साया अम् साया शब् ओ रोज़ बराबर दारम्!

सूर्य का प्रकाश सारी दुनिया को जगमगा देता है अपितु भाग्य की कालिख शेष रहती है। ग़ालिब कहते हैं कि मेरी काली कमली की स्याही सूर्य की किरणों से दूर नहीं होगी। मैं छाया की तरह का अँधेरा हूँ। मेरे लिए रात और दिन बराबर हैं।

आग़श्ताएम् हर सरे-ख़ारे ब-ख़ूने-दिल:
क़ानूने-बाग़बानिए-सहरा नवश्ताएम्!

हमने रेतीले मैदानों की बागबानी का एक नया दस्तूर निकाला है और वह यह है कि हर काँटे की नोक को हृदय के रक्त से सींचा है।

दीदेम कि मय् मस्तिए-असरार न दारद
रफ़्तेम् ओ ब-पैमाना फ़िशर्देम जिगर हम!

जब हमने यह देखा कि शराब से इल्मे असरार (भेदों को खोलने वाला ज्ञान) की-सी मस्ती पैदा नहीं हुई तो हमने उसमें अपने जिगर का रक्त भी निचोड़ दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगर कलीम शवद हमज़बाँ सख़ुन न कुनेम
ब-गर ख़लील शवद मेहमाँ बिगर्दानेम !

यदि आज मूसा भी बात करने के लिए आएँ तो बात न करें। आज यदि इब्राहीम भी अतिथि के रूप में आयें तो उन्हें लौटा दें। आओ फूल बरसायें और मार्ग में पानी के बजाय गुलाब का छिड़काव करें। मदिरा का प्रबन्ध करें और पैमाने गर्दिश में लायें।

नक़्दे-ख़िरदम्, सिक्कए-सुल्ताँ न परीरम्;
जिन्से-हुनरम्, गर्मिए-बाज़ार न दानम !

मैं स्वयं बुद्धि का भंडार हूँ; मैं बादशाही सिक्का लेकर क्या करूँ ? मैं कला का धन हूँ, मुझे बाज़ार के उतार-चढ़ाव से क्या वास्ता ?

ख़ुश बुवद फ़ारिग़ ज़े-बन्दे-कुफ़्रो-ईमाँ ज़ीस्तन ।
हैफ़ काफ़िर मुर्दन् ओ आदख़ मुसल्माँ ज़ीस्तन !

जीवन का वास्तविक आनन्द धर्म तथा अधर्म के बन्धनों से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रतापूर्वक जीने में है । यदि कोई पाखण्डी बनकर मरा तो क्या हानि और धर्मात्मा बनकर जिया तो क्या लाभ !

कौकबम् रा दर-अदम औजे-क़ुबूले बूदा-अस्त;
शोह्रते-शे'रम् ब-गेती बादे-मन् ख़ाहद-शुदन !

मेरे भाग्य का सितारा इस दुनिया के बजाय उस दुनिया में चमक रहा है। इसलिए जब मैं इस दुनिया से कूच करके उस दुनिया में पहुँच जाऊँगा तो मेरी कविता प्रसिद्ध होगी।

न कुश्तम कसे रा ब-अह्रीमनी ।
न बुर्दम ज़े-कस माया दर-रहज़नी ।।
मन् अन्दोहगीं ओ मय् अन्दुहरुबाय ।
चे मी-कर्दम् ए बन्दापर्वर ख़ुदाय !!

मैंने कभी किसी को क़त्ल नहीं किया, किसी के धन पर डाका नहीं डाला। ले-देकर मेरे जीवन में एक शराब है जिससे मुझमें थोड़ी-सी जान आ जाती है।

हिसाबे-मय-ओ-रामिश-ओ-रंग-ओ बूए।
ज़े जमशेद् ओ बहराम् ओ परवेज़ जूए ।।
न अज़्-मन कि अज़-नाबे-मय् गाह-गाह ।
ब-दरयूज़ा रुख़ कर्दा बाशम सियाह ।।

जमशेद, बहराम और परवेज़ जैसे बड़े बादशाहों ने शराब पी और रंगरलियाँ मनाईं; यदि इसका हिसाब लेना है तो उनसे लें। हे भगवान् ! मुझसे क्या हिसाब माँगता है जिसने कभी-कभार एक घूंट उधार माँगकर अपना मुँह काला कर लिया।

चु बज़्मे-इश्रतियाँ ताज़ा-रू तवाँ जोशीद;
चु शम्ए-ख़ल्वतियाँ जाँगुदाज़ बायद बूद।

मनुष्य को चाहिए कि उसके मुख पर सदैव वही ताज़गी बनी रहे जो ऐशो-इशरत की किसी महफ़िल में होती है, लेकिन अन्दर से उसकी आत्मा इस प्रकार घुलती रहे जैसे जलती हुई मोमबत्ती एकान्त में पिघलती रहती है।

'ग़ालिब', ज़े-अज़ीज़ाने-वतन बूदाऽम्, इम्मा—
आवारगी अज़-फ़र्दे-हिसाबम् बदर आवुर्द !

ऐ ग़ालिब ! कभी मैं भी अपनी मातृ-भूमि के सम्बन्धियों के संग रहा करता था, किन्तु देश-विदेश इतना मारा-मारा फिरा कि अब वहाँ के सम्बन्धियों ने अपनी सूची से मेरा नाम निकाल दिया।

लिप्यंतर : मुहम्मद याक़ूब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब का व्यंग्य और हास्य

क़मर रईस

: १ :

हँसना-हँसाना मनुष्य का स्वभाव है। यों तो इसका प्रयोग हर इंसान अपनी हैसियत और हौसले, पात्रता और सुरुचि के अनुरूप करता आया है और करता है; लेकिन ऐसी विशिष्ट हस्तियाँ कभी-कभार ही पैदा होती हैं जो सचेत रूप से और सीधे-सीधे अपना हक़ जताती, और मानो अनजाने, बड़े ही सहज भाव से, इसका प्रयोग इस तरह करती हैं जैसे यह उनके निकट एक मानवीय और पुनीत दायित्व है। हास्य, व्यंग्य या विनोद जब ऐसे किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का करिश्मा होता है तो वह एक सांस्कृतिक मूल्य बन जाता है। ग़ालिब का हास्य-विनोद इसी शालीन और स्वस्थ सुरुचि को आईने की तरह झलकता है।

ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का अधिकार ग़ालिब को यों ही नहीं मिला। उनका जीवन इस बात का साक्षी है कि इसको प्राप्त करने में उन्हें बड़ी आज़माइशों के बीच से निकलना पड़ा है। इस कमाल के विनोदी संस्कार और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए जिस सुरुचि, बुद्धिमत्ता और सजगता की ज़रूरत होती है, वह, इसमें शक नहीं, कुछ तो उनकी प्रकृति का ही हिस्सा थी; लेकिन उसका बड़ा अंश, यक़ीनन, उनके माहौल, उनकी अपनी उपलब्धियों और नित्य-नये अनुभवों की देन था। उच्च स्तर का हास-परिहास—उसकी अभिव्यक्ति चाहे जिस शैली में हो—सौन्दर्य के सच्चे पारखी और यथार्थ का तात्त्विक दर्शन करने वाले के ही यहाँ मिलेगा। लेकिन सौन्दर्य और यथार्थ का तत्त्वदर्शी तो वही होगा जो परिस्थितियों के चक्कर और जीवन की सीमाओं और कमज़ोरियों पर नज़र रखता हो, और जिसकी पैनी दृष्टि भले और बुरे के नाज़ुक-से-नाज़ुक अन्तर को परख लेती हो। बुरे और भद्दे के इसी अन्तर की समझ और सौन्दर्य और यथार्थ के तात्त्विक ज्ञान ने ही ग़ालिब को हँसने का हक़ और हौसला दिया था। सुसंस्कृत आचरण, बौद्धिक जागरूकता और रूढ़ियों से विरक्ति—इन्हीं से मिलकर उनका व्यक्तित्व बना था। उनकी दूरगामी दृष्टि घटनाओं, व्यक्तियों और चीज़ों की तह तक पहुँच जाती थी। उनके चिन्तन और विश्लेषण का ढंग आम लोगों से अलग था। वह पहले हर बात के सच्चे, लाभकर पक्ष का पूरी तरह अन्दाज़ा करते थे; बाद में उसके अच्छे या बुरे होने का फ़ैसला करते। इसी जीवन्त चेतना ने उनके हास्य को सरस-सजीव, सुसंस्कृत और समोज्ज्वल (ताबनाक) बनाया।

यों तो मिर्ज़ा का खुला स्वभाव, उनकी शोख़ी और विनोदप्रियता उनकी उर्दू और फ़ारसी शायरी में भी एक छिपी हुई चंचल मौज-सी अन्दर-ही-अन्दर उभरती और अठखेलियाँ करती रहती है; लेकिन उनके व्यक्तित्व का यह जौहर उनके पत्रों में कहीं अधिक खुलकर सादगी और सहजता के साथ उभरा है। बक़ौल मौलाना हाली वह चीज़, जिसने उनके पत्रों को उपन्यास और नाटक की तरह आकर्षक बना दिया। 'शोख़िए-तहरीर' है।

हाली ने ग़ालिब के व्यक्तित्व की इस विशेषता को एक लतीफ़ और सटीक उपमा द्वारा व्यक्त किया है। लिखते हैं:

> "मिर्ज़ा की तबीअत में शोख़ी ऐसी भरी हुई थी जैसे सितार के तार में सुर भरे होते हैं। और कल्पना-शक्ति, जो काव्य और हास्य की सर्जक है, उसका मिर्ज़ा के दिमाग़ के साथ वैसा ही सम्बन्ध था जैसा उड़ान भरने की शक्ति का पक्षी के साथ।"

यहाँ हाली ने ग़ालिब के स्वभाव की शोख़ी और कल्पना-शक्ति पर समान रूप से ज़ोर दिया है। निस्सन्देह ये विशेष गुण ग़ालिब के व्यक्तित्व, सृजनात्मक क्षमता और हास्य-विनोद की जान हैं। लेकिन इनका मूल स्रोत जीवन से गहरी दिलचस्पी, अनुभवों का वैविध्य और अनुवीक्षण का विस्तृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवेश है। ग़ालिब के हास्य में अक्सर व्यंग्य का पहलू भी होता है जो उनके हास्य को अर्थपूर्ण और उसके प्रभाव को स्थायी बनाता है। लेकिन उनके व्यंग्य में तीखापन या विषाक्तता लेशमात्र नहीं होती। उनकी रचनाओं में निन्दा, दोषारोपण, तानेबाज़ी, मसख़रापन और ठिठोल जैसे शब्दों का सन्दर्भ ढूंढ़ना व्यर्थ प्रयास होगा। ताहम, ऐसा नहीं कि उनके उपहास या व्यंग्य का कोई लक्ष्य न हो। स्वयं आप चारों ओर की परिस्थितियाँ, अन्य व्यक्ति और संस्थाएँ, आचार-व्यवहार के नियम, संस्कृति, क़यामत और जन्नत—तात्पर्य यह कि जीवन की रूढ़ियों और प्रत्यक्ष लक्षणों में शायद ही कुछ बचा हो जिसके क्रूर व्यंग्य या वैचित्र्य या असामान्यता पर उनकी दृष्टि न गयी हो। लेकिन यह उनके अन्तर की स्वच्छन्दता और गहरा मानव-प्रेम था जिसने उनकी अभिव्यक्ति में झुंझलाहट, कटुता और तिरस्कार का अन्दाज़ पैदा होने न दिया।

कहा जाता है कि उच्चकोटि के हास्य-रस का सृजन वही कर सकता है जो स्वयं अपने-आप पर, अपनी विशेषताओं पर हँसने का हौसला और सलीक़ा रखता हो। ग़ालिब ने स्वयं अपनी ही उक्ति के अनुसार अपने-आपको तमाशाई की नज़र से देखा है, और अपने रंग-ढंग, वेष-भूषा आदि पर भी जी खोलकर हँसे हैं। यहाँ तक कि अपने जिस्म के रिसते हुए फोड़ों के बयान में भी अपनी स्वभावगत शोख़ी को हाथ से न जाने दिया, और फोड़ों के बढ़ने के कारण उन्हें अपना जिस्म 'सर्वे-चराग़ाँ' (दीपमालिका वृक्ष-सा) दिखायी देने लगा। एक पत्र में मुंशी नबी बख़्श 'हक़ीर' को लिखते हैं :

> "अटल हक़ीक़त यह है कि मेरा और आपका लहू मिलता है। जब वहाँ एहतिराक़ (जलन, दाह) की शिद्दतें हैं तो यहाँ उसका ज़हूर क्योंकर न हो (अर्थात् वह कैसे प्रकट न हो!) छोटे दानों ने गोल-गोल उभरकर तलवे को चारों तरफ़ से घेर लिया था। एकाएक जैसे एक क़ौम में एक शख़्स अमीर हो जाय, एक दाना उन दोनों में से बढ़ गया और फोड़ा हो गया। ईद के दिन बादशाह के साथ ईदगाह न जा सका···वह फोड़ा पका और फूटा···दो अंगुल ज़ख़्म पड़ गया।"

अपने ज़ख़्मों और तकलीफ़ों पर इस तरह मुस्कराना और दूसरों को हँसाना बड़े ही आला हौसले की बात है। ग़ालिब का सारा जीवन परिस्थितियों का अत्याचार और ज़माने की हृदयहीनता और विरोध ही सहते बीता। उनके जीवन की त्रासदी एक युग और एक व्यवस्था की त्रासदी है। इस घोर विवशता की अभिव्यक्ति ग़ालिब ने एक पत्र में जिस लतीफ़ पैराये में की है वह उनके विनोदी स्वभाव का एक अछूता नमूना है। लिखते हैं :

> "सुनो! आलम (लोक) दो हैं। एक आलमे-अरवाह (आत्माओं का लोक) और एक इस धरती का आलम।···माना कि आम क़ायदा यही है कि धरती के मुजरिम (अभियुक्त) आलमे-अरवाह में सज़ा पाते हैं। लेकिन इसी तरह आलमे-अरवाह के गुनाहगार को दुनिया में भेजकर सज़ा देते हैं। चुनाचे जब ८ रजब सन् १२१२ हिज़री को मुझको रोबकारी (पेशी) के वास्ते यहाँ भेजा, १३ बरस हवालात में रहा। १७ रजब सन् १२३५ हिज़री को मेरे वास्ते जन्मक़ैद का हुक्म सादिर हुआ, और एक बेड़ी मेरे पाँव में डाल दी (विवाह), और दिल्ली शहर को ज़िन्दाँ (बन्दीगृह) मुक़र्रर किया और मुझे इस ज़िन्दाँ में डाल दिया। नज़्म-ओ-नस्र (पद्य और गद्य) को मशक़्क़त (सपरिश्रम दंड) ठहराया। बरसों के बाद मैं जेलख़ाने में से भागा। तीन बरस पूरबी इलाक़े में फिरता रहा। आख़िरकार मुझे कलकत्ते से पकड़ लाये और फिर उसी जेल की कोठरी में बिठा दिया। जब देखा कि यह क़ैदी पाँव तुड़ाकर भागता है, दो हथकड़ियाँ और बढ़ा दीं। (संकेत है दो भानजों के पालन-पोषण के भार की ओर) पाँव से ज़ख़्मी, हाथ हथकड़ियों से ज़ख़्मदार···हुक्म रिहाई देखिये कब होता है।"

प्रतीकात्मक शैली में प्रत्यक्षतः अपने ही ऊपर व्यंग्य है। लेकिन समझने वाले जानते हैं कि यह वास्तविक स्थिति की पीड़ा, प्रतिकूल परिस्थितियों के चक्कर और युग की गुणग्राहकहीनता पर व्यंग्य है, और भरपूर।

सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु एक दारुण घटना होती है। एक दर्दमन्द दिल रखने वाले इन्सान के लिए इस चोट को सहार ले जाना कठिन होता है। ग़ालिब पर भी ऐसी विपताएँ पड़ीं। अपने प्रियजनों और मित्रों से बिछोह पर उनका हृदय भी अक्सर ख़ून के आँसू रोया; मगर दूसरों पर अपने व्यक्तिगत दुःख और नैराश्य को प्रकट करते हुए उन्होंने हमेशा ऐसा लतीफ़ पैराया अपनाया जो पढ़ने वाले के दिल में दुःखद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना की मार्मिक पीड़ा का नक़्श गहरा न होने दे। एक खत में अपनी फूफी की मृत्यु का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"मैं भी तुम्हारा हमदर्द हो गया। मंगल के दिन··· शाम के वक़्त मेरी वह फूफी जिसको मैंने बचपन से आज तक माँ समझा था और वह भी मुझको बेटा समझती थी, मर गई। आपको मालूम है, परसों मेरे गोया नौ आदमी मरे। तीन फूफियाँ और तीन चचा, एक दादी और एक दादा। यानी इस मरहूमा (दिवंगता) के होने से मैं जानता था कि ये नौ आदमी ज़िन्दा हैं, और इनके न होने से मैंने जाना कि ये नौ आदमी आज एक बार मर गये!"

इसी तरह अपने मित्रों के सम्बन्धियों की मृत्यु पर ग़ालिब ने जो संवेदना के वाक्य लिखे हैं, उनका अन्दाज़ भी अछूता और निराला है, उनमें सहानुभूति भी है और संवेदना भी; ढारस और नसीहत की बातें भी, और व्यंग्य-परिहास भी। और ये सारी विशेषताएँ बड़े सुन्दर ढंग से ऐसी स्वाभाविक सहजता के साथ शब्दों में ढल गई हैं कि इसे शुद्ध कलाकृति ही कहा जा सकता है।

एक प्रिय मित्र को उसकी प्रेयसी के निधन पर लिखते हैं :

"सुनो साहब, शायरों में फ़िरदौसी और (सन्त) फ़क़ीरों में बसरी और आशिक़ों में मजनूँ—ये तीन आदमी तीन फ़न में सरे-दफ़्तर (अग्रोल्लेख्य) और पेशवा हैं। शायर का कमाल यह है कि फिरदौसी हो जाय। फ़क़ीर की इन्तहा (पराकाष्ठा) यह है कि हसन बसरी से टक्कर खाये। आशिक़ की नुमूद (वैशिष्ट्य) यह है कि मजनूँ की हमतरही (वैसा होना) नसीब हो। लैला उसके सामने मरी। बल्कि तुम उससे बढ़कर हुए कि लैला अपने घर में मरी और तुम्हारी महबूबा तुम्हारे घर में।"

एक दूसरे पत्र में उसी मित्र को लिखते हैं :

"···किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क़अफ़शानी (आँसू ढालना), कहाँ की मर्सियाख्वानी (सियापे सुनाना)! आज़ादी का शुक्र बजा लाओ। ग़म न खाओ।···मैं जब बहिश्त का तसौवर (कल्पना) करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़रत हो गई (पाप क्षमा हो गये) और क़स्न (महल) मिला, एक हूर मिली : अक़ामत जाविदानी है (वहाँ रहना अनन्त तक है), और उसी एक नेकबख़्त के साथ ज़िन्दगानी है! —इस तसौवर से जी घबराता है और कलेजा मुँह को आता है! है है! वही हूर अजीरन हो जाएगी। वही ज़मुर्दी काख (रत्नजटित भवन) और वही तूबा ('कल्पतरु') की एक शाख! चश्मे-बद दूर—वही एक हूर!! भाई होश में आओ! कहीं और दिल लगाओ!"

यह उद्धरण सिर्फ़ चुटकियाँ लेने की शैली का नहीं। इसकी तह में कुछ ठोस बातें भी हैं। मनुष्य स्वभाव से ही नित-नये का प्रेमी है। आत्मिक सन्तोष और बुद्धि के सम्यक् विकास के लिए वह जीवन और प्रकृति के सौन्दर्यमूलक क्रिया-कलापों को हर रूप और रंग में देखना और उनसे आनन्द की उपलब्धि करना चाहता है। लेकिन रूढ़ आचार-विचार और कृत्रिम शिष्टाचारों के बन्धन इस उपलब्धि में बाधक होते हैं। यहीं से ग़ालिब का ध्यान धर्म, पापमोक्ष, स्वर्ग आदि की उन प्रचलित धारणाओं की ओर मुड़ जाता है जो आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता, लोभ, तृष्णा, लोलुपता, वासना आदि कुप्रवृत्तियों को उकसाने और उन्हें फैलाने का माध्यम रही हैं। व्यंग्य और परिहास का यह मार्मिक अन्दाज़ सिर्फ़ ग़ालिब का हिस्सा था। लेकिन इससे लुत्फ़ उठाने का हौसला वही पाठक कर सकते हैं जो मार्मिक सुरुचि रखते होंगे और जिनकी दृष्टि संकुचित न होगी।

ग़ालिब का जीवन मानव-प्रेम, दर्दमन्दी, साहसिकता और निर्भीकता की एक ऐसी कथा का पृष्ठ सामने रखता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। झूठा दिखावा और चाटुकारिता इनकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप थी। उन्हें रुसवाई, अपमान और आत्मपीड़न स्वीकार्य था, लेकिन यह सह्य न था कि अपने व्यक्तित्व को दुनिया के सामने इस रूप में पेश करें जो वह वस्तुतः नहीं है और न हो सकता है। इसलिए अपनी कोताहियों और कमज़ोरियों को स्वीकार भी उन्होंने खुलकर और पूरी आश्वस्तता के साथ किया है। यही आश्वस्तता और सज्ञानता उनकी अछूती कल्पना और मोहक शैली के साथ मिलकर उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

रमज़ान के महीने में एक खत में लिखते हैं :

"धूप बहुत तेज़ है। रोज़ा रखता हूँ मगर रोज़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहलाता रहता हूँ। कभी पानी पी लिया, कभी हुक्का पी लिया। यहाँ के लोग अजीब फ़हम (समझ) रखते हैं। मैं तो रोज़ा बहलाता हूँ और ये साहब फ़रमाते हैं कि तू रोज़ा नहीं रखता। यह नहीं समझते कि रोज़ा रखना और चीज़ है और रोज़ा बहलाना और बात है।"

पेंशन बन्द हो जाने पर लम्बे अर्से तक ग़ालिब को बड़ी दिक्कतों और मुसीबतों का सामना रहा। गुज़र-बसर मुश्किल से होती थी। इस दौरान में मित्र लोग अक्सर पूछते रहते थे। मीर महदी के ऐसे ही किसी सवाल के जवाब में लिखते हैं :

"मियाँ बे-रिज़क़ (बे-रोज़ी) जीने का ढब मुझको आ गया है। इस तरफ़ से ख़ातिर जमा रखना। रमज़ान का महीना रोज़े खा-खाकर काटा। आगे ख़ुदा रज़्ज़ाक (दाता) है। कुछ और खाने को न मिला तो ग़म तो है।"

यहाँ उनकी तीव्र अनुभूति ने जिस लतीफ़ और तीखे व्यंग्य का रूप ले लिया है उसको स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८५७ की मार-काट और तबाही और बर्बादी ने ग़ालिब पर गहरा प्रभाव डाला था। बक़ौल ग़ुलाम रसूल 'मेहर'—"उनके उर्दू ख़तों के दामन का हर गोशा उन सख्तियों और यातनाओं पर आँसुओं से तर नज़र आता है जो अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर और बाग़ी हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों विशेषकर उनकी मासूम औरतों और बच्चों पर ढा रखी थीं।" ग़ालिब के ये मातमपुर्सी वाले पत्र उनकी शान्ति की आकांक्षा और मानव-प्रेम का प्रत्यक्ष आईना हैं। उन्होंने दिल्ली में ख़ून की नद्दी पार की : लेकिन इस आलम में भी उनकी बुद्धि का पैनापन और चापल्य कतिपय व्यक्तियों और घटनाओं का मज़ाक उड़ाने से बाज़ न आया। मीर महदी 'मजरूह' की आँखें दुखने आयी हैं। उन्हें पत्र लिखते समय उसके 'असली' कारण की ओर इस प्रकार लक्ष्य करते हैं :

"चश्मे-बीमार ऐसी चीज़ है जिसकी कोई शिकायत करे?···तुम्हारी आँखों के ग़ुबार की वजह यह है कि जो मकान दिल्ली में ढाए गए और जहाँ-जहाँ सड़कें निकलीं, जितनी गर्द उड़ी उसको आपने अज़-राहे-मोहब्बत अपनी आँखों में जगह दी।"

इस लतीफ़ 'टिप्पणी' से एक तरफ़ तो दिल्ली से ग़ालिब की मोहब्बत और उसकी तबाही पर उनके क्लेश और पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है, और दूसरी तरफ़ उसमें उन व्यक्तियों पर व्यंग्य का पहलू भी छिपा हुआ है जिन्होंने पुरानी देहली के मटियामेट होने के ग़म को ज़िन्दगी का रोग बना लिया था। ब्रिटिश सत्ता के अधीन निर्माण-कार्यों का एक नया सौंदर्य, और विकास और उन्नति की जो नई सम्भावनाएं सामने आ रही थीं, वह खुले दिल से उनका स्वागत कर रहे थे। बेशक ग़ालिब ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अंग्रेज़ हाकिमों की प्रशस्ति में क़सीदे कहे, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें इन विदेशियों के शासनोन्माद और निरंकुश दमन-चक्र का एहसास नहीं था। उस व्यापक पकड़-धकड़ के ज़माने में, ज़ाहिर है, वह खुलकर इसको व्यक्त नहीं कर सकते थे। लेकिन व्यंग्य-उपहास के पर्दे में कहीं-कहीं उनका आन्तरिक भाव और दृष्टिकोण झलक उठा है। एक पत्र में मिर्ज़ा अलाउद्दीन अहमद ख़ाँ को लिखते हैं :

"सुनते हैं कि नवम्बर में महाराजा अलवर को अधिकार मिलेगा। मगर वह अधिकार ऐसा होगा जैसा कि ख़ुदा ने खल्क़ (प्राणि-मात्र) को दिया है। सब-कुछ अपने कब्ज़ए-क़ुदरत में रक्खा—आदमी को बदनाम किया।"

सन् १८५७ का हंगामा दबने के बाद बेगुनाह हिन्दुस्तानियों पर जो ज़ुल्म ढाये गए, ग़ालिब ने कहीं उपमा के सहारे और इशारों में, और कहीं लतीफ़ चुटकुलों के रंग में उनकी ओर संकेत किया है। मसलन्, देहली में एक हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श थे, जो हाफ़िज़ मम्मू भी कहलाते थे। जेल से रिहाई पाने और बेगुनाह साबित होने के बाद उन्होंने अपनी जायदाद के वापस मिलने के लिए दरख़ास्त दी।

ग़ालिब लिखते हैं :

"हाकिम ने पूछा—'हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श कौन?' अर्ज़ किया—'मैं!' फिर पूछा कि—'हाफ़िज़ मम्मू कौन?' अर्ज़ किया कि—'मैं! असली नाम मेरा मोहम्मद बख्श है। मम्मू-मम्मू मशहूर हूँ।' फ़रमाया—'यह कुछ बात नहीं! हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श भी तुम और हाफ़िज़ मम्मू भी तुम! सारा जहान भी तुम, जो दुनिया में है वह भी तुम! हम मकान किसको दें!?" मिसल दाख़िल-दफ़्तर हुई। मियाँ मम्मू अपने घर चले आये।"

यह एक घटना का नाटकीय लेकिन सीधा-सादा वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लेकिन इसकी तासीर यह है कि इसको पढ़ने या सुनने वाला अन्दर-ही-अन्दर मुस्कराये बिना नहीं रहता। उसका दिल एक हलकेपन और प्रसन्न भाव से भर जाता है। लेकिन इस घटना के पर्दे के पीछे अंग्रेज़ हाक़िमों के 'न्याय' पर जो व्यंग्य है वह भी अपना काम करता रहता है और अवचेतन रूप से पाठक की भावना में मानों एक ऐतिहासिक सत्य की तहें खुलने लगती हैं।

ग़ालिब की हास्यप्रियता शब्दों की बाज़ीगरी या उनका अनोखा ताल-मेल नहीं, बल्कि जीवन का एक दर्शन है। उनका उद्देश्य हँसाना या प्रसन्न करना नहीं, बल्कि कुछ कहना, बताना और समझाना भी होता है। यह 'हास्य' उनकी शैली में नहीं, उनके सोचने और देखने के अन्दाज़ में होता है। वह इसलिये नहीं सोचते थे कि उन्हें कुछ कहना या लिखना था बल्कि इसलिए कहते और लिखते थे कि उन्होंने जो कुछ देखा, सोचा और समझाया वह इस योग्य था कि उसे दूसरों तक पहुँचाया जाए। वह जीवन की साधारण घटनाओं और सामान्य या छोटे इन्सानों की गतिविधि का अध्ययन बहुत डूबकर और दिलचस्पी से करते थे। व्यक्ति की सीमाओं से दिलचस्पी और उसके महत्त्व का एहसास जो उपन्यास-रचना का प्रेरक और आधार-वस्तु होता है उर्दू में सबसे पहले ग़ालिब की कृतियों में ही नज़र आता है। मसलन् एक पत्र में 'बी वफ़ादार' का खाका इस तरह खींचते हैं :

"बी वफ़ादार बाहर निकलती हैं। सौदा तो क्या लाएँगी, मगर खलीक़ (मुरौवती) और मिलनसार हैं। रास्ते चलतों से बातें करती फिरती हैं। जब वह महल से निकलेंगी, मुमकिन नहीं कि नहर की तरफ़ की सैर न करें। मुमकिन नहीं कि दरवाज़े के सिपाहियों से बातें न करें। मुमकिन नहीं कि फूल न तोड़ें और बीबी को जाकर न दिखाएँ और न कहें कि यह फूल तुम्हारे चाचा के बेटे की 'काई' के हैं। यानी, तुम्हारे चाचा के बेटे की क्यारी के हैं।"

यह एक जीवन्त पात्र की गतिविधि का यथार्थवादी अध्ययन है। यहाँ न कल्पना का अनोखापन है और न उनकी चंचल, शोख शैली। लेकिन इसके बावजूद हर खाके में ग़ालिब ने अपने अनुवीक्षण के अछूतेपन और नैरंगी से कुछ ऐसे रंग भर लिये हैं जो पाठक के दिल को एक कैफ़ और आनन्द से भर देते हैं।

: २ :

ग़ालिब की शायरी भी इस जौहर से खाली नहीं जिसकी मिसालें हम अब तक उनके गद्य से देते आये हैं। ऐसा मुमकिन ही नहीं हो सकता। दरअस्ल पत्रों में सामने आने वाले व्यंग्य-विनोद के तत्त्वों पर इसलिए ज़ोर दिया है, कि उर्दू गद्य के साहित्य में इसका पहला नमूना ग़ालिब के पत्रों में ही नज़र आता है; जब कि शायरी में उनसे पहले सौदा और इन्शा राह बना गये थे। अगर्चे इन दोनों के हास्य और व्यंग्य में परनिन्दा का अंश अधिक है : यानी, अक्सर उन्होंने अपने किसी समकालीन से रुष्ट और खिन्न होकर उसका मज़ाक़ उड़ाया है, इसलिए उनके यहाँ सामाजिक तत्त्व कम और व्यक्तिगत पक्ष अधिक है। दूसरे यह कि उनके व्यंग्य का स्तर और साहित्यिक पक्ष बहुत ऊँचा नहीं। वे अक्सर फक्कड़पन, गाली-गलौज और कड़वी झल्लाहट पर उतर आते हैं। ग़ालिब ने किसी की निन्दा में कभी कोई रचना नहीं की। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा नहीं था कि वह किसी से नाराज़ होकर उसका मज़ाक़ उड़ाते या उसकी मर्यादा को चोट पहुँचाकर उसे दुखी करते। हाँ, उन्होंने अपने चारों ओर फैली हुई सामाजिक बुराइयों, सड़ी-बुसी मृत आस्थाओं और परम्पराओं, और स्वयं अपने जीवन, अपने दुखों और अपने अभावों का मज़ाक उड़ाया है। लेकिन यह सब-कुछ ऐसे ऊँचे स्तर से, ऐसे लतीफ़ इशारों में और इतने अछूते अन्दाज़ से उनकी शायरी में मिलता है कि उसका पूरा आनन्द उठाने के लिए भी काफ़ी रची हुई कलात्मक सुरुचि की ज़रूरत है।

ग़ालिब ने अक्सर 'ज़ाहिद' (कर्मकाण्डी), 'वाइज़' (उपदेशक), 'शैख' (धर्मगुरु) और 'मुहतसिब' (निषेध-अधिकारी) को अपने व्यंग्य-बाणों का निशाना बनाया है, जो जागीरदारी व्यवस्था में वस्तुतः सामाजिक अत्याचारों के समर्थक, प्रतीक स्वरूप बन गये थे; जो दूसरों को गुनाह करने से रोकते लेकिन खुद छिपकर और जी भरकर गुनाह करते थे और बादशाहों और अमीरों के अच्छे-बुरे कार्य-साधन में सहायक होते थे। मसलन् यह शे'र देखिये—

कहाँ मयखाने का दरवाज़ा 'ग़ालिब' और कहाँ वाइज़!
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले!

× × ×

क्यों रद्दे-क़दह करे है, ज़ाहिद !
मय है य' : मगस् की क़ै नहीं है !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—ज़ाहिद शराब का प्याला पीने से रोकता है, तो ग़ालिब प्यार से समझाते हैं, कि : भाई, यह शराब है; मक्खी की क़ै, यानी शहद की तरह की कोई गन्दी चीज़, नहीं ! (जबकि ज़ाहिद इसी उम्मीद पर जीता है कि उसे जन्नत में शराब के बजाय पीने के लिए शहद मिलेगा !) इस तरह के बहुत से बा-मज़ा और तीखे शे'र दीवाने-ग़ालिब में मिलते हैं।

यह बात ढकी-छिपी नहीं कि ग़ालिब रूढ़ि-मात्र और दिखावे के मज़हब से ऊब चुके थे। जीवन के बारे में उनका सामान्य रवैया और दृष्टिकोण बड़ी हद तक बौद्धिक और यथार्थवादी था। इस जीवन के बाद किसी दूसरे जीवन की कल्पना से उन्हें घिन आती थी। इसलिए उन्होंने इस सामान्य विश्वास का बार-बार और अच्छी तरह मज़ाक उड़ाया है कि आदमी मरने के बाद अपने कर्मों का हिसाब देगा, और तब उसे जन्नत या जहन्नुम (स्वर्ग या नरक) में भेजा जाएगा। यह शे'र देखिये—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त, लेकिन
दिल के खुश रखने को ग़ालिब य ख़याल अच्छा है !

× ×

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों
ऐसी जन्नत को क्या करे कोई !

लेकिन इनसे ज्यादा दिलचस्प और लतीफ़ शे'र वो हैं जिनमें मरने के बाद खुदा से ग़ालिब का संवाद होता है, और जहाँ ग़ालिब खुद अपने अभावों पर दर्द भरा व्यंग्य करते हैं।

पकड़े जाते है फ़रिश्तों के लिखे पर नाइक़ !
आदमी कोई हमारा दमे-तहरीर[1] भी था ?

× ×

नाकर्दा[2] गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद,
यारब ! अगर इन कर्दा गुनाहों की सज़ा है !

× ×

आता है दाग़े-हसरते-दिल काशुमार[3] याद
मुझसे मेरे गुनह का हिसाब, ए खुदा, न माँग !

आखिरी शेर में ग़ालिब कैसे लतीफ़ अन्दाज़ में खुदा से विनती करते हैं कि—ए खुदा मुझसे मेरे गुनाहों का हिसाब न माँग ! इसलिए कि मुझे अपनी वह हसरतें या वो 'गुनाह' याद आ जाते हैं जो दुनिया में मैं नहीं कर सका। अपनी दुख-भरी जिन्दगी, अपनी विपन्नता और अपनी लाचारी और अपनी मजबूरी का कैसा अथाह दर्द इस शे'र में छिपा हुआ है!

ग़ालिब जानते थे कि नमाज़-रोज़ा और 'ज़कात' (दान-पुन्न) एक मुसलमान के लिए परम आवश्यक और पवित्र कर्तव्यों में से है। लेकिन उन्हें एहसास था कि इन कर्तव्यों को पूरा करने के लिए पैसा चाहिये, साज़-सामान चाहिए। इसलिए ये पवित्र कर्तव्य सिर्फ़ धनी-मानी लोग ही पूरा करके ईश्वर के प्रिय पात्र हो सकते हैं। रोज़े के बारे में यह शे'र देखिये :—

जिस पास रोज़ा खोलने-खाने को कुछ न हो
रोज़ा अगर न खाय तो नाचार क्या करे !

× ×

सामाने-खुरो-ख्वाब[4] कहाँ से लाऊँ !
आराम के असबाब कहाँ से लाऊँ !
रोज़ा मेरा ईमान है, लेकिन 'ग़ालिब',
ख़सख़ाना-ओ-बर्फ़ाब[5] कहाँ से लाऊँ !

मैं ऊपर कह आया हूँ कि ग़ालिब को चिन्तन का यह अत्यन्त रोचक और साहसिक ढंग—मान्य विश्वासों, रीतियों रूढ़ियों और स्वयं ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का यह ढंग—उसी वक्त मिला जब उन्होंने ज़िन्दगी को आँखें खोलकर और उसमें घुल-मिलकर देखा, और फिर उससे अलग होकर, ऊपर उठकर उस पर ग़ौर किया; उसे एक तमाशा समझा। इसीसे उन्हें जीने का हौसला मिलता रहा। वर्ना इतने दुःख-दर्द उठाकर ग़ालिब जैसा भाव-प्रवण आदमी पागल हो जाता। अक्सर वह स्वयं अपना मज़ाक भी उड़ाता और अपना तमाशा भी देखता और मज़ा लेता है।

थी ख़बर गर्म कि ग़ालिब के उड़ेंगे पुर्ज़े;
देखने हम भी गये थे प तमाशा न हुआ।

× ×

चाहते हो खूबरूयों[6] को 'असद'।
आपकी सूरत तो देखा चाहिये !

× ×

मैंने कहा कि—'बज़्मे-नाज़।[7] चाहिये ग़ैर से तही।'[8]
सुनके सितमज़रीफ़[9] ने मुझको उठा दिया, कि-यों !

× ×

तंगदस्ती[10] अगर न हो 'ग़ालिब'
तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत है !

इस तरह के अनगिनत शे'र ग़ालिब के दीवान में मिल जाएँगे, जिनमें उनकी रूह का दर्द उनके स्वभाव की ताज़गी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुलेपन और ज़िन्दादिली में डूबकर उभरा और निखरा है।

सारांश यह है कि ग़ालिब के मिज़ाज की शोख़ी और हास्य वह नहीं जो वास्तविक और यथार्थ को नज़रअन्दाज़ करने या उसे बिगाड़कर पेश करने से पैदा होता है। यह हास्य उनका स्वभाव है और यह व्यंग्य उनके मौलिक दृष्टिकोण में है।

वह यथार्थ और वास्तविक की गहरी पकड़ से शोख़ी पैदा करते हैं। उनके होंठों पर वह मुस्कराहट है जिसे हम आंसुओं का इत्र कह सकते हैं और जो दुःख की पराकाष्ठा पर आ जाने से पैदा होती है। ख़ुशी में हँसना और दुःख में रोना तो इन्सान के स्वभाव में ही है। यह कोई असामान्य बात नहीं। रोज़ देखने में आता है। लेकिन मुसीबत में मुस्कराना और क़ुल-क़ुल करते हुए ढलती शराब के पीछे रोने का स्वर पहचान लेना हर आदमी के वस की बात नहीं। यह बात ग़ालिब ही के हिस्से में आई है।

अनुवादक : **शमशेर बहादुर सिंह**

१. लेखनी चलते समय। अर्थात् जब हमारे कर्मों का लेखा दर्ज करते समय फ़रिश्तों की लेखनी चल रही थी।
२. जो नहीं किये गए। (कर्दा, जो किये गए।)
३. गिनती।
४. पीने-खाने और सोने का आरामदेह सामान।
५. खस की टट्टी से ठण्डा किया गया कमरा और बर्फ़ का पानी।
६. सुन्दर, आकर्षक व्यक्ति।
७. ए नाज़ के स्वयं में ही सौन्दर्य-सभा !
८. किनाराकशी। बचना।
९. वह जिसके सितम में भी व्यंग्य-परिहास का पुट है।
१०. विपन्नता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब के गद्य के नये आयाम

क़ाज़ी अब्दुल सत्तार

ग़ालिब के रचनात्मक गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण उनके पत्र हैं। उर्दू कविता के प्रथम आलोचक और कवि ग़ालिब के पहले प्रशंसक 'हाली' ने अपनी पुस्तक के सैकड़ों पृष्ठों में से कुछ पृष्ठ ग़ालिब के उस गद्य-साहित्य को अर्पित किए जो उर्दू के आधुनिक रचनात्मक गद्य का प्रथम सुन्दर उदाहरण है। छोटे-छोटे वाक्यों के इन बीस पृष्ठों में भी गद्य के कथ्य और उसकी कला से अधिक पत्र-रचना की कला और उसके वर्ण्य विषय पर बहस की गई है। गद्य के वे अमर नमूने, जिन पर कोई भी गद्यकार ईर्ष्या कर सकता है, बहस में सम्मिलित तो हैं लेकिन इस तरह कि घरेलू सम्बन्धों और हास्य-व्यंग्य के भारी पर्दों में कुचलकर रह गए हैं।

ग़ालिब के गद्य को कोई बिजनौरी नहीं मिला जो उनकी कला की प्रशंसा करता। हमारा युग हकीमुद्दीन अहमद, विकार अज़ीम और असलम फ़र्रुख़ी की रचनाओं से गद्य की आलोचना से परिचित तो हुआ किन्तु ग़ालिब तक नहीं पहुँच पाया। हमारे रास्ते की सबसे बड़ी दीवार काल्पनिक है जिसे गद्य की कसौटी कहा गया है, अर्थात् सादगी—सादगी अपने में कोई मूल्य नहीं है, यह एक अतिरिक्त मूल्य है। मेरे लिए सादगी का अर्थ वह चातुर्य है, जिस तक आसानी से न पहुँचा जा सके, जिस पर सादगी का धोखा हो, देखने में तो ऐसा लगे कि सादा है लेकिन है सजी हुई।

कौन है जो ताज की सादगी को अस्वीकार करता है और कौन है जो ताज के चातुर्य की क़सम नहीं खाता। हाली ने जब सादगी को मूल्य के रूप में स्वीकार किया, उसको बढ़ावा दिया और उसकी व्याख्या की तो उनके सामने रज्जब अली बेग सुरूर और उनकी कला के शागिर्दों का गद्य था, जो बाह्य-प्रदर्शन और अतिशयोक्ति-वर्णन में इतना मग्न था कि तलवार के बजाय पैंतरे पर ही सन्तुष्ट हो गया था। दूसरी ओर मीर अम्मन और उनके सहयोगियों का गद्य था जिसे मुहावरे और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों ने अशक्त कर दिया था, न केवल यह बल्कि सर सैयद और उनके सहयोगियों के सामने रचनात्मक गद्य के जो नमूने थे उनका अनुकरण करते हुए जानवरों और उड़ते हुए कालीनों, भूत-प्रेतों और परियों, सौदागरों की बेटियों और शहज़ादियों के काल्पनिक जीवन की अविश्वसनीय कहानियाँ घेरे हुए थीं और कौम को रचनात्मक गद्य के स्थान पर लाभदायक गद्य की आवश्यकता थी जो पत्रकारिता की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता हो और सामाजिक समस्याओं के हल करने की क्षमता रखता हो। इस पृष्ठभूमि में 'सादगी' का नारा अज़ान के समान पवित्र था। सादगी के इस मूल्य को रोमेन्टिक आन्दोलन 'गुलाबी' उर्दू और गद्य में कविता करने की प्रवृत्तियों ने 'क्लासिकी' मूल्य में बदल दिया, अर्थात् उस गद्य से, जो सृजन के लिए उतारा गया था, आलोचना का कार्य लिया गया और जब इस काम में असफलता हुई तो कहा गया कि यह गद्य आलोचना के लिए उपयुक्त नहीं है। अवश्य ही यहाँ भी सादगी की दुहाई स्वागत के योग्य है और उपादेय है किन्तु धीरे-धीरे यही पवित्रता और उपादेयता जुल्म बनकर रह गई। हम रचनात्मक गद्य की वैयक्तिकता और आलोचनात्मक गद्य की उपादेयता में अन्तर न कर सके। हम भूल गए कि आलोचना में गद्य का पहला कर्तव्य विचार को समझाना, स्पष्ट करना और निष्पक्ष व्याख्या करना होता है। इस काम को पूरा करने में सादगी सहायक भी सिद्ध होती है लेकिन रचनात्मक गद्य में, गद्य का कार्य केवल यही नहीं है कि वह विचार को पाठक या श्रोता तक केवल पहुँचा दे, बल्कि गद्य का कर्तव्य है कि कलाकार के विचार को उसकी पूरी शक्ति, विस्तार, गहराई, प्रभाव एवं सौन्दर्य-सहित पाठक के हृदय में उतार दे अर्थात् आलोचनात्मक गद्य संदेश-वाहक है और रचनात्मक गद्य ईशदूत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब मैं ग़ालिब के पत्रों को आधुनिक गद्य का प्रथम सर्वोत्तम उदाहरण कहता हूँ तो आधुनिक शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयोग करता हूँ जिन अर्थों में 'हाली' और 'आज़ाद' आधुनिक कवि कहे जाते हैं। हाँ, रचनात्मक गद्य के प्रश्न पर कुछ विचार करना चाहता हूँ—उदाहरणार्थ—पत्थर एक ऐसा शब्द है जो हमारे कानों से टकराकर अर्थ के कितने रूपों को जन्म दे डालता है। पत्थर जो गेहूँ को पीसकर आटा बनाता है, पत्थर जो सभ्यता, कला को छिपाए हुए है, पत्थर जो फ़सलों को उजाड़ देता है। पत्थर जो पेट में उतरकर ज़िन्दगी को चाट लेता है, पत्थर जो छोटा होते हुए भी बाज़ार की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु होता है और यह सब होते हुए भी पत्थर होता है। ठीक इसी प्रकार गद्य के बहुत-से अर्थ हैं, विभिन्न श्रेणियाँ हैं, स्तर हैं, विविध विशेषताएँ हैं। गद्य वह भी है जो केवल माध्यम है, और गद्य वह भी है जो केवल मात्र माध्यम भी नहीं है, उदाहरणार्थ—जब बच्चा 'मम' कहता है तो हम उसे पानी पिला देते हैं, गद्य वह भी है जिसके द्वारा हम प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। गद्य वह भी है जिसे संवाददाता लिखकर और अखबार में पढ़कर भुला देता है, क़ुरान की वे आयात भी गद्य के अंचल की कुछ बिजलियाँ हैं जिन्हें प्रार्थना करते समय हम अपने होंठों से उच्चारित करना आवश्यक समझते हैं। और गद्य वह भी है जो रहस्यात्मक, दार्शनिक, धार्मिक, आचार-व्यवहार-सम्बन्धी, राजनीतिक और सामाजिक, आलोचनात्मक एवं रचना की समस्याओं से बहस करता है, तथा जिसको पढ़कर हम आचार-व्यवहार की व्यवस्था का समर्थन या विरोध करते हैं।

अस्तु, गद्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले हमारा कर्त्तव्य है कि यह मालूम करें कि गद्य को किस उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। यदि गद्य से केवल माध्यम का कार्य लिया है तो उसकी एक श्रेणी है और यह 'प्रोज़मीडियम' है और यह वह गद्य है जो इस भूमंडल पर हर घड़ी करोड़ों ज़बानों से झरनों के समान फूटती रहती है। यदि गद्य से केवल सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करने का काम लिया गया है तो यह गद्य ज्ञानवर्धक, सूचनात्मक और उपादेय गद्य है जो इस रूप में टाइपराइटर का काम करता है और मानवजाति के लिए उसकी उपादेयता होना सर्वमान्य है, और गद्य की यह दूसरी श्रेणी है। यदि गद्य शास्त्रों की व्याख्या करता है, तो यह गद्य की तीसरी श्रेणी है और शास्त्रीय गद्य है और यदि गद्य सृजन का उत्तरदायित्व निभाता है तो यह गद्य की चौथी और अन्तिम श्रेणी है और रचनात्मक गद्य है। यही वह स्थल है जहाँ गद्य साहित्य की सीमा में आता है।

ग़ालिब के पत्र केवल मात्र पत्र नहीं हैं, ये पत्र एक ऐसे महान् कलाकार के हृदय और मस्तिष्क की दशाओं का गतिमान हैं, जिसके सीने में मुग़ल सभ्यता का सूर्य छिपा था और पत्र जो गद्य का रूप धारण किए है, वह ऐसा सुन्दर और जीवन्त है कि उसके सामने हमारे बड़े-बड़े कारनामों की आँख झपक जाती है।

ग़ालिब ने कला के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले के समान अपने समय की परम्परा के विरुद्ध अपनी कल्पना की उड़ान के द्वारा काव्य-विषयों का कैनवस विस्तृत किया। सामान्य प्रचलित शब्द-समूह को समृद्ध किया। मुहावरों के दिन-प्रतिदिन की भाषा के शब्दों के वस्त्र उतारकर फ़ारसी की भारी किन्तु विचारोत्तेजक तरक़ीबें गढ़ी हैं, नई उपमाएँ ढूँढ़ीं, नये रूपकों या पूर्वप्रयुक्त रूपकों के नवीन प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार अपने समय के गद्य में नवीन पद्धति शैली की नींव डाली। ग़ालिब के गद्य की जो परम्परा मिली वह वर्णन-शैली में सानुप्रासिकता, सजावट को महत्त्व देती थी। ठीक है, 'बाग़ोबहार' ने सरल गद्य को रचनात्मक पवित्रता दी थी। लेकिन इस गद्य पर मुहावरों की छाप और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों की मुहर लगी हुई थी। पदावली, सानुप्रासिक न सही किन्तु बराबर के वाक्यों से बोझिल थी। किसी सीमा तक साधारण उपमाओं, रूपकों के भार से दबी हुई थी। सामूहिक रूप से यह गद्य श्रेष्ठ नहीं था और इसका कथ्य 'ग़ालिब' के अहंवाद को—जो उनके व्यक्तित्व का अंग था—आकर्षित न कर सकता था। मीर अम्मन के विपरीत रज्जब अली बेग सुरूर थे जो अनुप्रासात्मक, संस्कृत गद्य-शैली के अग्रदूत थे, जिनकी कला की प्रशंसा 'ग़ालिब' ने भी की थी। अनुमान है कि यदि सुरूर गद्य की इस शैली को उठा न चुके होते तो 'ग़ालिब' इस ओर आकर्षित होते। इनका इस ओर आकर्षित न होने का कारण सुरूर की बड़ाई में नहीं बल्कि 'ग़ालिब' के उस अहंवाद में अन्तर्निहित है जो किसी के पदचिह्नों पर चलने में अपना अपमान समझता है, जो महामारी में मरना भी अपना अपमान मानता है। केवल यही नहीं 'सुरूर' की शैली उपमा, रूपक, दृष्टान्त और प्रतीक के प्रयोग पर बल देती थी। सानुप्रासिकता-प्रदर्शन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए गद्य लिखना और अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए लिखते चले जाना 'सुरूर' की आदत थी। 'सुरूर' यह तो जानते थे कि उनको क्या कहना है, लेकिन यह नहीं जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है और 'ग़ालिब' यह खूब जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है। इस ज्ञान एवं विस्तृत अध्ययन एवं अनुभव ने 'ग़ालिब' को गद्य की एक नई शैली प्रदान की जिसने एक ओर मीर अम्मन की सीधी-सादी गद्य-शैली और दूसरी ओर 'सुरूर' की कलात्मकता को स्वीकार किया। यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है अर्थात् सुरूर की कलात्मकता का संघटन यदि खोल दिया जाए तो प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से उपमा, रूपक और दृष्टान्तों पर दृष्टि स्थिर हो जाती है और प्रभाव के इस जादू का मंत्र उपमा की बजाय रूपक और किसी हद तक दृष्टान्तों में छिपा हुआ है। रूपक एवं दृष्टान्त केवल सुरूर ही की कला में दृढ़ स्थान पाए हुए नहीं हैं बल्कि उर्दू के रचनात्मक गद्य में आरम्भ से ही इनको स्थान मिला है। चाहे वे संस्कृत की सुन्दर कहानियाँ हों या सूफ़ी महात्माओं की पवित्रोक्तियाँ, 'सबरस' हो या 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' हो, 'बाग़ोबहार' हो या 'फ़सानए अजायब'—हर कृति रूपकों एवं दृष्टान्तों से रंजित है।

'ग़ालिब' में जो महान् कलाकार छिपा हुआ था उसने उर्दू गद्य में प्रचलित रूपकों और दृष्टान्तों के अध्ययन से यह ज्ञात कर लिया था कि इनके रचयिता आकाश के तारे तोड़ लाते हैं, किन्तु उसका पहनना नहीं जानते अर्थात् उर्दू गद्य की यह कला उस निर्बल, कृश स्त्री के समान है जो मोटे-मोटे जड़ाऊ गहनों और भारी काम के वस्त्रों के बोझ से हाँप रही हो। इसलिए 'ग़ालिब' ने रूपक, दृष्टान्त का प्रयोग अपने समकालीन और अपने पूर्वजों की लीक से हटकर उस सूक्ष्म-विस्तार को छोड़ दिया जो रूपकों और दृष्टान्तों को पँवारने के बजाय उनको सीमित, लज्जित और पंगु कर देता है।

'ग़ालिब' अपने आधुनिक रचनात्मक गद्य की कलात्मकता में इसलिए भी सफल हो सके हैं कि उन्होंने यह गद्य उस समय लिखा जब 'ग़ज़ल' की कला में, जो संकेतों की कला है, अपने बाल सफ़ेद कर चुके थे, बड़ी मंज़िलें तय कर चुके थे। वह प्रसिद्ध पत्र, जिससे 'हाली' ने 'ग़ालिब' के घरेलू सम्बन्धों को ज्ञात किया था और वास्तव में जिसमें ग़ालिब ने अपने जीवन का दुःख सजाया था, यदि वह पत्र प्रकट न होता तो उर्दू के सबसे महान् गद्यकार मुहम्मद हुसेन आज़ाद का प्रसिद्ध लेख 'शुहरत-ए-आम, बक़ाए-दोआम' न लिखा जाता या इस रूप में न लिखा जाता। इसी प्रकार आज के गद्य पर भी 'ग़ालिब' की कला की परछाइयाँ दिखलाई दे जाती हैं।

अनुवादक : **क़ैसर जहाँ सिद्दीक़ी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब और सर सैयद

फ़र्रुख जलाली

ग़ालिब और सर सैयद ने नवीन विचारों की ज्योति जगाई है। उनके शेरों और विचारों से उर्दू साहित्य सम्मानित हुआ है। सर सैयद और ग़ालिब की कहानी बहुत दिलचस्प और लम्बी है। मैं इस समय केवल एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

ग़ालिब सर सैयद अहमद ख़ाँ से बीस वर्ष बड़े थे। एक ही युग में होते हुए ग़ालिब और सर सैयद के सम्बन्ध में रख-रखाव का ढंग अन्तिम समय तक रहा। पहला लिखित सबूत जो हमको मिलता है, वह 'दीवाने-ग़ालिब' का प्रथम संस्करण है जो सन् १८४१ में प्रकाशित हुआ। यह सर सैयद के बड़े भाई सैयद मुहम्मद ख़ाँ बहादुर (मृत्यु १८४६) के लेथोग्राफिक छापेख़ाने में छपा था। अब तक हमें यही मालूम हुआ है कि उस समय तक इस छापेख़ाने का नाम 'मतबा सैयद उल अख़बार' नहीं था। मैं इसके बारे में आज से दस वर्ष पहले 'आजकल' में एक लेख प्रकाशित कर चुका हूँ। सन् १८४७ में 'मतबा सैयद उल अख़बार' से जब सर सैयद ने 'आसारुस्सनादीद' (दिल्ली का इतिहास) छापी तो उसमें ग़ालिब के गद्य का बड़ा चयन प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने ग़ालिब की महानता और बड़ाई का उल्लेख किया और ऐसी बातें दूसरे कवियों के सम्बन्ध में नहीं लिखीं। उनकी इस बात का बहुत महत्त्व है।

सर सैयद उस समय तक आही और अहमद के नाम से फ़ारसी में शेर भी कहते थे। मगर इसकी ओर अधिक ध्यान न था। सर सैयद ने १८४७ में दिल्ली की जो कहानी 'आसारुस्सनादीद' के नाम से लिखी थी उसके चतुर्थ भाग की पृष्ठ संख्या १६८ पर ग़ालिब के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "राक़िम आसिम को जो ऐतक़ाद उनकी ख़िदमत में है उसका बयान न क़ुदरत तक़रीर में है और न आहतये तहरीर में आ सकता है।"

"हृदय से हृदय को राह होती है।"

उन हज़रत को भी शफ़क़्क़त है। राक़िम के हाल पर है शायद अपने बुज़ुर्गों की तरफ़ से कोई मरतबा, इसका मशाहिदा किया होगा। मैं अपने ऐतक़ाद में उनके एक हर्फ़ को बेहतर एक किताब से और उनके एक गुल को बेहतर एक गुलज़ार से जानता हूँ और अगर देखा जाए तो हक़ भी यही है ख़ुशाज़ हाल उन लोगों पर जो आपकी ख़िदमत व बरक़त से मुसतफ़ीद होते हैं और जवाहर गिरानुमा यह कि आपसे हासिल करते हैं। ग़ालिब ने 'आसारुस्सनादीद' पर एक छोटा-सा लेख भी लिखा है। ग़ालिब आँख बन्द करके पुराने कवियों की तरह बड़ाई का बयान नहीं करते थे। मगर इस लेख में ग़ालिब ने सर सैयद की बड़ी प्रशंसा की है।

लगभग एक वर्ष के पश्चात् सर सैयद ने एक पुस्तक "कौले मतीन दर अवताल हरकते ज़मीन" लिखी; और यह पुस्तक भी 'मतबा सैयद उल अख़बार' से १८४८ में छपी। इस पुस्तक में सर सैयद ने यह बताया है कि पृथ्वी रुकी हुई है घूमती नहीं है। बीस वर्ष बाद उनका यह विचार नहीं रहा था। उस समय उनकी किताब, जिसमें देहली का इतिहास और बड़े लोगों की जीवनियाँ थीं, बहुत प्रसिद्ध हुई। और ऐसा मालूम होता है कि इसके अँग्रेज़ी अनुवाद का प्रयत्न भी किया गया। इस किताब की बड़ी प्रशंसा और चर्चा हुई। इस किताब की भाषा कठिन थी। बीस वर्ष बाद का उनका गद्य बहुत सरल है। इस पुस्तक के लिखने की शैली और ढँग बड़ा सजीव था। इसकी ओर कुछ लोगों ने ध्यान आकर्षित किया और बताया कि इतिहास की पुस्तक में लिखने का यह ढँग अच्छा नहीं लगता है। कुछ लोगों का कथन है कि यह कठिन भाषा-शैली इमाम बख़्श सहबाई की देन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग़ालिब ने इस शैली को सराहा नहीं होगा। वह उस ज़माने के आसपास उर्दू में पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखना आरम्भ कर चुके थे जिसके ढँग और अदा ने उनको अपने मित्रों की मंडली में प्रिय बना दिया था। १८५४ तक सर सैयद 'आसारुस्सनादीद' के प्रसिद्ध होने के कारण इसको दूसरी बार लिखने में लीन थे। अब १८५४-५५ में जब इसका नया संस्करण प्रकाशित हुआ तो दिल्ली वाला भाग इसमें शामिल नहीं था। बनवाली दास की राजवंशावली के ढंग पर १८५२ में उन्होंने एक पुस्तक 'सिलसिलतुलमुलूक' के नाम से छापी।

१८५७ से पूर्व अधिकारियों में भारत के इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ा शौक़ मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासकार ईलियट ने एक पत्र सर सैयद को उनकी किताब 'जामे जम' (१८४०) के प्रकाशित होने के बाद लिखा था। यह पत्र उनकी किसी पत्रावली में शामिल नहीं है।

अबुल फ़ज़ल की लिखी 'आईने-अकबरी' में हर बात और हर वस्तु के बारे में इतनी जानकारी दी गई थी जिसके कारण यह बहुत प्रसिद्ध हुई। सर सैयद ने समय की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए इसको बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् प्रकाशित किया। प्राचीन पुस्तकों को सम्पादित करने का जो अब ढंग आम है उस सिलसिले में सर सैयद ने जैसी खोज और महान् दृष्टि का प्रमाण दिया है उससे मालूम होता है कि उनको इतिहास और विद्या की महानता का कितना ज्ञान था। 'आईने-अकबरी' को ठीक-ठीक उचित रूप से प्रकाशित करने के बाद सर सैयद अहमद ने अपने पुराने मेल-जोल के अनुसार ग़ालिब से आलोचना करने को कहा। हम समझते हैं कि इन दस वर्षों में ग़ालिब से सर सैयद के सम्बन्ध बहुत बढ़ चुके होंगे। और उसमें कुछ बेतकल्लुफ़ी भी आ गई होगी। ग़ालिब ने भी उनका कहा पूरा किया। मगर सर सैयद ने जब उस आलोचना को देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

●

ग़ालिब को अपने एक मुकदमे के सिलसिले में कलकत्ते की यात्रा करनी पड़ी। ग़ालिब अपनी जवानी का जोश लेकर कलकत्ते गये। उन्नीसवीं शताब्दी का कलकत्ता हिन्दुस्तान की राजनैतिक और औद्योगिक राजधानी बन चुका था। ग़ालिब ने जब होश सँभाला, अपनी आर्थिक दशा का सम्बन्ध कम्पनी की हुकूमत से बँधा पाया। ग़ालिब के चचा मिर्ज़ा नसरुल्ला बेग ने १८०३ में लार्ड लेक का साथ दिया था। ग़ालिब बहुत छोटे थे जब उनके पिता मर गए थे। १८०३ के ढाई वर्ष के बाद ग़ालिब के चचा भी मर गए। ग़ालिब की देखभाल वही करते थे। उनके भतीजे होने की बिना पर ग़ालिब को भी कुल साढ़े सात सौ रुपये वार्षिक की पेन्शन उनके हिस्से में आई। ग़ालिब जब बड़े हुए तब उन्होंने अन्याय समझकर इस निर्णय के अनुरोध में अदालत का दरवाज़ा खटखटाया। ससुराल वालों से लड़े, कलकत्ता गये, मगर सिवाय ऋण बढ़ने के कुछ न मिला, जिसका ग़ालिब के व्यक्तित्व और काव्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह कलकत्ता से तो निराश होकर लौटे, मगर कलकत्ता में फिरंगी सुन्दरता और अंग्रेज़ी राजनीति से प्रभावित हुए बिना न रह सके, इसकी कसक और आँच उनकी कविता में मिल जाती है। ग़ालिब देहली में रहे मगर ज़ौक़ के जीवन में राजकवि न हो सके। हाँ ज़ौक़ की मृत्यु के बाद उनको यह पद मिला। लेकिन यमुना में बहुत पानी बह चुका था। लाल किले में जिस भाषा और बोलचाल के जिस ढंग की माँग थी उसे ग़ालिब ने दूर से सलाम किया। अपने मित्र हकीम अहसन उल्लाह खाँ की कोशिश से ग़ालिब १८५० में मुगलकालीन इतिहास लिखने पर नौकर हो गए।

ऐतिहासिक खोज का काम उन्होंने खुद नहीं किया मगर उनकी दृष्टि बड़ी थी। उन्हें इतिहास की रोशनी में इस सूरज के डूबने का खयाल हो गया था। कई वर्ष बाद आदम से लेकर हुमायूँ बादशाह तक का इतिहास 'मेहरेनीमरोज़' के नाम से १८५४-५५ में छपा। सर सैयद इस समय 'आईने अकबरी' का काम आरम्भ कर चुके थे। डॉ० अशरफ़ के कथनानुसार ग़ालिब अब इतिहासकार के रूप में सामने आए। मुगल इतिहास का दूसरा भाग जो अकबर से बहादुरशाह तक के हालात पर होता वह अभी लिखा ही जा रहा था कि वह चौदहवीं का चाँद, १८५७ के बादलों में डूब गया।

लाल किले में भी कभी दरबार होते थे। उसके बारे में १८५४ में ग़ालिब का विचार यह था; क़ाज़ी अब्दुल जमील जुनून बरेलवी को लिखते हैं :

"किले में शहज़ादगाने तैमूरिया जमा होकर कुछ गज़ल ख्वानी कर लेते हैं······यह सोहबत खुद चन्द रोज़ा इसको दवाम कहाँ क्या मालूम है अब के वर्ष में हो अब हो तो आयन्दा न हो।"

ग़ालिब के विचार ठीक थे। १८५७ में यह सभा उखड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई और उजड़ गई। अंग्रेज़ी राजनीति के बारे में उनके विचार उच्च तथा भावपूर्ण थे। वह अपने विद्वान और प्रिय मित्र नबी बख्श हक़ीर को अक्तूबर १८५३ के एक पत्र में लिखते हैं :

"लैफ़्टीनेंट गवर्नर (थामसन) बरेली में मर गए। देखिए उनकी जगह पर कौन मुक़र्रर होता है। देखो इस क़ौम का क्या इन्तज़ाम है। हिन्दुस्तान का कोई इतना बड़ा अमीर मरा होता तब क्या इन्क़लाब हो जाता। यहाँ किसी के कान पर जूं भी नहीं फिरती कि क्या हुआ और कौन मर गया।"

याद रहे कि ग़ालिब हक़ीर की सूझ-बूझ और ज्ञान को बहुत मानते थे।

●

सर सैयद ने जब 'आईने-अकबरी' प्रकाशित की तो हमें मालूम है कि ग़ालिब 'आईने-अकबरी' से परिचित थे। उसी समय एक पण्डितजी ज्वालानाथ अलीगढ़ का इतिहास लिख रहे थे। ग़ालिब उस समय मुग़ल इतिहास लिखने पर नौकर थे। उन्होंने ग़ालिब से पूछा तो ग़ालिब ने लिखा कि जो कुछ पण्डितजी ने 'आईने-अकबरी' देखकर लिखा है उससे कहीं अधिक हाथ नहीं आएगा। सर सैयद जब 'आईने-अकबरी' को प्रकाशित करने में संलग्न थे तो उनको आशा थी कि इस परिश्रम और जाँफ़िशानी की दाद लोग देंगे।

सर सैयद ने 'आईने-अकबरी' में वस्तुओं, इन्सानों, जानवरों, वृक्षों के चित्र बनवाने में जो खकेड़ उठाई थी वह शोध के इतिहास का बेमिसाल कारनामा है। उसमें उनके जीवन का एक हिस्सा लग गया था। 'आईने-अकबरी' बड़ी सुन्दर छपी। यह १८५६ में देहली से छपी और अब बहुत कम मिलती है। सर सैयद को आशा थी कि ग़ालिब इस काम को अच्छा ही बताएँगे, मगर ग़ालिब ने पीठ ठोकने के बजाय कविता के रूप में एक अनोखी आलोचना की। ग़ालिब ने कहा मुझे तुमसे दोस्ती है धोखा क्यों दूं। ग़ालिब ने लिखा यह तुमने एक पुरानी किताब को ठीक छापने के लिए बेकार मेहनत की। देखो कलकत्ता और लन्दन की ओर दृष्टि उठाओ वहाँ इस नई क़ौम ने नये साहस और नये बल को खोज लिया है। जीवन के ढंग और ढब और डौल बदल रहे हैं। शब्दों की उड़ान कितनी तेज़ हो गई है। जल के बल पर जहाज़ चल रहे हैं। रातों को रौशन कर दिया है। नये विज्ञान मनुष्य ने पढ़ लिए हैं।

इस आलोचना में वैज्ञानिक सच्चाई अपनी उच्चता पर है। कविता का जादू छाया हुआ है। यह कविता फ़ारसी में है इसलिए मैं इसे छोड़ता हूँ। सर सैयद ने जब इस आलोचना को पढ़ा तो उन्हें अपने परिश्रम की इस दाद पर शिकायत हुई। और उन्होंने यह कविता अपनी किताब में शामिल नहीं की। वह ग़ालिब से रूठ गए। चन्द महीने बाद १८५७ के आन्दोलन ने ग़ालिब की बात को सच कर दिखाया। ११ मई को जब क्रान्ति-सेना देहली की ओर बढ़ी तब उनको यह मालूम नहीं था कि तार के द्वारा उनके आने का समाचार पंजाब पहुँच चुका था।

क्रान्ति का यह महान् आन्दोलन नाकाम हुआ। सर सैयद ने बड़े साहस से इसे बग़ावत कहा और इसके 'कारण' इसी समय लिखकर छापे। सर सैयद ग़ालिब की कलकत्ता यात्रा के ३५ वर्ष पश्चात् कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्होंने उस शक्ति को अपने आप देखा जिसकी ओर ग़ालिब ध्यान दिला चुके थे। सर सैयद वहाँ से लौटे तब १८६४ में ग़ाज़ीपुर आकर 'साइंटिफ़िक सोसायटी' बनाई; और ऐलान किया कि इस सभा का धर्म से कोई सम्बन्ध न होगा। उनका धर्म देश-सेवा था। अब उनके आन्दोलन परिवर्तन के विचारों से रौशन थे। १८७० में जब सर सैयद लन्दन से लौटकर आये तो वहाँ से तहज़ीब उल इख़्लाक़ को (उपहार) और कालिज का विचार साथ लाये। तहज़ीब उल इख़्लाक ऐसा रिसाला था जिसमें समाज-सुधार और वैज्ञानिक विचारों की चर्चा होती थी। वह सर सैयद, जो धरती के जमे हुए होने पर जमे थे, अब बदल चुके थे। मेरा विचार है कि ग़ालिब ने अपनी कविता में जो बड़े-बड़े प्रश्न उठाये हैं उनसे सर सैयद की मानसिक भावना अवश्य ही परेशान और रौशन हुई होगी। वैज्ञानिक और विद्वान जितना प्रश्न से पहचाना जा सकता है उतना उत्तर से अन्दाज़ा नहीं होता है। सर सैयद अपनी ज़हनी तबदीली के बारे में एक जगह लिखते हैं :

"बहुत लोग दुनिया के इन्क़लाबों को देखते हैं और कम हैं जो इस पर ग़ौर करते हैं। मगर बहुत कम हैं जो ख़ुद अपने ख़्यालात के इन्क़लाबों को देखें और इनके सबबों को समझें और सोचें। और अगर कोई शख़्स अपनी तमाम ज़िन्दगी की बातों को याद करे और समझे, तो जानेगा कि इसके ख़्यालात में ऐसे अजीब इन्क़लाब हुए हैं कि वैसे दुनिया की किसी और चीज़ में नहीं हुए। अगर पहला ख़याल बग़ैर सोचे-समझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकलीदो एतक़ादो तमददुनो मुआशरत की वजह से क़ायम हुआ था। फिर इसी तरह और इन ही असबाब से इसमें इन्क़लाब हुआ है तो ख़याल हो सकता है कि दोनों बेहूदा और अगर इन दोनों के लिए या दोनों में से एक के लिए कोई माक़ूल बिना थी तो इसके सबबों पर ग़ौर करना और इस बात को समझना कि पहले ख़यालात किस बात पर मबनी थे और हाल के ख्यालात किस बात पर मबनी है। और इन दोनों बिनाओं में से कौन-सी बिना ज़्यादातर सच और ज़्यादातर मुसतहकम है। इन्सान के लिए ज़्यादा मुफ़ीद है।

("तसानीफ़े अहमदिया, भाग पहला १८८३ अलीगढ़")

आज हम सर सैयद के क्रान्तिकारी इदारों और विद्यालयों को देख रहे हैं। उसके पीछे किसी गुरु के महान् विचारों का दिया तो नहीं जल रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें हम वली समझते

रियाज़ पंजाबी

ख्वाजा अलताफ़ हुसैन हाली उर्दू साहित्य के अच्छे जीवनी-लेखक माने जाते हैं, लेकिन जीवनी-लेखन के साथ उन्होंने पूरा-पूरा इंसाफ़ नहीं किया—जिस तरह कि उर्दू साहित्य के दूसरे जीवनी-लेखकों ने जीवनी-लेखन के साथ इंसाफ़ नहीं किया है। अबुल कलाम आज़ाद ने हाली के बारे में लिखा है कि हाली जीवनी-लेखन को नितान्त प्रशंसा करना समझते थे और वे पसन्द नहीं करते थे कि अशोभनीय घटनाओं का विवरण दिया जाए। हालांकि हाली की 'यादगारे ग़ालिब' मिर्ज़ा ग़ालिब पर प्रामाणिक और मानी हुई पुस्तक है लेकिन यह सच है कि 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय बहुत सारी घटनाओं और हालात को जाने-अनजाने में हाली ने छिपाया है। वैसे भी मिर्ज़ा ग़ालिब पर अधिकतर आलोचनाएँ प्रशंसात्मक ढंग से हुई हैं। चर्चा चाहे ग़ालिब के काव्य की हो या उनके व्यक्तित्व की, दोनों ओर से लक्ष्य यह है कि ग़ालिब की प्रशंसा की जाए। हालाँकि ग़ालिब के व्यक्तित्व पर लिखते समय यदि इनके जीवन की तमाम हालात और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाए (वे शोभनीय हों या अशोभनीय) तो उससे इनकी ख्याति में कमी नहीं आयेगी बल्कि इनके व्यक्तित्व को समझने में आसानी होगी।

ग़ालिब का व्यक्तित्व वैसे भी उनके पत्रों के आईने में साफ़ देखा जा सकता है। लेकिन हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि ग़ालिब को एक महान् कवि घोषित करने के साथ-साथ एक महान् व्यक्ति भी प्रमाणित किया जाय। हाली के अधिकतर प्रयत्न यही रहे हैं कि ग़ालिब को एक देवता समान, चरित्रवान, पवित्र और स्वाभिमानी व्यक्ति बनाकर पेश किया जाय (हालाँकि कमज़ोरियाँ, बुराइयाँ व्यक्ति में आवश्यक हैं) इस सिलसिले में यह बात दिलचस्पी से खाली न होगी कि हाली के वक्तव्य स्वयं कई जगह एक-दूसरे से टक्टर खाते हैं। उदाहरण के लिए हाली लिखते हैं, "बावजूद कि मिर्ज़ा की आमदनी और मक़दूर बहुत कम था मगर हिफ़्ज़वोवज़ा और ख़ुददारी को कभी हाथ से न जाने देते थे, शहर के उमराओ ओमाइद से बराबर की मुलाक़ात थी···अमायदे शहर में जो लोग इनके मकान पर नहीं आते थे वे भी कभी उनके मकान पर नहीं जाते थे" (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ६४)। और दूसरी जगह ख्वाजा हाली लिखते हैं···"मिर्ज़ा की सारी उम्र कसीदागोई और मदहासराई में गुज़री क्योंकि ज़रूरत इंसान से सब कुछ कराती है," (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ७५)। इसका मतलब यह हुआ कि हाली एक तरफ़ ग़ालिब को प्रशंसक, गुणगायक और वजीफ़ाख्वार भी दिखाना चाहते हैं और दूसरी ओर अत्यंत स्वाभिमानी भी। यह एक आम मनोवैज्ञानिक बात है कि एक आदमी जो अपने स्वाभिमान, वज़ादारी को कायम रखना चाहता हो किसी दूसरे आदमी की अर्थहीन प्रशंसा और गुणगान नहीं करेगा चाहे वह हाकिमे-वक्त ही क्यों न हो। धनार्जन और वजीफ़ा पाने के लिए कसीदाख्वानी तो दूर की बात रही। यह बात तो ग़ालिब के बारे में साफ़ है कि उन्होंने अमीरों और बड़े लोगों को प्रसन्न करने के लिए गुणगान भी किया और पुरस्कार प्राप्त करने के लिए नवाबों, राजाओं, महाराजाओं और बादशाहों का गुणगान भी किया। मिर्ज़ा ग़ालिब स्वयं इस फ़िक्र में रहते थे कि कब और कहाँ किस धनवान के यहाँ दरबार हो रहा है या जश्न मनाया जा रहा है ताकि वे भी वहाँ उपस्थित रहें। और खुशामदपसन्दों और चापलूसों में शामिल होकर कुछ धनार्जन करें या पुरस्कार पाएँ। यह बात ग़ालिब के कई पत्रों से बिल्कुल साफ हो जाती है कि अगर किसी जगह इनको न बुलाया जाता था तो वे खुद ही एक-आध क़सीदा रवाना कर देते थे।

ग़ालिब यदि केवल बहादुरशाह जफ़र की क़सीदाख्वानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गुणगान करते तो शायद इसे उनकी अक़ीदत दिली मोहब्बत और गम्भीरता कहा जाता, लेकिन दूसरे नवाबों-महाराजों और १८५७ के बाद अंग्रेज़ों के गुणगान और कसीदाख्वानी से यह बात साबित हो जाती है कि ग़ालिब पेशेवर क़िस्म के प्रशस्तिगायक थे। मुख्यत: १८५७ के बाद अंग्रेज़ अफसरों और गवर्नरों के दरबारों में पहुँचने के लिए ग़ालिब के दौड़-धूप करने से यह बात और भी साफ हो जाती है। यह बात और भी आश्चर्यजनक और विचित्र है और खासतौर से ग़ालिब के व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकती है कि प्रारम्भ में ग़ालिब ने ग़दर की कत्ल-ओ-ग़ारत और ख़ूनी नज़ारों और अंग्रेज़ों के अकारण अत्याचार और जुल्म का जिक्र तो किया है लेकिन बाद में इन्हीं दरबारों तक पहुँचने के लिए दौड़-धूप की है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन अहमद खाँ अलाई के खत में अंग्रेज़ों के अत्याचार और क़त्ल-ओ-ग़ारत के अलावा वे एक क़ता भी लिखते हैं जिसका एक शेर यह है :

चौक जिसको कहे वो मक़तल है
घर बना है नमूना जिन्दा का

और यही ग़ालिब सर राबर्ट मिन्टगुमरी लेफ्टेनेंट गवर्नर पंजाब के दरबार में, जो ग़दर के बाद ३ मार्च १८६३ में दिल्ली में हुआ था, मौजूद थे। आप स्वयं लिखते हैं : "जनाब लेफ्टेनेंट गवर्नर बहादुर ने दरबार किया, मेरी ताज़ीम और मेरे हाल पर लुत्फ़-ओ-इनायत मेरी ख्वाहिश और तसव्वुर से ज़्यादा मफ़ज़ूल की।"

—ग़ालिब के पत्र

ग़ालिब अपने आक़ा और शहंशाह बहादुरशाह ज़फ़र, जिनकी तारीफ और गुणगान करते आपकी ज़बान नहीं थकती थी, का अंत अंग्रेजों के हाथों देख ही चुके थे। लेकिन उसके तुरन्त बाद आप अंग्रेज़ों के गुणगायक बन गये। ग़ालिब इस बात की फिक्र में रहते थे किसी अंग्रेज़ अफसर के यहाँ कब दरबार हो और खुद ही हाज़िरी देने के लिए पहुँच जाया करते थे। अक्सर अपने दोस्तों से पत्रों में बराबर पूछा करते थे कि कब और कहाँ दरबार होगा ? कौन-कौन उपस्थित होगा··· "गवर्नर का हाल लिखो। कौन-कौन हाज़िर हुआ, किस-किसकी मुलाक़ात हुई ? फर्रुखसैर और दादा साहब आए या नहीं ? अगर आए तो रुदादे मुफ़स्सल लिखो।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ६३

ग़ालिब को कुछ लोगों ने १८५७ का वीर सेनानी भी साबित करने की पूरी कोशिश की है। कुछ लोगों ने इन्हें भी साम्राज्यवाद का दुश्मन और अंग्रेज़-विरोधी कहने की कोशिश की है। यहाँ तक कि इस समय भी जो ग़ालिब के बारे में नये-नये लेख या किताबें प्रकाशित हो रही हैं इनमें भी कई लोगों ने इस बात की चर्चा की है। हालाँकि सत्य है कि ग़ालिब का १८५७ के विद्रोह से कोई सम्बन्ध न था। ग़ालिब को किसी बात की चिन्ता न थी, अगर चिन्ता थी तो इस बात की कि वे बेगुनाह रहें और उन पर कोई आरोप न लगने पाये। इसमें कोई शंका नहीं कि ग़ालिब को इस बात का दुःख था कि बादशाह कैद कर लिये गए, शहज़ादे क़त्ल हो गये, बेगुनाहों को फाँसी पर लटकाया गया। लेकिन आचरण में उन्होंने किसी बात का सबूत नहीं दिया, बल्कि हम यह साफ-साफ कह सकते हैं कि ग़ालिब अपना दामन साफ बचा ले गये, वरना ग़ालिब बादशाह के अच्छे और गहरे दोस्तों में से होने के उपरान्त भी पूछगछ और किसी तरह के संकट से न बचे होते। बादशाह के गुणगायक और प्रशंसक होने के नाते उन्हें कुछ-न-कुछ जरूर भुगतना पड़ता। ग़ालिब ग़दर के सिलसिले में लिखते हैं : "मुफस्सिल हालात लिखते हुए डरता हूँ। मुलाज़माने किला पर शिद्दत है और बाज़पुर्स में मुबतिला हैं। मगर वह नौकर जो इस हंगामे में नौकर हुए हैं और हंगामे में शरीक रहे हैं। मैं गरीब शायर दस बरस से तारीख लिखने और शेर को इस्लाह देने से मुतालिक़ हुआ हूँ खाहि इसको नौकरी समझो खाहि मज़दूरी जानो। इस फ़ितनावर आशोब में मैंने दख़ल नहीं दिया है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३४

यहाँ यह बात और काबिले-ग़ौर है कि ग़ालिब ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह को 'हंगामा' कहा है, इसके अतिरिक्त एक और ख़त में लिखते हैं : "बहरहाल ख़ुदा का शुक्र है कि बादशाही दफ्तर में मेरा कुछ शुमूल फरमाते हैं।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १६८

दूसरे पत्र में लिखते हैं : "जनाब एडमिन्स्टन साहब बहादुर से सूरत आशना नहीं, कभी मैंने उनको देखा भी नहीं। ख़तों की मेरी-इनकी मुलाक़ात है। और नामोपयाम की यूँ बात है जब कोई नवाब गवर्नर जनरल बहादुर नये आते हैं तो मेरी तरफ से एक क़सीदा बतरीक़े नज़र जाता है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ३३८

सबसे खेदजनक ग़ालिब का वह कसीदा है जो उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महारानी विक्टोरिया की शान में लिखा है और जिसमें अंग्रेज़ों की औपनिवेशिकता पर बहुत उत्साह और बेहद प्रसन्नता का परिचय दिया है : "हाँ साहब एक बात और है, और वह महले ग़ौर है। मैंने हज़रत मलका मुअज़मा इंग्लिस्तान की मदह में एक कसीदा इन दिनों लिखा है, 'तहेनयत फ़तेह और अमलदारी शाही' साठ बैयत है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ २२६

जुआ खेलने के सिलसिले में ग़ालिब की गिरफ्तारी को आधारहीन कहा गया है और कुछ लोगों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शहर के दारोग़ा ने केवल व्यक्तिगत शत्रुता के कारण ग़ालिब को गिरफ्तार कर लिया था और उन पर जुआ खेलने का झूठा मुकदमा चला दिया था। अबुल कलाम आज़ाद ने इन बातों की अवहेलना की है। इन्होंने साफ़-साफ़ लिख दिया है कि ग़ालिब ने अपने घर में जुआ खेलने का अड्डा स्थापित कर रखा था, जिसके आधार पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था और मुकद्दमा चलाया गया था। स्वयं ग़ालिब के एक पत्र से प्रकट होता है : "बूढ़ा हो गया हूँ फ़साद में नहीं पाया गया। और मैं हुक्काम के नज़दीक यहाँ तक पाक हूँ कि पेंशन की कैफ़ियत तलब हुई है। और मेरी कैफ़ियत का ज़िक्र नहीं है। यानी सब जानते हैं कि इसमें लगाव (हंगामा करने वालों से) न था।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८-३६

ग़दर के बाद ग़ालिब ने अंग्रेज़ अफ़सरों और हाकिमों के सामने अपने-आपको बेगुनाह और दयनीय साबित करने की पूरी कोशिश की है। अपने लिए सिफ़ारिशें कराईं। मुंशी हरगोपाल तुफ़्ता के नाम एक पत्र में लिखते हैं : "भाई मुंशी नबी बख्श के नाम का खत पढ़कर उनको दे देना और इसका मज़मून मालूम कर लेना। जिस हाकिम को मैंने यह खत और रुक्का भेजा है इसके सररिश्तेदार कोई साहब हैं, मनफ़ूल इनका नाम है मुझसे अशनाए महज़ है। अगर ताअरुफ़ होता तो इस्तदुआ करता कि इस तहरीर को पेश कीजिए। काश तुमसे आशनाई होती तो तुम ही ऊपर-ऊपर एक लिखकर उनको भेज देते कि ग़ालिब एक फ़क़ीर, गोशानशीं और बेगुनाहे महज़ और वाजिबुर्रहम है इसके हुसूले मतालिब में सआी से दरेग़ न करना।" —ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८

ग़दर के बाद ग़ालिब ध्यानपूर्वक अंग्रेज़ों की खुशामद में लग गये थे। और अंग्रेज़ों की शान में व्यावसायिक गुणगान और यशोगान शुरू कर दिया था। गवर्नरों और दूसरे उच्च अधिकारियों की शान में क़सीदे लिख-लिख कर उनको भेज दिया करते थे। "चीफ़ कमिश्नर पंजाब को यह किताब भेज चुका हूँ और नवाब गवर्नर की नज़र और सिकत्तरियों की नज़र ये पारसल आज रवाना हो जाएँगे। देखूं चीफ़ कमिश्नर क्या लिखते हैं और गवर्नर क्या। सरकारे अंग्रेज़ी में बड़ा पाया रखता था। रईसज़ादों में गिना जाता था, पूरा खलद पाता था। अब बदनाम हो गया हूँ। एक बहुत बड़ा धब्बा लग गया है। किसी रियासत में दखल नहीं कर सकता, मगर उस्ताद या पीर या मद्दाह बनकर राहो-रस्म पैदा करूँ, कुछ फ़ायद उठाऊँ, कुछ अपने किसी अजीज़ को वहाँ दाखिल करदूं। देखो क्या सूरत पैदा होती है।" —ग़ालिब के पत्र, पृ० ११३

गुलाम रसूल मेहर ने, जिसने ग़ालिब के पत्रों का सम्पादन किया है, 'बदनाम हो गया हूँ और धब्बा लग गया है' के बारे में लिखा है कि इशारा सम्भवतः ग़ालिब की गिरफ़्तारी की तरफ़ है जो जुआ खेलने के सन्दर्भ में हुई थी।

ग़ालिब के शराब पीने के बारे में कुछ कहना सारहीन है। परन्तु यहाँ पर भी हमारे बहुत-से आलोचकों और जीवन-लेखकों ने ग़ालिब का अकारण पक्ष लिया है। वे मानने के लिए तैयार तो हैं कि ग़ालिब पक्के शराबी थे, लेकिन उनके कथनानुसार ग़ालिब इसे बुरा भी समझते थे। हालाँकि यह बात बुद्धिगम्य नहीं है कि एक आदमी एक काम को बुरा भी समझे और करता भी रहे, अगर कोई खास मजबूरी न हो। हाली लिखते हैं कि ग़ालिब यद्यपि पक्के किस्म के शराबी थे मगर विश्वास में इसको बुरा समझते थे। हमारे विचार से यह हाली की व्यर्थ प्रशंसा और तारीफ़ है।

आज जबकि विश्वव्यापी स्तर पर ग़ालिब शताब्दी मनाई जा रही है, हमारा उद्देश्य ग़ालिब पर कीचड़ उछालना और सारहीन आलोचना करना नहीं है। बल्कि हमारा उद्देश्य उनके व्यक्तित्व के उन पक्षों का उद्घाटन करना है जिसको बहुत-से लोग पर्दे के पीछे छिपाकर रखना चाहते हैं। ग़ालिब की शायरी खुली वास्तविकता है जिसे कोई नकार नहीं सकता। एक कवि की हैसियत से इनका जो स्थान है उसे कोई कवि इनकार नहीं कर सकता। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ग़ालिब जितने महान् कवि हों उतने ही बड़े व्यक्ति भी हों।

अनु० : असरार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : हिन्दी में

राजेन्द्र शर्मा

दीवान-ए-ग़ालिब (दोनों लिपियों में)

सम्पादक : अली सरदार जाफ़री
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, ३-ए, नाज़ बिल्डिंग, बम्बई-४
प्रकाशन-तिथि : १९५८
पृष्ठ संख्या : ५२१। भूमिका ४५ पृष्ठ, दीवान ३८५ पृष्ठ, फुटकल ८३ पृष्ठ
उर्दू-हिन्दी शब्दकोश ८२ पृष्ठ (दूसरे खण्ड में)
विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक भूमिका। उर्दू अक्षरों को नागरी लिपि में लिखने की विशेष विधि का प्रयोग। मुद्रण कलापूर्ण। बहुमूल्य राज संस्करण।

ग़ालिब की कविता

लेखक : कृष्णदेव प्रसाद गौड़
प्रकाशक : प्रसाद परिषद्, वाराणसी
प्रकाशन तिथि : नवंबर १९५७
पृष्ठ संख्या : ५६७
विस्तृत भूमिका। ग़ालिब के मूल्यांकन में डा० बिजनौरी से मतभेद।
दीवान-ए-ग़ालिब की विद्वत्तापूर्ण टीका। पत्र-चयन।
'चिराग़े-दौर' से १५ शेर।
हिन्दी में ग़ालिब के उर्दू दीवान का सबसे प्रामाणिक और पूर्ण संस्करण।

ग़ालिब-उग्र

व्याख्याकार : पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
प्रकाशक : रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चांदनी चौक, दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६६
पृष्ठ संख्या : ६०६
सचित्र। टेल-पीसेज़। 'अंजन' शीर्षक भूमिका। लगभग प्रत्येक शेर का अर्थ, संदर्भ सहित। शब्दार्थ अलग से। टीकाएँ उग्रजी की अपनी शैली में—काव्यात्मक, सही, संक्षिप्त; विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में; व्याख्या शैली मज़ेदार। कहीं-कहीं तुलसीदास की समानान्तर पंक्तियाँ उद्धृत। बहुमूल्य राज संस्करण।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : ओंकार शरद तथा महमूद 'हुनर'
प्रकाशक : लहर प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : १९५४
दूसरा परिवर्धित संस्करण : १९५८
पृष्ठ संख्या : १२६
संक्षिप्त भूमिका। फ़ारसी-अरबी शब्दों के अर्थ। टिप्पणियाँ।

दीवाने ग़ालिब

सम्पादक : मुग़नी अहरोहवी व नूर नबी अब्बासी
प्रकाशक : नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९५७
पृष्ठ संख्या : १८९
संक्षिप्त जीवनी। कविता। शब्दार्थ। एक चित्र।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : चैनसुख 'बेताब'
प्रकाशक : देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली।
प्रथम संस्करण : १९५९
जीवन और कला ७ पृष्ठ। कलाम १०७ पृष्ठ। फ़ारसी-अरबी शब्दों के अर्थ।

दीवान-ए-ग़ालिब

संपादक एवं व्याख्याता : बलजीत सिंह 'मतीर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक : श्यामजी पब्लिकेशन्स, मथुरा रोड, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६४
पृष्ठ संख्या : २५५

ग़ालिब के पत्र : प्रथम भाग

लिप्यंतरकार तथा संपादक : श्रीराम शर्मा, रामनिवास शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : १९५८
पृष्ठ संख्या : ५७२
१७ व्यक्तियों के नाम पत्र। आरम्भ में भूमिका। अन्त में शब्दार्थ। व्याख्यात्मक पाद टिप्पणियाँ।

ग़ालिब के पत्र : दूसरा भाग

लिप्यंतरकार : डॉ० श्रीराम शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
प्रथम संस्करण : १९६३
पृष्ठ संख्या : ५११
४८ व्यक्तियों के नाम पत्र। ३ पत्र अज्ञात व्यक्तियों के नाम। भूमिका। दो परिशिष्ट : ग़ालिब की संक्षिप्त जीवनी और पत्र प्राप्तकर्ताओं की जीवनी।

ग़ालिब : जीवनी तथा कविता

लेखक : दयाकृष्ण गंजूर
प्रकाशक : दयाकृष्ण गंजूर, ८, लाल बाग, लखनऊ
प्रकाशन तिथि नहीं दी गई है। अनुमानतः १९५२ के आस-पास।
भूमिका : श्री लाल बहादुर शास्त्री
जीवनी। लतीफ़े। पत्र। ग़ज़लें। किते। रुबाइयाँ। कसीदे। सेहरा।

महाकवि ग़ालिब की गज़लें

व्याख्याकार : रामानुज लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
'दीवान-ए-ग़ालिब' से चुने हुए लगभग दो-तिहाई शेर और उनकी व्यवच्छेदात्मक व्याख्या। चयन और व्याख्या में सुरुचि तथा अन्तर्दृष्टि।

ग़ालिब : शाश्वत तृष्णा का कवि

लेखक : श्री रामनाथ 'सुमन'
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा कुंड, वाराणसी
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : ५११
जीवन भाग १८६ पृष्ठ। समीक्षा भाग १५० पृष्ठ। व्याख्या भाग : कुछ शेर व्याख्या सहित १३४ पृष्ठ। काव्य भाग : दीवाने-ग़ालिब से चयन, क़सीदे, मसनवी, क़ते, रुबाइयाँ, सेहरा, मर्सिया, स्फुट, नुस्ख़ः हमीदयः से, अप्रकाशित काव्य आदि १७५ पृष्ठ।
परिशिष्ट : ग़ालिब के कुछ शागिर्द, गदर और बाद के ज़माने की दिल्ली २८ पृष्ठ।
भावपूर्ण विवेचन की दृष्टि से उपयोगी ग्रन्थ।

मिर्ज़ा ग़ालिब

लेखक : मालिक राम, अनुवादक श्रीकान्त व्यास
प्रकाशक : नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६९
पृष्ठ संख्या : ९१
जीवन चरित ६३ पृष्ठ। ग़ालिब की कला ४५ पृष्ठ। विषयानुसार चुने हुए शेर २३ पृष्ठ।

ग़ालिब की शायरी

लेखक : ब्रज विहारी लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : मातृभाषा मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद
द्वितीय संस्करण : १९५५
पृष्ठ संख्या १८१। संक्षिप्त भूमिका। कुल गज़लें १८६, कसीदे ३, क़िते १६, रुबाइयाँ १८ और सेहरा।
छापे की ग़लतियों की भरमार। टिप्पणियों में लापरवाही।

मिर्ज़ा ग़ालिब : जीवनी और साहित्य

लेखक : रसूल अहमद अबोध
प्रकाशक : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : १०६
जीवन चरित, उर्दू कविता का सामान्य परिचय, ग़ालिब के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण, ११ पृष्ठों में चुने शेर और १६ पृष्ठों में पत्रों से चयन। सामान्य हिन्दी पाठकों की जानकारी के लिए सुगम पुस्तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ालिब : कवि और मानव
लेखक : अर्श मलसियानी
प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली
प्रकाशन तिथि : १९६८
पृष्ठ संख्या : १४९
प्रामाणिक जीवनी, शिष्यों के पत्र और 'दीवाने ग़ालिब' से कुछ चुनी हुई रचनाएं। दुर्लभ चित्रों से युक्त। सामान्य जानकारी देने वाली उपयोगी पुस्तक।

[सामान्य संकलन]

कविता-कौमुदी : उर्दू
सम्पादक : रामनरेश त्रिपाठी
प्रकाशक : नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई
प्रथम संस्करण : १९२५
प्रस्तावना लेखक : अमरनाथ झा
२६ पृष्ठों में ग़ालिब का जीवन चरित, काव्य-समीक्षा और उर्द कविताओं का संकलन। कुल चुने हुए शेर १३६।

ऐतिहासिक महत्त्व का काव्य-संग्रह। सर्वाधिक लोकप्रिय।

शेर-ओ-शायरी
लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, वाराणसी
प्रथम संस्करण : १९४८
भूमिका लेखक : महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन
ग़ालिब के जीवन और काव्य पर २६ पृष्ठों में विचार तथा कुछ शेरों की व्याख्या।

शेर-ओ-सुख़न : भाग १
लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
प्रथम संस्करण : १९५१
८४ पृष्ठों में ग़ालिब संबंधी सामग्री। 'शेर-ओ-शायरी' से अतिरिक्त। कुछ शेरों की विदग्धतापूर्ण व्याख्या। विवेचन में रोचकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगले झूठ के लिए

मंगलेश डबराल

और मैं फिर मुड़ जाऊँगा

इस कमरे में, या इस शर्म में,
इस इतिहास में
कोई सूचना नहीं होगी
जहाँ मैं चिपकूँगा
आदतों वाले कोनों पर

गृहस्थी और बरतनों के बीच
जहाँ मेरा काला अतीत बज रहा है
और बूढ़े पिता की आँखों में
एक ईमानदार भविष्य अन्धा हो चुका है—
मैं फिर रुकूँगा :
यह जानने के लिए
कि मेरे अगले अपराध और अगले झूठ में
कविताएँ किस जगह हैं

पूरी सभ्यता और सौम्यता के साथ
फिलहाल
मैं एक आदमी की जगह खड़ा हूँ
पूजाघरों और वेश्याघरों के बीच
मैं सिर्फ मुट्ठी भर भीख के लिए
लड़ा हूँ
मोर्चों पर झोंके जाने से पहले
लोग एक-दूसरे के लिए
एक अजनबी भाषा गढ़ते हैं
और सम्बन्धों के नीचे
राष्ट्रीय गीत की तरह बजते हैं

पालतू भाषा और चमड़े की दूरी में
बीवियों की जाँघों में उतरते हुए—
घरों और घटनाओं के बीच अखबार फलाते
हुए—
अफसर की जेब में अपनी तरक्कियाँ
टटोलते हुए—
वे सब सुरक्षित हैं
और रोटी पर छेद करते हुए
अपने फर्ज़ और कर्ज़ के लिए चिन्तित हैं

मगर इस सारे माहौल के पीछे
किसी अफवाह का आक्रमण
शुरू नहीं हो रहा है
सिर्फ मेरे भीतर
एक दलाल है,
जो आदमी होने की गंदगी उछाल रहा है
और हर रोज पेशावघरों में
नयी बीमारियाँ बहाकर
स्वास्थ्य-सेवा कर रहा है

वह किसी भी क्षण भजन करेगा
और लोगों को आपस में
जूते चलाते हुए देखेगा
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीजों के चेहरे मिटा देगा
और 'इच्छाओं की तरह साफ़' कामातुर
औरतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उत्तेजित हिजड़ों को
एक व्यवस्था के रूप में जुटा देगा

यह एक संस्कृति है,
जिसमें हर वेश्या अपना चरित्र माँज रही है
यह एक रोशनी है,
जहाँ मेरी भाषा अपनी नफ़रत को
तलवार की तरह माँज रही है

और यह इक्कीसवाँ अन्त है
मगर मैं जानता हूँ,
इस युद्ध के लिए मैं कहीं भी अन्तिम नहीं हूँ
इन शब्दों से, इस ऑफ़िस से
बाहर मरने के लिए

दरअसल, यह एक नुस्खा है
जो मेरा चेहरा है
अपने सम्पर्क चाट कर राष्ट्रीय होती हुई
सुविधाओं में
मैं अपनी भूख की जगह
वसन्त और हिमालय को खड़ा कर सकता हूँ
और देश का पेट पोस्टरों से भर सकता हूँ

दफ्तरों से उठा हुआ घमंड
कपड़े और अक्ल बदल रहा है
और पूरा देश
आँकड़ों की नस्ल में ढल रहा है

जहाँ अपने बच्चों को नारों की तरह इस्तेमाल
करते हुए—
या धूप को चबा-चबाकर थूकते हुए बूढ़े हैं,
सब्जियों से अधिक सड़ती हुई सभ्य औरतें हैं,
अखबार हैं,
सीढ़ियों और ओहदों से
चढ़ते-उतरते लोग हैं—
आभिजात्य-सभ्यता में
वहाँ मेरे सारे बटन टूट चुके हैं
मेरी लाचारी मेरी लत है
मैं अपनी बहस को एक बहाना बनाऊंगा
मैं फिर लौटूंगा
अपनी गरीबी और चापलूसी में

यह शर्म और यह आज़ादी लेकर
मैं ज़ोर-शोर से सहमत हो जाऊँगा
क्योंकि यह सहमति एक रोटी है
त्रिनेत्र का सूखता हुआ चेहरा नहीं है

प्रजातंत्र के फालिज बनने की प्रतीक्षा में
मैं अपनी देशभक्ति और अपने ही
नारों से डर रहा हूँ
मैं सड़क पार करने पर नहीं,
जीवित रहने पर कानून तोड़ रहा हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतन्त्र के लिहाफ में

त्रिनेत्र जोशी

अपनी-अपनी औकात में धँस जाने के बाद
आग का उभड़ आना और अँधेरे का छा जाना
कोई तलाश नहीं। हम सब फहराने को झेल रहे हैं
अपनी-अपनी खाइयों में दुबककर
घर से सरकार तक चरमरा रहे हैं
चौराहे पर खड़े उस व्यक्ति की खोज में
जिसने अभी-अभी देश को इशारा किया है

नालों की ओर खुले दरवाजे। अपने-अपने
छापेखानों के साथ
पंक्तियों में खड़े हैं। चेहरा। चेहरे के पीछे
चेहरा
एक और चेहरा। चेहरा और चेहरा···

मौसम के रंगों में नहीं दीखता वह। भागा जा
रहा है
झुग्गियों में। खण्डहरों में। अपनी बदसूरती में
अपनी कब्र चौड़ी करने के इरादे से पेट दबाकर
उघड़ गया है कीचड़
अपने लबादे की खुशहाली का बाजा बजाकर
समय को मेजों के नीचे दबा लेने की कोशिश में
व्यस्त भीड़। चबा रही है आदमी
और अपने-अपने भजन गा लेने के बाद
लोग दरवाज़ा फेरकर बाहर निकल आये हैं
तमाम रास्ते गरीबी पर आकर दम तोड़ते हैं

राष्ट्रगीत की धुन पर केवल झंडे की झूम लेने
की लत
अपने-अपने कूबड़ उठाये लोग
खिड़कियों से भीतर केवल इतिहास झाँक रहे हैं

वीएटनाम में फूटने वाले बम से
दादा की झुर्रियों में कोई फर्क नहीं पड़ता
वह दाँतों से मिट्टी पीस रहा है
और तमाम दाँत तोड़ लेने के बाद
चूरन बाँट रहा है

अनहोनी समझकर
एकदम अदालतों से छोड़ा गया है
हर बार आदमी। ढहती हुई दीवारों पर
आसीन कानून की आँख झपकते ही
घटना को आँखों पर सी लेने के बाद लोग
अपनी-अपनी बगलों में भूल दबाए लोग
तमाशा पी गए हैं

लोकतन्त्र के लिहाफ को
चाहे जिस तरह ओढ़ लें। खाली पेट को
सीढ़ियों पर लुढ़का देने का तरीका लेकर
लोग बराबर फूटे हैं
केवल जात रंग बदलती है। दिशाओं में
अब शाम नहीं। काम की तलाश में
लाचारी के नक्शे की फड़फड़ाहट
सीमाओं पर युद्ध बटोर रही है
विज्ञापन को जैसे चाहे खड़का लीजिए
पसीना चुनाव नहीं
बदबू देता है
तब अपनी-अपनी पसलियों के स्वर में
आदमी की चीख कोई लय नहीं देती
अपने-अपने दरवाज़ों पर पड़ी लाचारियाँ
आदमी की पहचान में
आईनों पर पीक थूकने लगती हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन कविता : अँधेरे से साक्षात्कार

सुरेन्द्र चौधरी

अपने परिवेश से संतुलन बनाने की जिस आन्तरिक काव्य-प्रक्रिया की शुरुआत नई पीढ़ी कर रही है उसके कई आवश्यक पहलुओं पर हमें विचार कर लेना चाहिए। समकालीन कविता का परिवेश ऊपरी तौर पर वही है जो नई कविता का था। मगर परिवर्त्तन एक अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। देश और काल के बदलते रूपों के साथ कवि की वह भावनात्मक दुनिया भी बदल जाती है जिसमें वह जीता है। युवा कवि का अन्तर्जगत् अपेक्षाकृत अधिक तीखे परिवर्त्तनों का शिकार हुआ है। बीस वर्षों के विकसित जनतंत्र की आन्तरिक दरिद्रता का साक्ष्य बना युवा कवि मूल्यों के प्रति आज यदि आश्वस्त नहीं है तो इसमें अकेला दोष उसका नहीं है। युवा कवि की खोज उस दुःस्वप्न के भीतर की उतनी नहीं है जितनी उससे चौंककर जागने के बाद की स्थिति की है। वैसे जाग्रत हालत में भी दुःस्वप्न की मानसिक जड़ता में तत्काल कोई परिवर्त्तन लक्षित कर पाना कठिन था। कुछ कवि इस मानसिक जड़ता की पीड़ा अब तक ढो रहे हैं। यही कारण है कि ऊपर से एक-से मुहावरे बोलने वाले कवियों का आन्तरिक रचना-संसार एक-सा नहीं है। अब तक कवियों की चर्चा में हमने सिर्फ़ मुहावरों का पीछा किया है, अब आवश्यकता इस बात की है कि हम इन मुहावरों से स्वतंत्र होकर कवियों की आन्तरिक दुनिया से साक्षात्कार करें।

परिवर्त्तन की जिस आन्तरिकता को समझने-समझाने की हज़ार कोशिशें चल रही हैं, उसकी रचना के भीतर विशेष स्थिति होती है। परिवर्त्तन की इस आन्तरिकता को सिर्फ़ उन मुहावरों, मुद्राओं, नारों और आन्दोलनों की राह आयत्त नहीं किया जा सकता जिनमें काल को स्थितियों में जड़ (freeze) कर दिया जाता है और आदमी को नैरंतर्य से तोड़कर केवल इन स्थगित स्थितियों में परिभाषित करने का आग्रह होता है। मैं इस पूरे प्रयत्न को बौद्धिक हरकत से ज़्यादा कुछ नहीं मानता। पिछली पीढ़ी के अधूरे भाववादी रुझान पर यहाँ बहस नहीं करूँगा, क्योंकि नई कविता के पूरे आन्दोलन में एक ऐसा आत्मविरोध है जो उसके रचनात्मक आशय को ही कहीं खंडित करता है। नई कविता में 'परिवेश' को स्थितियों में बदल दिया गया और कवि अपने-अपने भावात्मक आसंगों सहित उस परिवेश (!) के अमूर्त्त संदर्भों को लेकर रचना का वातावरण तैयार करता रहा। इस काव्य प्रक्रिया में स्थितियों के जोड़ तो दीख पड़ते हैं, मगर समग्र परिवेश कहीं रूपायित नहीं होता। यह भावनात्मक संवेग मूलतः स्थितिजन्य था। चूँकि इस रचनात्मक प्रयत्न के साथ कोई मूर्त्त गोचर परिवेश संश्लिष्ट नहीं था, इसलिए कवि सिर्फ़ प्रतीक-संदर्भों और संकेतात्मक वातावरण से 'परिवेश' का काम ले लिया करता था।

हर रंग की मनःस्थितियाँ तो आईं, मगर उन मनःस्थितियों के पीछे अनुभव का कोई मूर्त्त संसार न था। फलतः ये मनःस्थितियाँ अपने भीतर ही कहीं नैरंतर्य बना पाने में असमर्थ सिद्ध हुईं। 'अंधायुग' इसी असफल और खंडित मनःप्रवाह की एक लहर है। इस संपूर्ण पौराणिक प्रत्याख्यान के भीतर आदमी के भोग की वह दुनिया अदृश्य है जिससे उसका दर्द सार्थक होता है। दूसरे शब्दों में मानवीय पीड़ा का स्रोत ही वहाँ अचीन्हा-सा है। वह दुनिया इस काव्य में एक सिरे से ग़ायब है जिसकी टकराहटों के भीतर हमारा दर्द अर्थवान् हो सकता था। 'अंधायुग' में पीड़ा सिर्फ़ ध्वनित होती है। काव्य-भाषा के स्तर पर ध्वनित होनेवाली यह पीड़ा किसी व्यापार-रत समाज के भीतर की नहीं है और न वह आज के मनुष्य की अपनी लड़ाइयों की है। वह इतिहास के बाहर की पीड़ा है जिसे पाठक ध्वनियों की राह पकड़ पाने के लिए विवश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'अंधायुग' की तुलना में लगभग इसी काल में लिखी गई मुक्तिबोध की रचनाएँ अधिक कालावस्थित, प्रत्यक्ष और वास्तविक हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं में वस्तुतः द्वन्द्व की एक व्यापारपरक दुनिया है। दुःस्वप्नों, प्रतीकों और दूसरे परोक्ष माध्यमों के बावजूद उसकी द्वन्द्वात्मक वास्तविकता पर कोई आँच नहीं आती। वह इस पाताललोक की तथ्यसूचना भर नहीं है।

एक असंगत हो गई स्थिति का जैसा अर्थहीन रेह्टारिक अंधायुग है, वैसा तत्काल ढूँढ़ना मुश्किल होगा। अपने विचार-दरिद्र आवेश में 'अंधायुग' और 'कुरुक्षेत्र' में कोई वास्तविक दूरी नहीं है। साक्षात्कार का यह नाटकीय प्रकरण 'अंधायुग' के प्रतीकात्मक और आत्मीय अंशों को भी प्रभाव-संभव नहीं रहने देता। वस्तुतः संपूर्ण नई कविता में परिवेश को 'वातावरण' से ज़्यादा महत्त्व न देकर कवियों ने सिद्ध कर दिया है कि इस काव्यधारा पर परिवेश का वास्तविक चाप है ही नहीं। यहाँ दर्द एक रहस्यमय आत्मपीड़न है और अपनी छायावादी बिरादरी के संस्कार से बहुत अलग नहीं है।

'परिवेश' के जिस तीखे अन्तर्विरोध से आज के आदमी का भोक्तृत्व बनता है, उसे नई कविता में परोक्ष स्पर्श की तरह ग्रहण किया गया। अधिकांश कवियों का संभावना-स्वप्न इस अन्तर्विरोध के चाप का सही-सही 'फ़ील' सम्प्रेषित ही नहीं कर पाता। **नई कविता परिवेश से जो स्वप्न-संघर्ष करती है उसका प्रमाण 'तीसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएँ हैं।** प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कुँवर नारायण और कई दूसरे कवियों का संघर्ष इससे गहरी वास्तविकता का आभास भी नहीं देता। नया कवि परिवेश के भीतरी दबावों को आयत्त नहीं कर पा रहा था। इन कवियों में बहुत कम ऐसे हैं जिनकी बौद्धिक सजगता उनके आवेश को नियंत्रित करती है। यही कारण है कि एक स्थान पर संकलित होकर भी ये कवि आन्तरिक रूप से संगत और एकरूप काव्य-प्रक्रिया का आभास नहीं देते। कविता के प्रति इनका 'एटीच्यूड' बिलकुल अलग-अलग है। इस अर्थ में ये 'राहों के अन्वेषी' भी नहीं हैं।

'६० के बाद की कविता-पीढ़ी ने न केवल एक आन्तरिक बदल का आभास दिया, बल्कि अपनी शक्ति और सीमा में इस परिवर्त्तन को **'इफेक्ट'** किया। यह कार्य नई कविता के अधूरे और कृत्रिम **'डिक्शन'** को तोड़कर ही संभव था। इसलिए युवा कवि अपने लिए न केवल एक नया काव्य-विधान चुनता है, बल्कि कविता का एक नया **'डिक्शन'** भी तैयार करता है। यह **'डिक्शन'** 'किञ्चित कविताओं' जैसा है जिसे काव्य-विडम्बना और मज़ाक के लिए नई कविता वाले छापा करते थे। क्या कारण है कि युवा पीढ़ी इस काव्य-विडम्बना को स्वीकार कर लेती है? **परिवेश से जुड़ने की लड़ाई में शायद यह उनका पहला हमलावर क़दम था।** आश्चर्य नहीं कि युवा पीढ़ी काव्य-विडम्बना के इस **डिक्शन** के प्रति **'डेड सीरियस'** है। एक व्यापक अंधेरे के भीतर जो लड़ाई शुरू हुई थी, उसमें विडम्बना की अनेक संभावनाएँ देखी गईं। बाद में कुछ खरी उतरीं, कुछ सामान्य और बचकाना साबित हुईं। आश्चर्य इसमें भी नहीं है कि नई कविता के बहुत-सारे कवियों को बाद में चलकर अपना ही काव्यात्मक ढाँचा बोझिल मालूम पड़ने लगा और उन्होंने युवा कवियों के मुहावरों और लटकों के प्रति समर्पण किया। यह युवा कवियों की विजय चाहे न हो, मगर नई कविता की काव्य-संवेदना की पराजय ज़रूर थी।

लड़ाई सिर्फ़ मुहावरों तक महदूद नहीं थी। वह मुहावरों की राह पूरी सर्जनात्मक चेतना में उतर रही थी। मुहावरों की सरहदों पर लड़ने वाले लोग धीरे-धीरे समय के अन्तराल में चले गए। कुँवर नारायण और प्रयाग नारायण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। **नई कविता की अन्तर्मन की यात्राएँ कवियों को जहाँ लाकर छोड़ गई थीं वह दुनिया अधूरे साक्षात्कार की दुनिया थी।** नई कविता के अधिकांश कवियों ने या तो अपनी नावें मोड़ लीं या फिर वे नदी के उस तीसरे किनारे पर सदा के लिए टिक गए जो अन्तहीन था। अधिकांश ऐसे कवियों की यात्रा का **अन्तर्प्रदेश** सूना साबित हुआ। **वे इस सूनेपन को एक आध्यात्मिक गरिमा देना चाहते थे, उसे 'व्यक्तित्व की खोज' और 'आत्मान्वेषण' के नाम से पुकार रहे थे।** मगर समय ने इन्हें इस तीसरे किनारे पर लाकर बेतरह छला था।

युवा कवियों के सम्मुख अनुभव का जो 'देश' था वह अपनी मूर्त्तता में आततायी था। फलतः सवाल इस ठोस, मूर्त्त और आततायी परिवेश से केवल भावना के भीतर टकराते रहने का नहीं था, उसे बदल देने का भी था। इन अन्त-र्यात्राओं की विफलता की पीड़ा को मूर्त्त करने के प्रयत्न में लगे हुए कवियों का आत्मसंघर्ष श्रीकान्त वर्मा और केदार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथ सिंह के अतिरिक्त विष्णुचन्द्र शर्मा में ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। ये तीन कवि अलग-अलग काव्य-छवियों में पहली बार इस परिवर्त्तन का संकेत देते हैं। परिवेश को आयत्त करने की काव्य-समस्या रचनात्मक समस्या हो जाती है। लगभग तेरह वर्ष के (आज़ादी के) अनुभवों के बाद युवा कवि इस आततायी परिवेश को प्रतीकों में बदल देने में अपने को असमर्थ आता है।

नई कविता में जिस तरह पीड़ा को सम्पूर्ण बना लेने का प्रयत्न है, युवा कवि उसे एक काव्यात्मक मुद्रा से अधिक कुछ नहीं मान पाता। यही कारण है कि उसका दर्द उससे बड़ा नहीं है। यही कारण है कि कविता में सपाटबयानी बढ़ती है। **यह सपाटबयानी कल्पित दर्द के रेह्‌टारिक को तोड़ने का सबसे नाटकीय और तात्कालिक माध्यम बन जाती है।** समस्या एक दूसरे स्तर पर फिर भी बनी रह जाती है। सपाटबयानी आवेश के निरर्थक अन्दाज़ को तोड़कर अगर कहीं स्थिर हो जाती है तो यह उसकी अशक्यता ही होती है। यह अशक्यता पहले रेह्‌टारिक को तोड़ती है फिर अपने को ही तोड़ते चलना उसकी नियति हो जाती है। कोई कवि मुहावरों के लँगड़े दरवाज़े से आसानी से फ़ैशन में आ जाता है और कविता को 'अनुभव की प्रामाणिकता' से छलने लगता है। आश्चर्य की बात नहीं है कि रातोंरात गीत लिखनेवाले कवि गद्य की पंक्तियाँ तोड़कर आततायी हो गए। इतना ही नहीं कि उनका काव्यात्मक संस्कार पुराना था, बल्कि यह भी कि ऐसे ही गीतकार अनुभव से निरापद रहकर आक्रोश का इज़हार करने लगे थे। **इनका आक्रोश एक सुविधाजनक 'डिक्शन' था** (**डिक्शन** से भी ज़्यादा अन्दाज़ेबयाँ)। स्पष्ट है कि जिस तरह कुछ छुटभैये छायावादी वेदना की वेदी पर बैठ कर अमर अभाव की पूजा करते हुए अनुभवशून्यता में जी लेते थे, उसी तरह हमारे ये छुटभैये अनुभव से असंपृक्त होकर भी आततायी हो गए। इस तरह समकालीन कविता का यह अहित हुआ कि रचना एक अन्दाज़ हो गई, और कविता लिखने में जो मशक्कत होती थी वह जाती रही।

इस स्थिति में अकविता और कविता की पहचान मुश्किल हो गई। किन्तु काव्यक्षेत्र में इस व्यापक संकट के बावजूद कुछ ऐसे सचेत कवि बच रहे थे जिन्हें इस विरोध का पूरा-पूरा एहसास था। वे अपनी रचना में पुराने **डिक्शन** को तोड़कर भी रचनात्मक गहराई और आत्ममंथन की रक्षा करना चाहते थे। वास्तविक रचनात्मक पीड़ा इन्हीं सचेत कवियों की थी और वास्तविक आत्म-संघर्ष भी ये ही कवि कर रहे थे। दूसरे लोगों के लिए आत्मसंघर्ष एक खुशनुमा मुहावरा भर था।

संतुलन के रचनात्मक प्रयत्नों को अपनाकर कुछ कवि बड़ी तत्परता और सजगता का परिचय देते हैं। इनके लिए परिवेश न तो कलात्मक उपकरण मात्र है और न ऐसा बोझ ही जिसके नीचे दबकर उनकी काव्य-प्रतिमा दम तोड़ दे। वे अपने परिवेश के रूपान्तरों को बहुत सही ढंग से पहचानने की चेष्टा कर रहे थे। जिस कृत्रिम रूपान्तर में यह सामाजिक वितुलन पैदा हुआ था और कवि-मानस पर नए दबाव पैदा कर रहा था उसे सीधे आयत्त करने की समस्या काव्य में ख़तरा पैदा कर रही थी। अधिकांश कवि अपने वेग में बह गए थे और दिशाहीन हो गए थे। उनका यह विरोध किसी नैतिक अथवा सविकल्प स्वीकार का परिणाम न था। वे व्यवस्था का विरोध करते हुए व्यवस्था के प्रश्न को ही निरर्थक घोषित कर रहे थे। सामाजिक-सम्बन्धों की पुरानी दुनिया नए परिवेश में लगभग नष्ट हो गई थी और जो दुनिया अनुभव के दायरे में आ रही थी वह निर्वैयक्तिक, सपाट और स्वार्थों के अलगाव की दुनिया थी। पुरानी दुनिया पर आधारित मूल्य कहीं गहराई में टूट गए थे। इन दो अलग-अलग विश्वों के अनुभव के भीतर काव्यात्मक संतुलन की रक्षा का सवाल बेहद संजीदा सवाल था। **इसे केवल वे कवि ही ठीक-ठीक समझ पा रहे थे जिन्हें तात्कालिकता के विरुद्ध इतिहास से अनुभव की गहराई ने जोड़ा था।** इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने का पर्याय था वे सिर्फ़ वक़्त की बोली बोलने में लगे थे। ऐसी स्थिति में नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक समस्या हो गई। इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा हमारी चेतना पर टँका रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोलकर आत्मसंतोष कर बैठा। यह स्थिति नई पीढ़ी के लिए ही एक रचनात्मक चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से (वेग कहें!) छली जाय इससे दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति दूसरी नहीं हो सकती। हर कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता खड़ा हो गया। कुछेक ने तो अपने इस वेग को अनुभवसिद्ध बताने के लिए शहीदाना अन्दाज़ अपना लिया। कविता के लिए शहादत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी कविता के इतिहास में एक घटना बन गई। ग़लत नाम भी निराला और मुक्तिबोध के साथ जुड़ गए। काव्य-नाट्य का एक दृश्य यहीं समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला भी शायद यहीं से शुरू होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग (जैसे राजकमल का) तो समझा जा सकता है, मगर इस भावना का काव्यात्मक अनुकरण करने वालों का वेग कैसे समझा जाएगा ? समकालीन कवियों के एक बड़े समुदाय की दिशा-हीनता इसी वेग का परिणाम है। इस वेग की कव्यात्मक अभिव्यक्ति को पहचानने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आत्मोद्रेक की जो काव्य-शैली उस वेग से बनती है उसकी नाटकीयता ही उसकी माप है। यह आत्महीन अभि-नय आत्मोद्रेक की 'लय' को कहीं तोड़ देता है, उसे ऊँचे स्वरों पर पहुँचाकर निरीह बना देता है या सपाट वक्तव्यों के जंगल में भटका दिया करता है। इस नाटकीयता में आत्म-साक्षा-त्कार के घनीभूत क्षण विरल ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण नाटकीय-शैली के नक़लची शायद ही उन घनीभूत क्षणों को पा सकेंगे जिनमें राजकमल का कवि एकांतभोक्ता के रूप में खड़ा है। राजकमल के लिए यह आत्मोद्रेक काव्य-शैली नहीं है, अनुभव का बंध (mode of experience) है। वैसे अनुभव का यह बंध उसकी कविता में संगति का अपहरण ही करता है।

कविता के भीतर आत्मविभाजन की यह तस्वीर पहली बार हमारे सम्मुख नहीं आई है। यह आत्मविभाजन बीस वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है। कहीं यह बुद्धि और भ.वना के विरोध के रूप में आया है तो कहीं काव्य-संवेदना में अनुभव और विचारों के विरोध के रूप में। संवेदनात्मक स्तर पर कवि के आत्मविभाजन का परिणाम आज की कविता की आंतरिक असंगति में व्यक्त होता है। अनुभव की तात्कालिकता और इतिहास का विरोध आज की कविता के सत्य को समझने का सही आधार प्रस्तुत करता है। नैतिक संकल्प के अभाव में विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज़्यादा कुछ नहीं बन पाता। जहाँ यह उन्माद दूसरों को तोड़ नहीं पाता, वहाँ अपने को ही तोड़ लिया करता है। राजकमल के साथ ऐसा ही हुआ।

वैसे यह आत्मविभाजन श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह के काव्य-व्यक्तित्व में भी उतना ही तीखा और स्पष्ट है। किन्तु ये दोनों ही कवि इस आत्मविभाजन की काव्यात्मक सार्थकता को समझते हैं। वे निर्णय की स्थिति में अपने को नहीं रखते, निर्णय की नैतिक तैयारी के लिए अपने को तत्पर बनाते चलते हैं। रघुवीर सहाय ने एक लम्बी छलाँग लगाई है। यह एक साहसिक छलांग है। समय से जुड़ने का उनका यह बौद्धिक प्रयत्न है। इसके पीछे कोई गहरी भावनात्मक विवशता हो ऐसा मुझे नहीं लगता। संभव है मेरा अनुमान गलत हो।

इतिहास से जुड़ना कवि के लिए अचानक समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने और अपने सहजीवियों के प्रयत्न, भोग और सम्बन्ध के परिज्ञान में मूर्त्त करता है, यही समय से उसका रचनात्मक सम्बन्ध है। इसी तदाकृति के लिए कविता के भीतर वह संघर्ष करता है। **इतिहास को एक जीवन्त अनुभव की तरह देखने में और एक समस्या की तरह देखने में अन्तर है।** अधिकांश कवि जब इतिहास को (समय को कहें) समस्या बनाकर कविता कर रहे हों, तब कुछ कवियों का उससे दूरी बनाए रखना यह साबित करता है कि इतिहास उनके लिए समस्या नहीं अनुभव है। कुँवरनारायण के लिए इतिहास की रागात्मक अविच्छिन्नता की रक्षा करना एक समस्या है, प्रयागनारायण के लिए उस अनाहत नैरंतर्य की भव्यता की रक्षा एक समस्या है और विजयदेव नारायण के लिए उस नैरंतर्य के भीतरी मापों को पहचानना एक समस्या है। इस अर्थ में श्रीकांत वर्मा ने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से जो दूरी बनाए रखने की चेष्टा की है उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहूँगा। स्मृतियों और अर्द्धज्ञात तथ्यों से समय का चित्र वे नहीं बनाते और न उसे परोक्ष सत्यों से ही परिभाषित करते हैं। उनके लिए इतिहास एक अनुभव है और अनुभव-भोक्ता और भोग के विषय में द्वैत की स्वीकृति भी है। इसी द्वैत के भीतर यह दूरी होती है जिसे अनुभवों में कवि तय करता है। इतिहास को अनुभव में संश्लिष्ट करने के लिए श्रीकांत वर्मा ने एक स्पष्ट काव्यात्मक आधार तैयार किया है। उसे हम कवि की आस्था कहें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी संवेदनात्मक तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध से यह अलग पड़ने वाली चीज़ है। भीड़ की भावना के लिए सत्य का आभास काफ़ी होता है। कवि इस आभास से अपने को बहला नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य से साक्षात्कार करना उसकी नियति है।

इतिहास के प्रति कवि की दृष्टि औपचारिक नहीं होती। इतिहास को वह अपने छोटे-बड़े अनुभव-खंडों में सहेजता है, फिर उससे एक संश्लिष्ट रूप खड़ा करता है। गीतात्मक ढाँचे में भी इतिहास रूपायित हो सकता है, इसे शायद कुछ लोग मानने को तैयार न हों, मगर मुझे तो श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह की छोटी कविताओं में भी इतिहास की अन्तर्ध्वनियाँ सुनाई पड़ जाती हैं। उनकी तुलना में धर्मवीर भारती की प्रॉमैथ्यूज़ जैसी कविताएँ समय-संवेदना का आवेश भर व्यक्त करती हैं। व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में इतिहास साही की कविताओं में भी अन्तर्ध्वनित होता है। युवा कवियों में यही अन्तर्ध्वनि इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने का पर्याय था वे सिर्फ़ वक्त की बोली बोलने में लगे थे। नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक समस्या हो गई, इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा बना रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोलकर आत्मसंतोष से बहलने लग गया। यह स्थिति रचना के लिए एक खुली चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से छली जाने लगी। इससे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति कविता के लिए दूसरी नहीं हो सकती। भावना की गतियों का यह छल एक काव्यात्मक साधन बन गया। हर कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता हुआ उसकी दुहाई देने लग गया और तुर्रा यह कि अपने इस छद्म को सही साबित करने के लिए उसने शहीदों का बाना धारण किया। कविता के लिए शहादत सचमुच इतिहास में एक घटना है। ऐसे शहीद कवियों के लिए संवेदना बटोरना मेरा काम नहीं है। नाटक का एक दृश्य इस शहादत से समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला यहीं से शुरू भी होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग तो समझा जा सकता है मगर उसकी गति को समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह गति दिशा-निरपेक्ष होती है। समकालीन कवियों के एक अच्छे बड़े समूह की दिशाहीनता इसी वेग का परिणाम है। **इस भावनात्मक वेग के काव्यात्मक उपकरणों को पहचानना बहुत मुश्किल काम नहीं है।** आत्मोद्रेक की काव्यशैली इसी भावनात्मक वेग से बनती है। उसकी नाटकीयता में आत्मसाक्षात्कार के घनीभूत क्षण विरले ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण काव्य-शैली के नकलची शायद ही उन घनीभूत क्षणों को पा सकेंगे जिनमें राजकमल का कवि अपने अनुभवों के सम्मुख अकेला था। फिर आत्मोद्रेक की यह काव्य-शैली वेग में जिस स्वाभाविक ढंग से अपने को तोड़ लेती है, आत्मक्षय करती है उसे दूसरे कहाँ पाएँगे। वे बन्दिशों को जोड़कर भी यह स्वाभाविक आत्म-विभाजन पैदा नहीं कर सकेंगे। राजकमल के लिए यह आत्मोद्रेक काव्य की शैली नहीं है, अनुभव का बंध है (mode of experience)। वैसे राजकमल में भी यह आत्मोद्रेक काव्य की संगति का अपहरण करता है।

कविता के भीतर आत्म-विभाजन की यह तस्वीर पहली बार हमारे सामने नहीं आई है। यह आत्म-विभाजन लगभग ३० वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्त्तमान है। आज की स्थिति में इसमें इतना भर अन्तर आया है कि पहले जहाँ यह आत्म-विभाजन बुद्धि और भावना के स्तर पर था वहाँ यह अब अनुभव के भीतर संवेदना के स्तर पर दिखलाई पड़ने लगा है। संवेदना के भीतर कवि के आत्मविभाजन का परिणाम आज की काव्यात्मक असंगति है। तात्कालिक अनुभवों में अपने को बाँधकर संतुष्ट हो जाना इसी काव्यात्मक असंगति को व्यक्त करता है। नैतिक संकल्प के अभाव में विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज़्यादा कुछ बन नहीं पाता। जहाँ वह दूसरों को तोड़ नहीं पाता वहाँ वह अपने को ही तोड़ कर संतुष्ट हो लेता है। आज के कवि की आत्महीनता का एक कारण यह उन्मादी भावना है जो अपनी ही गतियों से बार-बार छली गई है।

श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय से कुँवर नारायण की कविता अगर आज अलग पड़ने लगी है या प्रयाग नारायण त्रिपाठी इस पूरे प्रवाह से कट गए हैं तो इसलिए नहीं कि रचनात्मक स्तर पर इनमें कोई आधारभूत अन्तर है बल्कि इसलिए कि इतिहास के भीतर ये अपने को अलग-अलग प्रतिष्ठित अनुभव करते हैं। कुँवर नारायण के लिए इतिहास एक रागात्मक अविच्छिन्नता है, जबकि इस अनाहत नैरंतर्य की जड़ता को तोड़कर श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय समय की गतियों से जुड़ने का बौद्धिक प्रयत्न कर रहे हैं। प्रयागनारायण ने कविता को तिलांजलि देकर शायद उस अनाहत नैरंतर्य की रक्षा ही कर ली है। इतिहास से जुड़ने का अर्थ कवि के लिए अवाचक समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने एवं अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहजीवियों के प्रयत्नों, भोगों और संबंधों के परिज्ञान से मूर्त्त करता है। यही उसकी समय से रचनात्मक तदाकृति भी है और संघर्ष भी। श्रीकान्त वर्मा ने अपने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से दूरी बनाए रखने की जो चेष्टा की है उसके संबंध में दो शब्द कहना चाहूँगा। इतिहास के भीतर के तीखे अन्तर्विरोधों को पहचानने के लिए इतिहास से दूरी बनाए रखने की बात ऊपरी तौर पर सही है, मगर कवि अपने इतिहास को केवल बाहरी बनकर नहीं देखता—अपने अनुभव में उसे संश्लिष्ट करने के लिए एक काव्यात्मक आधार तैयार करता है। इसे हम कवि की आस्था कह लें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी कालबद्ध तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध की तरह न तो कवि उसे अपने से जोड़ता ही है और न उससे दूरी ही बनाता है। सत्य का आभास भीड़ की भावना के लिए पर्याप्त होता है। कवि इस आभास से अगर काम चलाने लगे तो उसे भीड़ की रूमानियत को ओढ़ लेनेवाला कहा जाएगा। विष्णुचन्द्र शर्मा, सौमित्र मोहन, भार्गव, कमलेश, धूमिल, मणि मधुकर, ऋतुराज, विनोदकुमार शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में सुनाई पड़ती है। कहीं यह एकालाप में, कहीं रिपोर्ताज़ में और कहीं शुद्ध कथात्मक काव्य-शैली में इसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। इन काव्य-शैलियों की ऐतिहासिक सार्थकता पर हम अलग से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अधिकांश कवियों में यह काव्य-शैली उत्तेजक, नाटकीय और आत्मोद्रेकपूर्ण है।

तात्कालिकता के संदर्भ में सम्पूर्ण जीवन-सत्य को प्रतिष्ठित करने वाली काव्य-दृष्टि को मैं खतरनाक मानता हूँ। इतिहास के भीतर और इतिहास के बाहर जीवन-सत्य को देखने वाली काव्य-दृष्टियाँ अपने-अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, मगर सिर्फ तात्कालिक संगति काव्य को न केवल सतही बना देती है, बल्कि उसे आयामहीन भी करती है। इस रचना दृष्टि में एक आन्तरिक रिक्तता होती है। एक विकसित होते हुए जनतंत्र में यह आन्तरिक रिक्तता क्या किसी भयानक परिणाम का संकेत नहीं है? प्रजातन्त्र की आलोचना करता हुआ कवि इस आन्तरिक रिक्तका को अगर नहीं पकड़ पाता तो मानना पड़ेगा कि वह आवेश से खेल रहा है। और हमारा यह भावनात्मक आवेश व्यवस्था के लिए उतना खतरनाक नहीं है जितना खुद हमारे लिए है।

इसी वस्तुस्थिति का संकेत करते हुए सर्वेश्वर ने लिखा है—

> **"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त**
> **हमारा-तुम्हारा और सबका गुस्सा**
> **जंगली सुअर की तरह तेजी से**
> **सीधे दौड़ता हुआ निकल जाएगा—**
> **और उस शिकार का कुछ नहीं बिगड़ पाएगा।"**

आवेश आन्तरिक व्यर्थता का उत्तर नहीं है। देश के अभिशप्त प्रजातंत्र पर आज की कविता व्यंग्य हो या न हो मगर वह कवि की आन्तरिक व्यर्थता पर तो व्यंग्य है ही। इतिहास के इस पीड़ास्पद अनुभव से हमारी पीढ़ी ने क्या सीखा है? अपनी आन्तरिक व्यर्थता से वह क्या साक्षात्कार कर पा रही है? अगर करती है तो क्या वह आवेश से किसी भिन्न स्तर पर भी है? इतिहास का यह व्यंग्य अर्थ मुझे लगता है, विस्तार-सूचक उतना नहीं है जितना वह सीमा-सूचक है। इतिहास को वर्त्तमान में सीमित कर देने की यही काव्य-परिणति हो सकती है।

इतिहास के भीतर इस गहरी रिक्तता का बोध क्षोभ पैदा करता है। क्षोभ एक नैतिक प्रतिक्रिया है। मगर इस क्षोभ की दिशाहीनता उसे व्यर्थ कर देती है। आक्रामक से अधिक वह मारक है। **इस मारक लय का आभास क्या समकालीन कविता के पूरे तंत्र में व्याप्त नहीं है?** किसी भी कविता की चार-पाँच पंक्तियाँ उठाकर हम इस मारक लय को रेखांकित कर सकते हैं। धूमिल, जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में **यह मारक लय ही कविता का संरचनात्मक आधार बन जाती है।** मुझे इस मारक लय में भीड़ की उत्तेजना का भाव तो मिलता है, मगर **इतिहास से गहरी संलग्नता का बोध** नहीं होता। अतिरंजित और नाटकीय काव्य-शैलियाँ प्रगीतों की ऐकांतिकता को नष्ट कर रही हैं और इस मारक-लय को व्यर्थ बढ़ावा देकर कविता को सिर्फ़ वर्त्तमान में छटपटाने के लिए अभिशप्त छोड़ रही हैं।

इतिहास को निर्णय से परे रखकर कवि कर्म एक अधूरे साक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मैं यह नहीं कहता कि कवियों को इतिहास में एक निर्णयात्मक भूमिका निभाने के लिए विद्रोह को संगठित करने का भी कार्य करना चाहिए। किसी भी काल में कवि से ऐसी अपेक्षाएँ न रही हैं और न अपने समकालीन कवियों से ही हमें ऐसी अपेक्षाएँ हैं। मगर इतिहास को निर्णय से परे रखनेवाली काव्य-दृष्टि भी अधूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। छायावादी कविता की नियति से हम परिचित हैं। नई कविता का प्रत्यय-विरोध भी इसीलिए आत्मक्षयी सिद्ध हुआ। समकालीन कविता इसी समस्या से दूसरे ढंग से प्रभावित है। **इतिहास को वर्तमान में शिलीभूत कर समकालीन कवि इसी व्यर्थता का शिकार हो रहा है।** यह ठीक है कि समकालीन कवि के सम्मुख वर्त्तमान एक आततायी आकार में खड़ा है, अंधेरे में इस आततायी आकार की संभावनाएँ और बढ़ जाती हैं—वह अँधेरे घर का साँप हो जाता है! क्या यही कारण नहीं है कि आज की काव्य-शैलियाँ अपने एकालापी उन्माद में या आत्मोद्रेक में काव्य-विडंबनाएँ हो जाती हैं। इतने बड़े पैमाने पर किसी काव्य-पीढ़ी ने विडम्बना की शैली अपनाई हो ऐसा मुझे नहीं मिलता। आज की काव्य-वधिरता (क्योंकि हर आदमी सिर्फ बोलता है, सुनता कोई नहीं!) को ट्रैजिक से ज़्यादा comic मानना मुझे इसीलिए ज़्यादा सही मालूम पड़ता है। मगर इन अभावात्मक तथ्यों के बावजूद कुछ ऐसा है जो आज की कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वह है समकालीन कवि की देश और काल में गहरी दिलचस्पी। इस दिलचस्पी की नैतिक आधारशिला चाहे स्पष्ट न हो मगर जिस आन्तरिक क्षोभ से वह परिचालित है उसे अनैतिक मानने का कोई कारण मुझे नहीं दीखता! अँधेरे से बार-बार टकरानेवाली यह रचना-दृष्टि मॉकहिरोयिक नहीं है। अपने प्रयत्नों की आन्तरिक पीड़ा उसे सार्थक और सम्पन्न बनाती है। यह आन्तरिक पीड़ा एक जीवन्त समुदाय की पीड़ा है। इस पीड़ा के साथ जीवित रहने और संघर्ष करने के लिए हम अभिशप्त हैं। इस ऐतिहासिक स्थिति की करुणा हमारे सारे काव्य-प्रयत्न की प्राणशक्ति है—

इतिहास के अँधेरे में पड़ी हुई एक पूरी रचना-पीढ़ी निश्चित रूप से अपने लिए मार्ग चुन रही है। यह मार्ग जितना भी विकट हो, मगर हमारी मुक्ति का यही मार्ग है। अपने रास्ते के इस चुनाव में उसे जो संकट झेलना है उसके प्रति वह पूरी तरह सचेत है, ऐसा तो नहीं कहूँगा, मगर सामान्य रूप में उसकी तत्परता इसी का संकेत करती है। इतिहास एक आतंककारी अनुभव के रूप में यदि आज आयत्त किया जा रहा है तो इसमें आश्चर्य नहीं है। किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए समकालीन इतिहास का यह काल-खंड न केवल अपने अनिश्चय के कारण भयानक है, वल्कि यह भी कि इस अनिश्चय के प्रतिकार की अनिश्चयता भी एक ओर से हमें आत्म-विडम्बनाओं से भर देती है। कमलेश ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा है, "अक्सर ये कविताएँ आज की कविता की किसी संगत समस्या का सामना करती हुई नहीं लगतीं, इनसे कवि की संवेदना और उसके अभ्यास का ही पता चलता है।" इस अभ्यास की एकरूपता के पीछे क्या एक विडम्बना नहीं है? कई कवियों में यह विडम्बना पूरी काव्य-चेतना के भीतर से निःसृत है।

आज की कविता की संगत समस्याओं पर नज़र दें। मेरी दृष्टि में आज की कविता की केन्द्रीय समस्या अनुभव को कविता में संश्लिष्ट करने की है। मुद्राओं की जड़ता को तोड़कर तब तक उजागर नहीं किया जा सकता जब तक कविता में गतियों का स्वरूप स्पष्ट न हो। अनुभव से हीन स्थिति में भी काव्यमुद्राओं से कुछ कवि अपना काम चला लिया करते हैं, मगर रचना के क्रम में ये मुद्राएँ वास्तविक गतियों को इंगित नहीं कर पातीं। उनमें कहीं स्थिरता आ जाती है। कवि नई भाव-भूमि को तोड़ने के बदले केवल मुहावरे जोड़ने लगता है और अपनी काव्य-मुद्रा को दुहराता चलता है। युवा कवियों में कई ऐसे हैं जो लगातार वर्षों से रचना(!) में लगे रहने के बावजूद अपना विकास सूचित करने में असमर्थ रहे हैं। उनका काव्यजगत् व्यापारों से सर्वथा रिक्त है। फिर कविता में व्यापार केवल संज्ञ नहीं होते, उनकी संगति का एक भावात्मक धरातल होता है जो व्यापारों को एक संवेदनात्मक और संश्लिष्ट अर्थ प्रदान करता है। परिवेश को कविता में नाटकीय उपादान बनाकर रखना और उससे भावनात्मक संदर्भों का निर्माण कर लेना दो अलग-अलग परिणाम हैं। ज्याँ कॉक्तो ने अपनी आलोचनात्मक डायरी में ठीक ही लिखा है, "विषयों और संवेगों को अपरिचित संदर्भों में चित्रित करने के बावजूद एक अन्तःसंगति पैदा करने की कला कविता को नाटक से अलग करती है।" दृश्यकलाओं से कविता की अन्तःसंगति को अलगाए बिना नाटकीय उपादानों के प्रयोग में त्रुटियाँ आती हैं। समकालीन कवि अपने उपादान के प्रति बहुत कम सचेत मालूम पड़ता है, इसीलिए कहीं रिपोर्ताज़ की गद्य-शैली को वह कविता में अपना लेता है, कहीं नाटकीय वक्तव्य की शैली अपनाता है और कहीं सीधे वक्तव्यों को कविता बना देने का दुस्साहसिक प्रयत्न करता मालूम पड़ता है। कथा का आभास देने वाली काव्य-शैली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैंटेसी से मिलाकर प्रस्तुत की जा रही है। इसके अतिरिक्त भी कई प्रचलित काव्यान्तर विधियाँ हैं जिनका उपयोग कविता में आज धड़ल्ले से कर लिया जाता है।

इससे कविता का ढाँचा तो तैयार हो जाता है, मगर काव्य-संवेदना में कहीं कोई विस्तार नहीं होता, प्रभाव में आत्मीय स्थिरता नहीं होती। उग्रता को शब्दों में बाँधकर तारे की तरह दुहराने वाले कवि इस संभ्रम के भीतर वस्तु-सत्य को नकारकर स्वप्न की भाषा बोलते हैं। इसलिए अनेक कवियों की तुलना में मुझे विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, धूमिल और ऋतुराज की कविताएँ, कविताएँ मालूम पड़ती हैं।

युवा कवि सिर्फ एक असफल होते हुए प्रजातन्त्र की पीड़ा के ही भागीदार नहीं हैं। वे इसके साथ-साथ एक व्यापक स्तर पर मनुष्य की आंतरिक व्यर्थता की पीड़ा भी झेल रहे हैं। इस अस्तित्ववादी 'नुआंस' की व्याख्या यहाँ गैरज़रूरी होगी। अपनी विडम्बना के प्रति सचेत होने का भाव इन्हें एक स्वतन्त्र काव्य-भूमिका देता है। यहाँ इतना ही कहना मैं काफी समझता हूँ कि इस पीड़ा के अनेक सन्दर्भ हैं। कहीं यह सन्दर्भ सामाजिक जीवन के भीतरी तनावों से बनता है, कहीं व्यवस्था के अर्न्तविरोध से और कहीं नितान्त भिन्न स्तर पर निजी संकट के भावात्मक बोध से। इस संकट की एक आत्मिक संगति भी है जिसे पश्चिमी मुहावरे में 'आत्मिक संकट' कहा जाता है।

आज की कविता की इन संगत समस्याओं से हर कवि अपने-अपने ढंग से साक्षात्कार करता है। यह ठीक है कि काव्यात्मक माध्यमों, शैलियों, संदर्भों के काव्योपकरणों में ये कवि एक-दूसरे से स्वतन्त्र और आत्मसम्भावनाशील हैं, किन्तु काव्य-संवेदना की ज़मीन इनमें लगभग एक है। इन कवियों की हैसियत एक व्यंग्यकार की नहीं है जो स्थितियों के अर्न्तविरोध के बाहर रहकर उसे उद्घाटित करता है। ये सारे कवि इस असंगति में अपने को कहीं वर्तमान अनुभव करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में गीतों की रचना सम्भव नहीं रह गई है, आज का काव्यजगत् इतना वैयक्तिक और निजी हो ही नहीं सकता। मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि आज की कविता भीड़ की कविता है। कविता इतनी व्यक्तित्वहीन भी नहीं हो सकती। अपनी आत्मीयता की रक्षा की लड़ाई में आज का कवि सबसे ज़्यादा संलग्न है।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय मुहावरों के बावजूद युवा-पीढ़ी भारतीय जीवन और वास्तविकता से असंपृक्त नहीं है। यह ठीक है कि भारतीय जीवन के पूरे विस्तार में यह काव्य-पीढ़ी नहीं गई (शायद कोई कविता-पीढ़ी नहीं गई) मगर इससे यह नहीं माना जा सकता कि भारतीय जीवन को उसने मूर्त्त करने की चेष्टा नहीं की है। असफल होता हुआ प्रजातंत्र, व्यवस्था की गिरती दीवारें, मूल्यों का सम्पूर्ण ध्वंस, फासिज़्म की जनमती परिस्थितियाँ और कई दूसरी भावनात्मक समस्याएँ आज के व्यक्ति को एक निर्णयात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर रही हैं। संत्रस्त वह कहीं भीतर से है। उसके संत्रास की कई दिशाएँ हैं, कई पहलू हैं। सबसे स्पष्ट बात तो यह है कि यह संत्रास युवा कवि के लिए अस्तित्व की मौलिक समस्या उतनी नहीं है जितनी वह एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर की है। आक्रोश इस संत्रास की ऐतिह्यता को मूर्त्त करता है।

हमारा युग नाटकीय परिवर्तनों का युग नहीं है। हर युवा स्वर की विवादी दीर्घता या संवादी स्वीकृति के बावजूद नाटकीय परिवर्तनों की यह दुनिया मुझे दीख नहीं पड़ती। **यह परिवर्तन एक कठोर वस्तुस्थिति के तनावों में ही अभी मूर्त्त हो रहा है।** स्थिति के भीतर के निष्करुण विरोध को नाटकीय मुद्राओं (गतियों) में बदल लेना एक काव्यात्मक उपचार-मात्र कहा जाएगा। मसलन एक कविता की इन पंक्तियों को देखें :

"सिगरेट/नुक्कड़/दुकान/सुबह
हर सुबह का रूप अलग/मगर परी/सोई रहती है गहरी नींद/
वह किसी दफ्तर में/दिन उदास शाम गुज़ारता है/मौके कम
एक-दूसरे के पास होने के।"

—'आकाश के टुकड़े'

स्थिति के इस निष्करुण विरोध को वक्तव्य में दोहराना काव्य-शैली की समृद्धि नहीं है। ऐसे वक्तव्यों से काव्य की संरचना पुष्ट नहीं होती, भाषा का रचाव तीखा नहीं होता, किसी गहरी संवेदना का आभास नहीं होता। ऐसे ढाँचे में नाटकीय मुद्राएँ यदि भर भी दी जाएँ तो उनसे कविता में कोई घनत्व नहीं आ पाएगा। अनुभव की दुनिया को सहेज पाना, उसे संश्लिष्ट कर पाना साधारण महत्त्व की चीज़ नहीं है। सायास बिखराव की एक काव्य-शैली होती है, मगर असचेष्टता या अशक्यता के कारण उत्पन्न बिखराव की कोई काव्य-शैली आज तक नहीं बनी। बिखराव के भीतर न केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-प्रभाव नष्ट होता है, बल्कि यह भी कि काव्य-पाठ एक दुःखदायी विवशता बन जाता है।

परिवर्तनकारी कुछ घटित हो रहा है, मगर वह क्रान्तिकारी भी है ऐसा सहसा मालूम नहीं पड़ता। क्या निकट भविष्य में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन की कोई सम्भावना हम देख पा रहे हैं? या युवा कवि को कई पीढ़ियों तक यह अभिशाप झेलना पड़ेगा? ये प्रश्न केवल कविता के संदर्भ में ही सार्थक नहीं है, समस्त रचना-संदर्भ में सार्थक हैं। क्या परिवर्तन का यह संसार हमें दीख नहीं पड़ रहा है या कि वह कहीं तनावों में स्थगित है? अपने सारपास को एक बार गहरी नज़र से देखना होगा, तब कहीं हम उसके काव्य-सत्य तक पहुँच पाएँगे।

इस अवस्था के भीतर की जड़ता से आत्मसंघर्ष करता हुआ एक कवि कहता है—

शुरू करूँगा / अब तो मैं नये सिरे से शुरू करूँगा /
पाँवों की थकान के निशानों के आगे चलूंगा /
कीड़े की छटपटाहट को खत्म करूँगा /
स्याही भरूँगा बरसाती पानी में /
फिर से चलूंगा।

—'कोई शीर्षक नहीं।' —नवल

और एक उदाहरण—

रेंक-रेंक-रेंक करें /
क्या करें /
राम राम राम मरा /
मरा करें / या मारें / एक—एक को तकके /
क्या करें!"

—श्रीराम वर्मा

स्थिति का यह आलेख एक विकल्पात्मक मन का उद्‌गार मात्र नहीं है। इसके पीछे अनुभव का एक तीखापन भी है और परिस्थिति का बौद्धिक आकलन भी। यह अनुभव नाटकीय भी है और अन्तरंग वेग के कारण सघन भी। उदाहरण और भी इकट्ठे किए जा सकते हैं।

युवा कवि के आत्मविरोध को समझने के लिए उस मनोभूमि को पहचानना होगा जिसे मैंने अँधेरे से साक्षात्कार कहा है। आज की कविता के भीतर जो अन्तराल हैं वे इसी मनोभूमि के भीतर से झाँकते हैं। विरोध का यह संसार कितना क्रियात्मक है और कितना भावनात्मक इसकी परीक्षा स्वयं कविताओं से की जा सकती है। किसी के फ़तवे से यह संसार न तो ग़लत हो जाता है और न सही। विरोध की इस समकालीन वास्तविकता को रचनात्मक मनोभूमि या आधार बना कर ही हम उसकी परीक्षा करें तो अच्छा हो। कविता के भीतर अंतराल हर युग में रहते हैं और रहेंगे। मगर अपने निकटतम रचनात्मक परिवेश में हमें यह अन्तराल अधिक चौड़ा दिखलाई पड़ता है। यह अन्तराल समकालीन कविता में क्यों पैदा हो गया? इस प्रश्न को एक सनातन स्थिति या स्वाभाविक रचनात्मक परिस्थिति मानकर टाला नहीं जा सकता। जगत्-व्यापार और भाव-स्थितियों के तनाव की यह परिस्थिति एक पीढ़ी के रचनात्मक महत्त्व को स्थापित करती है। यों तो यह दूरी एक हद तक कविता के इतिहास में हर युग और हर स्तर पर देखी जा सकती है। जैसे तुलसी के मानस और विनयपत्रिका के पदों में यह दूरी है। कबीर के पदों और शबद-रमैनी में भी यह दूरी है। रीतिकाल के कवियों में यह दूरी 'हरि सुमिरन' का बहाना है और भारतेन्दु की कविता में यह दूरी एक ऐतिहासिक चेतना के अन्तर्विरोधों को मूर्त्त करती है। छायावादी कवि इस अन्तराल को एक औपचारिक दर्शन से पाटना चाहता है। प्रगतिवादी कविता में इस अन्तराल का आभास शमशेर और मुक्तिबोध की काव्य-चेतना में मिलता है। नई कविता में ज़रूर एक कृत्रिम पुल बनाने की चेष्टा की गई है, मगर उस पुल पर कोई चला हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

समकालीन कवि कविता के भीतर की इन खाइयों को पूरी ईमानदारी से स्वीकार करता है। यह खाई कवि के अनुभव और काव्यादर्शों के बीच की खाई है, साथ ही यह अनुभव के भीतर भी कहीं गहराई में झाँकती मालूम पड़ती है। श्रीकान्त वर्मा हों या केदारनाथ सिंह, विष्णुचन्द्र शर्मा हों या मुद्राराक्षस, कमलेश हों या धूमिल, ऋतुराज हों या मणिमधुप, इन सबमें यह अन्तराल किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। इसीलिए धूमिल की समस्या यह है कि उनकी फैक्टरी के सहकारी उनकी कविता नहीं समझते, और कमलेश की समस्या यह है कि वे झूठे आक्रोश की मुद्रा अपनी कविता में नहीं टाँक सकते।

रघुवीर सहाय ने ज़रूर इस खाई को पार करने के लिए एक लम्बी छलाँग लगाई है। सम्भावना और साहसिकता के काव्य-संदर्भ एक नहीं होते। अवश्य 'आत्महत्या के विरुद्ध' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि ने एक साहसिक छलाँग लगाई है। मगर यह भी संभव है कि अगले संग्रह में यह छलाँग एक असंगत स्थिति की साक्ष्य हो जाए। दोनों ही स्थितियों में यह एक दुःखद परिणाम होगा। इस संग्रह के बाद की कविताओं से ऐसा नहीं लगता कि कवि अपनी इस तेज़ गति की रक्षा कर पा रहा है। बाद की कविताओं में एक अनावश्यक ठहराव भर है। बल्कि इन कविताओं में लटके का ज़ोर और बढ़ गया है, परिदृश्य सँकरा होने लगा है और **सामान्य व्यापार-विरोधों को ही कवि ने अनावश्यक रूप से 'तेज़' करने की चेष्टा की है।** स्फीत नाटकीयता भावस्थिति को निरूपित ही करती चली गयी है। इसी तरह मणि मधुकर की लम्बी कविता 'खंड-खंड पाखंड पर्व' में एक कूलक्षयी वेग है जो अपने ही किनारों को काटता चलता है। कवि-कल्पना का गुण उसका नियंत्रित होना है। कल्पना अनियंत्रित होकर कविता के प्रकृत और संभावनामूलक प्रवाह को ही नष्ट कर देती है। परिदृश्य को तोड़ते चलना, व्यर्थ संगतियों (असंगों) से भरते चलना रचनात्मक कल्पना का अपव्यय है। यही कारण है कि अपने खंडों में संश्लिष्ट होकर भी यह लंबी कविता पूरे प्रभाव की ज़मीन पर बिखरी हुई मालूम पड़ती है। एक रिक्तता का तनावपूर्ण वातावरण ज़रूर इस कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। कमलेश की कविता 'जरत्कारु' अधिकांश एकालापी नाटकीय कविताओं से भिन्न है। वहाँ ज़रूर कवि-कल्पना भावात्मक विरोधों के लिए नियंत्रण का काम करती है। अपने नाटकीय-विधान के बावजूद श्रीराम वर्मा की लंबी कविता इस अन्तराल को पाटने के लिए कवि के आत्म-संघर्ष की तत्परता सूचित करती है।

समकालीन कविता के भीतर इन अन्तरालों का रह जाना एक रचनात्मक अनिवार्यता है। संपूर्ण भावनात्मक संश्लिष्टता जिस श्रेण्य साहित्य की उपलब्धि है, उसकी संभावनाएँ हमारी पीढ़ी अभी निर्मित कर रही है। वर्तमान स्थिति में द्वन्द्व और तनाव के साथ दूरियों का रह जाना स्वाभाविक है। कोई ईमानदार कवि इन दूरियों (अन्तरालों) से अपनी रक्षा कर ले, ऐसा संभव नहीं मालूम पड़ता। अज्ञेय अगर इस दृष्टि से आत्मपूर्ण मालूम पड़ते हैं तो इसका कारण यही है **कि वे इतिहास के बाहर एक संतुलन बना रहे हैं।**

समय के स्पर्श की छवियाँ जहाँ-जहाँ भी मिलेंगी, वहाँ-वहाँ यह आत्मविभाजन दीख जाएगा। चूंकि यह काव्यात्मक आत्मविभाजन समय और परिवेश से कवि के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का परिणाम है, इसलिए कोई स्वप्नजीवी ही अपने को इस विरोध से बचा ले जा सकता है। मगर जहाँ यह अन्तराल कवि की संवेदना से होकर काव्य के 'रूप' को प्रभावित करने लगता है, वहाँ ज़रूर यह कवि की रचनात्मक अशक्यता का प्रमाण बन जाता है। 'मुक्ति-प्रसंग' में यही रचनात्मक अशक्यता है और 'आत्महत्या के विरुद्ध' में उस लम्बी छलाँग के बावजूद यह रचनात्मक अशक्यता अन्तर्ध्वनित होती रह जाती है। यह स्थिति निश्चित रूप से कविता को कमज़ोर करती है और सर्जनात्मक बाधा के रूप में हमारे लिए विचारणीय बन जाती है। क्या कविता को भाषा के कोलाहलपूर्ण चमत्कार में बदलकर कोई कवि अपनी आत्मसंकुलता के इस भीतरी विरोध को बचा ले जा सकता है? क्या कविता के लिए यह 'मारक स्वर' इतना अनिवार्य है? इस मारक भाषा के ढाँचे पर भी थोड़ा विचार कर लेना यहाँ ज़रूरी है। कहीं-कहीं कवि भाषा को शब्द की इकाइयों में तोड़कर संकेतिकता या विवरण की सादगी पैदा करने की धुन में एक काव्यात्मक रैकेट तैयार करता है। काव्य-भाषा का यह 'बाज़ारूपन' अगर कुछ सचेत कवियों को असह्य लगता है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है! भाषा के इस दुरुपयोग से हम क्या कोई सीख ले रहे हैं या हम इस स्थिति को और गहरा बनाने की चुप्पी बरत रहे हैं? यह ठीक है कि शक्तिहीन मिथकों, प्रतीकों और बिम्बों के भार से मुक्त होकर हम सपाट गद्य-भाषा में कविता रच लेते हैं, मगर भाषा का यह नंगापन क्या काव्यभाषा की अक्षमता को ही सूचित नहीं करता? भाषा में आभिजात्य न हो, मगर काव्य का 'गस्टो' तो होना ही चाहिए। कुछ कवियों ने, खुशी है, इस ओर ध्यान दिया है। सर्वश्री विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, ऋतुराज और शिवकुटीलाल वर्मा की भाषा मुझे इस दृष्टि से ज़्यादा साफ़ और प्रभावशाली मालूम पड़ती है।

अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा ठीक वही नहीं हो सकती जो छायावादी काव्य की थी या फिर नई कविता के भाववादी आत्मान्वेषण के समय में विकसित हुई। इन अलग-अलग उत्थानों में भाषा अवाचक स्थितियों में बँधी, मूड्स का शिकार हुई या अनावश्यक नाटकीयता के कारण अपनी निजता खो बैठी। उसका आवेशात्मक ढाँचा महज़ एक रेह्टारिकल उपचार भर था। आज भी भाषा पत्रकारिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्तेजक विवरणों से दूषित हो रही है। आज के एकालापी नाटकीय ढाँचे में तथ्य-सूचना चाहे जितनी हो मगर अंतरंग स्थितियों के अनुकूल वह नहीं है। इन एकालापों में जीवन्त वातावरण की भाषा का प्रयोग श्रीराम वर्मा, धूमिल और मणिमधुकर ज़रूर कर लेते हैं, मगर इन्हीं एकालापों में अधिकांश युवा कवि अपनी भावात्मक दरिद्रता का इज़हार भी कर रहे हैं। आरोह-अवरोह की सहज लय इन कविताओं की भाषा में नहीं है। नाटकीय संवादों की यह भाषा काव्य के बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। फिर भाषा की नाटकीयता मुक्तिबोध की कविताओं में भी तो है। अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा का आदर्श श्मशानी पीढ़ी के कवि नहीं हो सकते। अप्रासंगिक और चामत्कारिक सूचनाओं की भाषा को जो लोग नाटकीय मान रहे हैं उन्हें क्या कहा जाय! भाषा का काव्यात्मक और आत्मीय रूप अभी स्थिर होना है।

अँधेरे से इस साक्षात्कार का परिणाम यह हुआ कि कवि ने स्वप्न देखना बन्द कर दिया है। उसकी समस्या अँधेरे में स्वप्न देखने की नहीं है, आँख खोलकर पूरी तत्परता से इस अँधेरे को काव्य में, रचना में झेलने की है। अपनी इस समस्या को वह समझता है और उसके प्रति सचेत है। अपनी आंतरिक कोलाहलपूर्णता के बावजूद समकालीन कविता केवल 'नैराश्य और संशय' की कविता नहीं है। वह निराशा और संशय से हमारी व्यापक लड़ाई को व्यंजित करने वाली है। समकालीन कविता का यही रचनात्मक संदर्भ है। यह ठीक है कि उसकी बनावट अन्तर्विरोधों से जुड़ी है, मगर अपनी इस बनावट में वह आज की गहरी मानवीय यातनाओं से भी जुड़ती है। एक कवि के शब्दों में कहना चाहूँगा—

कुछ दिन और अभी यही लगेगा/
रातों-रात बदल गए संबंधों से—
कल का सूर्य विकृत नहीं उगेगा/
कुछ भी नहीं होगा लांछित
सिर्फ
एक लावा / जो कुर्सियों के आसपास
फूटेगा /
नक्शा बदलने के लिए काफ़ी है।

—'इस व्यवस्था में'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा

मलयज

'आरम्भ' (जुलाई १९६८) में मैंने एक लेख लिखा था—'खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता', जिसमें श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संग्रह 'माया दर्पण' के बहाने समकालीन सर्जन-प्रक्रिया के कुछ पहलुओं का विश्लेषण किया गया था। उसमें श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा के सन्दर्भ में एक जगह 'इंटिग्रिटी' शब्द का मैंने इस्तेमाल किया था—कि श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा में कहीं फाँक है, उसमें अक्सर 'इंटिग्रिटी' नहीं रह जाती। 'इंटिग्रिटी' शब्द के अर्थ-सन्दर्भ की व्याख्या श्रीकांत वर्मा की काव्य-प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में मैंने की थी, पर अब लगता है कि वहाँ जो बात सिर्फ़ संकेतों में उठाकर छोड़ दी गई थी उस पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है।

अन्तर्निष्ठा (इंटिग्रिटी') एक अर्थगर्भ शब्द है। इसमें यदि एक ओर नैतिक मूल्य-बोध की पहचान ध्वनित होती है तो दूसरी ओर यह शब्द मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्तित्व के भावनात्मक एवं बौद्धिक संवेगों की जटिल बनावट तथा इनके सन्तुलन को व्यक्त करने वाले अर्थ की भी छाप लिये हुए है। साहित्य अथवा कला की मीमांसा में जहाँ हमने और-और अनुशासनों के प्रत्यय लिये हैं वहीं नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान क्षेत्र से भी लिये हैं। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि साहित्य और कला भी अन्य शास्त्रों-अनुशासनों की तरह एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के ही अंग हैं। यह अवश्य है कि एक अनुशासन का प्रत्यय दूसरे अनुशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने पर अपने मूल अर्थ की सम्पूर्णतः रक्षा नहीं कर पाता, उस पर से अर्थ की कुछ परतें उतर जाती हैं और कुछ नई परतें चढ़ जाती हैं। 'अन्तर्निष्ठा' शब्द नैतिक अर्थ-संदर्भ में एक 'निर्णय' (जजमेंट) को सूचित करता है और मनोविज्ञान के अर्थ-संदर्भ में एक 'स्थिति' को। सर्जनात्मक साहित्य की विवेचना में अन्तर्निष्ठा का प्रत्यय इन दोनों ही अर्थच्छवियों को समेटकर चलता है। यहाँ अन्तर्निष्ठा के दोनों ही अर्थों को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति या कला पर लागू कर देखने पर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। कला की नैतिकता क्या है? सबसे पहली और सबसे आखिरी यह कि वह अपने अनुशासन पर दूसरा कोई अनुशासन हावी न होने दे। कला की उत्स-संवेदना और उसकी चरम अभिव्यक्ति के बीच अक्सर जो एक बीहड़ अन्तराल पाया जाता है उसके किसी भी बिन्दु या स्तर पर वह अपने प्रति सच्ची बनी रहे—जैसे घटाटोप अँधेरे में रोशनी की एक लौ पर टिकी अनझिप आँख होती है। इसे दूसरी तरह से कहें तो यह कि सर्जनात्मक तनाव बराबर बना रहे, क्योंकि सतत तनाव की स्थिति में ही आधुनिक कला अपने प्रति सच्ची बनी रह सकती है। और यह तनाव भी कैसा जो चरम अभिव्यक्ति के क्षण में ही कला-संवेदना को प्राग्-अभिव्यक्ति की आदिम स्थिति की ओर मोड़ दे। चाहें तो इसे तनाव की गतिशीलता कह सकते हैं, जो अन्तर्निष्ठा को उसके निर्णयात्मक मूल्य-बोधक अर्थ-संदर्भ से उठाकर सर्जनात्मकता के सतत गतिशील सन्तुलन-क्षेत्र में ला खड़ा करता है जहाँ उसका अर्थ कला-संवेदना की प्रकृति और आकृति का माप बताना मात्र न होकर उसमें हिस्सा लेना और उनके विभिन्न संघटनों-समवायों को सक्रिय प्रभावित करना भी हो जाता है। अर्थात् सर्जनात्मक प्रेरणा में अन्तर्निष्ठा एक 'निर्णय' भी है और एक 'स्थिति' भी। बल्कि यह कहना शायद ज्यादा संगत होगा कि सर्जनात्मक प्रेरणा में 'निर्णय' ही 'स्थिति' है, क्योंकि यह 'स्थिति' एक सतत गतिशीलता की स्थिति है और 'निर्णय' इस गतिशीलता को बरकरार रखने की भूमिका अदा करता है, क्योंकि वह सर्जनात्मकता की केन्द्रवर्ती धारा से तट की ओर बह आए कला-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदन की उपलब्धि को पुनः केन्द्रवर्ती धारा की अर्थपूर्ण अराजकता की ओर ढकेलने का कार्य-सम्पादन करता है। जैसे कि शब्द कला-संवेदना पर एक 'निर्णय' है, क्योंकि वह कला-संवेदना को परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध करके उसे एक अर्थवान संदर्भ प्रदान करता है। पर शब्द एक 'स्थिति' भी है, क्योंकि रचना में वह एक ऐसा पारदर्शी तत्त्व है जो अग्रिम संवेदना के आयाम में उस परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध अर्थ को गतिशील, अतः अराजक और संभावनापूर्ण बनाता है।

इस तरह कुल मिलाकर अन्तर्निष्ठा रचनाकार-व्यक्तित्व की संघटना-विशेष को ही व्यक्त करती है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का अर्थ अपेक्षाकृत अधिक जटिल और संश्लिष्ट हो जाता है। हम यह स्वीकार करके चलते हैं कि ऊपर हमने अन्तर्निष्ठा को जिस रूप में परिकल्पित किया है वह आधुनिक सर्जनशीलता के संदर्भ में उठे प्रश्नों को समझने तथा विश्लेषित करने में ही अधिक संगत एवं अर्थपूर्ण ठहरता है। अतः अन्तर्निष्ठा के इस विशेष अर्थ-बिन्दु से चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम यह कह सकते हैं कि रचनाकार-व्यक्तित्व की अन्तर्निष्ठा का यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्तित्व कला-सृजन के उपजीव्य भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण तथा सर्जित करता है, बल्कि यह है कि वह व्यक्तित्व सर्जनात्मक तनाव को सतत एक प्रतिक्षण विस्फोट होते रहने वाले प्रवाह के रूप में अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। यह सही है कि सर्जनात्मक तनाव का प्रत्यय सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी बहस के दौरान पिछले कुछ सालों से ही हिन्दी में प्रयुक्त होने लगा है, पर किसी भी युग के सार्थक रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण में सामान्य अर्थ में तो उसका प्रयोग किया ही जा सकता है। यहाँ वस्तुस्थिति का अन्तर 'सर्जनात्मक तनाव' शब्द के पहले प्रयुक्त न होने और अब होने लगने में उतना नहीं जितना कि सर्जनात्मक तनाव की प्रकृति में अन्तर आ जाने में है। इस अन्तर को नाट्य-रचना के एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। नाट्य-रचना का उदाहरण केवल इसलिए कि इसमें अन्य रचना-प्रकारों की बनिस्वत 'तनाव' अधिक मुखर रूप से निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है। प्राचीन नाट्य-रचनाओं में तनावपूर्ण गंभीर आशय वाले दृश्यों के बीच-बीच में अक्सर हल्के-फुल्के भिन्न स्तर के दृश्य होते थे जिन्हें 'कॉमिक रिलीफ़' के नाम से जाना जाता है। शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' में दो तनावपूर्ण दृश्यों के बीच 'पोर्टर नाकिंग सीन' या 'किंग लियर' के बीच-बीच में विदूषक वाले दृश्य इसी प्रकार के 'कॉमिक रिलीफ़' के दृश्य हैं। दो तनावपूर्ण स्थितियों के बीच का यह अन्तराल नाट्य-रचना के स्थूल आकार (और भावक पर पड़नेवाले उसके प्रभाव) में ही नहीं घटित होता, वरन् रचनाकार-व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता के स्तर पर भी घटित होता है। निश्चय ही सर्जनात्मकता के संपूर्ण 'स्वर' (टोन) में इससे कोई विसंवादी स्वर नहीं उत्पन्न होता, पर यह अन्तराल सर्जनात्मक तनाव की गतिशीलता के एक प्रकार के पठार को व्यक्त करता है। यह दूसरी बात है कि यह सब सप्रयोजन होता है, और प्रयोजन यह होता है कि यह अन्तराल रचना की मूल गंभीर एवं तनावपूर्ण भाव-विचार-संवेदना को और भी प्रबल और पुष्ट कर दे। यहाँ हमारा आशय केवल यह बताना है कि इस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव का प्रवाह अथवा संचरण-गति बहुत-कुछ विषय-वस्तु द्वारा उत्थान-पतन की दिशा में संचालित होती है; दूसरे शब्दों में यह कि उस सर्जनात्मक तनाव का स्रोत पूरी तरह रचनाकार के व्यक्तित्व के भीतर निहित नहीं होता, और यही कारण है कि वह उस तनाव को एक मूर्त, वस्तुपरक एवं व्यक्ति-निरपेक्ष रचना में संक्रमित कर सकता है, क्योंकि वह उस तनाव को नियंत्रित कर सकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की सर्जनात्मकता में रचनाकार भाव-विचार-संवेदन की स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करता है, इसी से उसके सर्जनात्मक तनाव का समाहार एक परिपूर्णता तथा समग्रता के प्रभाव में होता है। त्रासदी में यह परिपूर्णता करुणा अथवा निर्वेद के रूप में और सुखान्त में आह्लाद के रूप में होती है। प्रभाव के इस स्तर पर सर्जनात्मक प्रक्रिया अपनी यात्रा समाप्त कर एक गंतव्य तक पहुँची हुई होती है। भावक को वह अगली किसी संभावित यात्रा का संकेत देकर नहीं छोड़ती। हाँ, भावक चाहे तो यह एक बार तय की हुई यात्रा दुबारा अंत से आरम्भ की ओर फिर से शुरू कर सकता है। ऐसे में यह रचना-कृति की शक्ति और रचनाकार की प्रतिभा की महानता मानी जाएगी कि भावक यह यात्रा दुबारा करने को प्रेरित और बाध्य हो जाता है। इस 'उल्टी' यात्रा में अर्थ की प्रतीति और संवेदनाओं के प्रभाव-चिह्न और भी गहरे होते जाते हैं, कलाकृति का मर्म और भी सुहृद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशद और गंभीर होता जाता है। एक अर्थ में भावक की कलाकृति की 'समझ' भी अधिक पैनी और गहरी होती जाती है। पर अन्ततः यह यात्रा एक पिछली तय की हुई यात्रा ही है। इसे चाहे जितनी बार दुहराओ उससे अनुभूति में कोई मूलभूत गुणात्मक परिवर्तन नहीं आयेगा, गहरा और क्लासिक-क्रिस्टल चाहे भले हो ले। सर्जनात्मक प्रश्नशीलता के जिस दौर से एक बार आप रचना में यात्रा करके गुज़र चुके हैं वह आपको बार-बार मथ सकती है केवल इसलिए कि आपके भाव-संवेदन अधिक पककर, अधिक तपकर एक परिपुष्ट धरातल तक पहुँच सकें; उस सर्जनात्मक प्रश्नशीलता में नया-नया विस्फोट नहीं होता रहेगा जो आपके भावसंवेदन को एक हमेशा आन्दोलित रहने की स्थिति में बनाये रख सके, कि आपको लगे कि यात्रा के दौरान आप प्रश्नशीलता के एक गह्वर से निकल कर दूसरे गह्वर में प्रवेश कर रहे हैं।

यह सतत आन्दोलित रख सकने की स्थिति जिस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव की अपेक्षा रखती है वह पहले प्रकार के सर्जनात्मक तनाव से भिन्न है। इलियट के 'मर्डर इन द कैथीड्रल' में की गई यात्रा का कोई अंत नहीं है। 'वेस्ट लैंड' (जो अपनी भाव-विचार-संवेदना में किसी भी त्रासदी की परिकल्पना का सारा विस्तार और संगठन लिए हुए है) का भी कोई अंत नहीं है—अंतिम प्रकरण के शान्ति-पाठ के बावजूद। इन कृतियों में सर्जनात्मकता के संचरण की गति एक सीधी रेखा के समान नहीं है जिसमें कि हर चरण प्रभाव को महज़ गहरा और पुष्ट करता जाता हो, वरन् चक्राकार है—उसकी छोटी-छोटी सर्किटें हैं जो टूट-टूटकर बनती हैं, बन-बनकर टूटती हैं—'इन माई बिगनिंग इज़ माई एंड', —यात्रा किसी भी सामंजस्य के धरातल पर समाप्त नहीं होती, बल्कि हमें आगे किसी अलक्ष्य अर्थ-संसार के अंधकार में छोड़ देती है।

सर्जनात्मक तनाव के इन दोनों प्रकारों को हिन्दी की कुछ विशिष्ट काव्य-कृतियों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है जो हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ अन्तर्निष्ठा और सर्जनात्मक तनाव के सम्बन्ध को कुछ और पहलुओं से भी देख लेना समीचीन होगा। यदि हम यह कहें कि जिस प्रकार की सर्जनात्मकता भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करती है उसमें भी अन्तर्निष्ठा हो सकती है, तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि रचनाकार का तनाव उसके नियंत्रण में है, उसकी भाव-संवेदनाओं को उसकी वस्तुपरक परिकल्पनाओं (जो 'मूल्य' सम्बन्धी भी हो सकती हैं और 'दृष्टि' सम्बन्धी भी) तथा रचना-विधागत संरचनात्मक अवधारणाओं का एक मूर्त। अमूर्त बाह्य ढाँचा (सुपरस्ट्रक्चर) घेरे हुए है और दोनों के बीच एक 'आकुल समानान्तरता' है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि उस सर्जनात्मक तनाव का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि भाव-संवेदनाओं और उस बाह्य ढाँचे में कोई परस्पर काट का द्वन्द्व अथवा अन्तःसंघर्ष है, बल्कि यह तनाव सिर्फ़ इसलिए है कि भाव-संवेदनाएँ उस बाह्य ढाँचे से सामंजस्य स्थापित करने को व्याकुल होती हैं—जैसे पानी अपने धरातल तक पहुँचने को व्याकुल होता है। यहाँ रचना में अन्तर्निष्ठा का मापदंड यह है कि वह व्याकुलता परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाप्त न हो, रचनाकार अपनी इस व्याकुलता से चाहे जितना 'खेले', चाहे कला-रूपों एवं शिल्प-प्रयोगों के कितने ही 'करतब' दिखाए, अंतिम प्रभाव-सृष्टि के लिए कितनी ही ऊँचाइयों और नीचाइयों में उसे पटके पर उस व्याकुलता को अपने हाथ से जाने न दे, उसकी आग में अपनी भावनाओं-कल्पनाओं की आहुति निरन्तर देता रहे, यानी उस व्याकुलता के सर्जनात्मक तनाव को हमेशा अपने वश में रखे। जहाँ ऐसा नहीं होता—जहाँ वह तनाव रचनाकार के वश में नहीं रह सकता—वहाँ सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है। इस प्रकार की सर्जनात्मकता में तनाव को वश में रख सकने में रचनाकार प्रायः अमूर्तन का सहारा लेता है—वह जीवनानुभवों को प्रत्यक्ष साक्षात्कार के स्तर पर नहीं झेलता / निबटता, बल्कि उन्हें हमेशा एक ऐसे दृष्टि-फ्रेम के भीतर से ग्रहण करता है जिसके निर्माण में कभी उसकी 'मूल्य' सम्बन्धी मूर्त / अमूर्त धारणा काम कर रही होती है तो कभी 'मानव-आदर्शवाद' का उदात्त पक्ष। इसका यह मतलब नहीं है कि 'मूल्य' और 'आदर्शवाद' को वह अपनी जीवनानुभूतियों पर आरोपित करता है, बल्कि यह कि इनके माध्यम से ही—इनकी प्रक्रिया में से गुज़रते हुए ही—वह जीवनानुभवों को ग्रहण करता है। प्रयोगवाद—नयी कविता के दौर में 'सौंदर्यात्मक दूरी' की चर्चा अक्सर बलपूर्वक की जाती थी जो प्रकारान्तर से उस तनाव को वश में रख सकने की ही बात है। जो इस तनाव को वश में रख सकता था वह समर्थ-सफल रचनाकार होता था, जो नहीं रख पाता था वह सौन्दर्यच्युत असफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमर्थ। अज्ञेय द्वारा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रतिपादित 'तथ्य' और 'सत्य' के अन्तर को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जीवन के तीखे यथार्थ-अनुभव को झेलने में भी एक निर्वैयक्तिक कलाभिरुचि का परिचय देना होता था, रूपाकार से ही काव्य की आत्मा की महत्ता आँकी जाती थी, भाषा को संस्कार की आँच में तपना होता था, विह्वलता में भी छन्द और आवेश में भी लय का होना गुण था, बिखराव की अपेक्षा कसाव और चाहे एक बार लक्ष्य साफ़ न भी हो फिर भी भाव-सत्य की सफाई पर बल देना रचनाकार की शक्ति और सामर्थ्य के परख की कसौटी थी।

तनाव को वश में रख सकने और वश में न रख सकने की स्थिति के संदर्भ में नयी कविता-काल के दो कवियों—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा—की तुलना यहाँ प्रासंगिक और रोचक सिद्ध होगी। दोनों ही निम्नमध्य-वर्ग के घर-गृहस्थी, बीवी-बच्चे, चूल्हा-चक्की और टिकुली-बेंदी वाले कवि हैं, दोनों ही अपने 'दर्द' की अभिव्यक्ति के लिए दूर की कौड़ी नहीं लाते, बल्कि मानव-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों, स्थितियों-संदर्भों को चुनते हैं, यथार्थ के प्रति दोनों ही तीव्र भावानुभूति के स्तर पर प्रतिक्रिया करते हैं, दोनों की भाषा भी जनजीवन की बोलचाल की भाषा के निकट है। पर सर्वेश्वर कगार के अन्तिम बिन्दु तक जाकर भी लौट आने की होशियारी से वाकिफ़ हैं, जबकि लक्ष्मीकान्त अक्सर बेखबरी में खाई में ही जा गिरते हैं। एक तनाव को आवश्यक 'छूट' देते हुए भी उसे वश में रख सकता है, जबकि दूसरा प्रायः उसका अन्त तक निर्वाह नहीं कर पाता—उसका तनाव या तो आवेश में बदल जाता है या फिर तनावरहित सपाटपन में। सर्वेश्वर के पास जो दृष्टि-फ्रेम है वह इतना सूक्ष्म और तरल है कि अक्सर वह दृष्टि-फ्रेम रह ही नहीं जाता (फलस्वरूप वे वहाँ-वहाँ शुद्ध भावुकता के कवि नज़र आने लगते हैं), अतः उसके प्रति निष्ठा कायम रखने के प्रश्न से वे विचलित नहीं होते; लक्ष्मीकान्त के पास जो दृष्टि-फ्रेम है वह उन्हें हमेशा ललकारता रहता है और गिरते-पड़ते भी वे उसको आँख की ओट नहीं कर पाते। सर्वेश्वर तनाव को अपने भाव-यंत्र से एक खास दूरी पर बनाये रखने में इतने माहिर हो गये हैं कि वे ऐसी सजी-सँवरी मार्मिक कविताएँ निरन्तर लिखते चले जा सकते हैं जो जोखिमपूर्ण मानव-अस्तित्व की किसी बुनियादी अराजकता को न उकेरें; जबकि लक्ष्मीकान्त की ट्रैजेडी यह है कि वे बार-बार उस बुनियादी अराजकता से टकराते हैं, पर जब उसे व्यक्त करते हैं तो 'नितान्त समसामयिक' लगने लगते हैं। तनाव को वश में रख सकने के कारण सर्वेश्वर में जो सौंदर्यात्मक रुझान लोक-संपृक्ति के अनगढ़ खुरदरे अंशों की मिलावट से शुरू में गड्ड-मड्ड था वह क्रमशः साफ़, संयत और 'तुकान्त' होता गया, जबकि तनाव को सर्वत्र काबू में न रख पाने (कभी-कभी इसकी चेष्टा-मात्र से विद्रोह कर उठने) के कारण लक्ष्मीकांत का सौंदर्यात्मक रुझान कभी भी उनकी यथार्थ-संवेदना के साथ एकाकार नहीं हो सका और हमेशा 'अतुकान्त' ही रहा। किन्तु अब सर्वेश्वर का तनाव को वश में रख सकना और लक्ष्मीकान्त का तनाव को पूरी तरह वश में न रख सकना दोनों ही एक मुद्रा बन गये हैं।

जिसे मैं दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता कहता हूँ उसमें तनाव और अन्तर्निष्ठा के रिश्ते कहीं ज्यादा खतरनाक, क्योंकि पहले प्रकार की सर्जनात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होते हैं। उसकी जटिलता का रूप कुछ इस तरह है कि तनाव की सर्जनात्मक प्रक्रिया में अपने भावयंत्र से सब-कुछ ग्रहण करते हुए मैं एक शब्द लिख दूँ और उस स्थिति का सारा दबाव झेलते हुए काफी देर बाद और कुछ न लिख-कर सिर्फ उस शब्द को काट दूँ तो लगे कि मैंने सचमुच कोई नया शब्द लिखा है। दो शब्दों के बीच वह कटा हुआ शब्द दरअसल एक 'अन्तराल' है जो रचनाकार की अन्तर्निष्ठा की कसौटी बनती है, क्योंकि वह अन्तराल न-कुछ नहीं है, न ही एक सादा फलक है जिसकी पृष्ठभूमि में कुछ विदूषक चेहरे अपनी रंगबिरंगी कलाबाजियाँ दिखा जाएँ। वह अन्तराल एक अग्रिम लम्बी छलांग के लिए ठिठकी हुई कसी हुई सर्जनात्मक मुद्रा है। इसमें रचनाकार की क्षमता उस अन्तराल की अर्थगर्भिता को पहचानने और प्रक्षेपित करने में है और उसकी अन्तर्निष्ठा उस अन्तराल को सपाट न हो जाने देने में। सर्जनात्मक तनाव के प्रवाह में इस प्रकार का प्रत्येक अन्तराल नये-नये अर्थ-विस्फोटकों के लिए अवसर प्रदान करता है। इसके साथ ही यदि उस अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य न हुई तो यह एक खतरनाक कगार भी साबित हो सकता है। काव्य-रचना का उदाहरण लें तो नया अर्थ-विस्फोट करने के अवसर का उपयोग कर पाने की सामर्थ्य न होने पर उस 'अन्तराल' में भाषा निश्चित अर्थ देने लगती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह ठोस 'स्फटिक' (क्रिस्टल) हो जाती है, उसका वह लचीलापन समाप्त हो जाता है जो उस अन्तराल के आर-पार सर्जनात्मक तनाव के एक छोर को दूसरे छोर से जोड़ता है। भाषा के संदर्भ में जिसे हम 'अभिधा' या 'सपाटपन' कहते हैं उसका यही अर्थ है। आशा है प्रस्तुत प्रसंग में अलंकरणमुक्त सपाट भाषा और भाषा के सपाटपन का जो अन्तर है वह यहाँ स्पष्ट होगा।

तनावगत अन्तराल को सपाट न होने देकर अन्तर्निष्ठा की रक्षा करने के पीछे एक और आधार है जिससे स्थिति की जटिलता पर प्रकाश पड़ता है। पहले प्रकार की सर्जनात्मकता में शब्द को अर्थ से जोड़ने की चेष्टा होती है, यह मान लिया जाता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई दीवार है जिसे विस्फोटक से उड़ा देने की जरूरत है, शब्द में नये अर्थ भरने का प्रयत्न होता है या फिर पुराने शब्दों से नये अर्थ का आविष्कार किया जाता है। एक तरह से यह भाषा के अर्थ-विस्तार की ही प्रक्रिया है। किन्तु दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता में अर्थ को शब्द से 'जोड़ा' नहीं अर्थ को शब्द से 'मुक्त' किया जाता है, क्योंकि इसमें भाषा जिह्वा पर नहीं दाँतों के बीच की जगहों से सटी हुई होती है। यह भाषा के अन्तःस्फोट की क्रिया है। शब्द से अर्थ के मुक्त होने की क्रिया में भाषा की प्रचलित दो इकाइयों के बजाय भाषा की तीन इकाइयाँ बनती हैं: शब्द और अर्थ के साथ दोनों के बीच का अन्तराल तीसरी इकाई होता है, और भाषा वस्तुतः शब्द और अर्थ के सह-सम्बन्ध से नहीं बल्कि इन तीनों के सह-सम्बन्ध से बनती है। शब्द और अर्थ की दो इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ के बीच या तो दीवार होती है जो दोनों को अलग रखती है, या फिर वह दीवार नहीं होती। रचनाकार की चेष्टा यही रहती है कि वह दीवार यदि है तो न रहे—शब्द और अर्थ जो अलग-अलग हो गये हैं वे एक हो जाएँ। यह चेष्टा उसी तरह है जिस तरह उसका यह चाहना कि उसकी भाव-संवेदना और उसको घेरे हुए मूर्त / अमूर्त बाह्य ढाँचे की अनन्त समानान्तरता सामंजस्य में परिणत हो जाएँ: दोनों एक हो जाएँ। किन्तु तीन इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ कभी भी एकाकार होकर सघन 'स्फटिक' (क्रिस्टल) नहीं बनते; दोनों के सम्बन्ध में हमेशा और अनिवार्यतः कुछ-न-कुछ 'छूट' जाता है। यही 'अन्तराल' है। यह अन्तराल आज के स्वचेतनता के युग में रचनाकार की अपने परिवेश के साथ संसक्ति (इंवाल्वमेंट) ही है जो शब्द और अर्थ को अभिन्न रूप से एक नहीं होने देता। परिवेश के प्रति सजगता और उससे संसक्ति व्यक्ति को विकेन्द्रित करता है, और जिस हद तक यह संसक्ति तीव्र होगी विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भी उसी हद तक तीव्र होगी। और चूँकि व्यक्ति परिवेश के साथ अपने सम्बन्ध को भाषा के माध्यम से ही अनुभूत करता है इसलिए उसके विकेन्द्रीकरण के साथ भाषा भी विकेन्द्रित होती जाती है। व्यक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को 'निर्वासन' (एलिएनेशन) से 'आत्मनिर्वासन' (सेल्फ़-एलिएनेशन) की ओर ले जाती है जिस पर आगे विचार किया जाएगा। यहाँ पहले भाषा के विकेन्द्रीकरण और रचनाकार की अन्तर्निष्ठा के सवाल को नज़दीक से देख लेना होगा।

भाषा के विकेन्द्रीकरण में पहली जानी-पहचानी स्थिति तो वह होती है जिसमें शब्दों का प्रचलित अर्थ नष्ट हो जाता है और उसके बजाय दूसरा अर्थ ध्वनित होने लगता है। कहा जा सकता है कि यह स्थिति भाषा के अर्थ-विस्तार और अर्थ-सम्पन्नता के लिए आवश्यक है। इसमें भाषा एक धुरी से हटने के बाद दूसरी नयी धुरी पर जा टिकती है। भाषा के विकेन्द्रीकरण का यह रूप सामान्यतः युग-बोध में प्रत्येक परिवर्तन के साथ घटित होता रहता है। लेकिन भाषा के विकेन्द्रीकरण की एक स्थिति यह भी हो सकती है जिसमें शब्द प्रति-शब्द बन जाते हैं और अर्थ प्रति-अर्थ। ऐसी भाषा में शब्द अर्थ द्वारा अपनी सत्ता को नहीं प्रकट करते—क्योंकि अर्थ वस्तुओं को ग्रहण करने की एक संघटित बोधात्मक इकाई है—, बल्कि संकेतों द्वारा प्रकट करते हैं। यह भाषा के आदिम रूप अथवा भाव-संवेदना की प्राग्-अभिव्यक्ति के अराजक रूप की ओर प्रत्यावर्तन है जिसकी ओर इस लेख के आरम्भ में इशारा किया गया था। भाषा का यह अराजक रूप यात्रा का आरम्भ भी हो सकता है और यात्रा का अन्त भी। आरम्भ की स्थिति रचनाकार की इस सामर्थ्य पर निर्भर करती है कि वह उन 'संकेतों' को इतना पारदर्शी बना दे कि उनकी अलग-अलग इकाइयाँ किसी नये सर्जनात्मक बोध के एक चित्र को पूरी करती-सी लगने लगें। और यात्रा का अन्त तनाव के अन्तिम बिन्दु के बाद पहुँचे तनावहीन ढलान पर ठहर जाने में है।

यह शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ तक जाने की स्थिति कुल मिलाकर एक दुविधापूर्ण संभावना की स्थिति है, जिसका सैमुअल बेकेट के उपन्यास अच्छा उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्रायः इस संभावना के अन्वेषण की चेष्टा पर भाषा के विकेन्द्रीकरण से स्वतः चल पड़ी विघटन-प्रक्रिया का दबाव हावी हो जाता है, और फलस्वरूप रचना में शब्द प्रति-शब्द और अर्थ प्रति-अर्थ बनने की स्थिति का अतिक्रमण कर 'शब्दहीन' और 'अर्थहीन' बन जाते हैं। ऐसे में रचना की बुनियादी सर्जनात्मकता ही संदिग्ध लगने लगती है। इस प्रकार के रोचक उदाहरण देखने-सुनने में आये हैं जब पाठक को 'रचना' के नाम पर कोरे अनछपे पृष्ठ ही मिले हैं। अभी कुछ साल पहले साहित्य अकादमी लिटरेरी फ़ोरम नयी दिल्ली की एक गोष्ठी में स्वीडिश कवि गुन्नार रिद्स्ट्रोम ने एक कविता 'पढ़ी' थी जिसमें अर्धविरामों, पूर्ण विरामों, डैश, कोलन, प्रश्नवाचक-विस्मयबोधक चिन्हों और कोष्ठकों के अलावा कुछ न था। चित्रकला में यदि रंग माध्यम को 'भाषा' का पर्याय मानें तो रंग के साथ-साथ रेत, लकड़ी, बुरादा, कील-काँटे, चमड़ा, टिन, चिथड़े आदि चीज़ों के प्रयोग की प्रवृत्ति को शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ की ओर जाने की रचनात्मक स्थिति का ही चिह्न मानना होगा। क ख ग-६ (जुलाई, १९६५) में प्रकाशित मुद्राराक्षस की 'एब्सर्ड' कविताएँ भी भाषा के इसी विकेन्द्रीकरण का नमूना हैं जिसमें शब्दों से बनने वाली अर्थ की संघटित बोधात्मक इकाई को अपर्याप्त या व्यर्थ मान लिया गया है। यह कुछ अजीब लग सकता है कि भाषा का पूर्ण विकेन्द्रीकरण जहाँ रचनाकार के अपने परिवेश के साथ संपूर्ण संसक्ति की उपज होता है वहीं वह इस बात का भी द्योतक होता है कि रचनाकार सर्जनात्मक तनाव से दूर से दूरतर जाना चाहता है। अतः विकेन्द्रित भाषा में रचना तनाव में नहीं, तनाव से मुक्त होने में होती है, और पूर्ण रूप से विकेन्द्रित भाषा तनावरहित भाषा होती है। परिवेश के प्रति संसक्ति, सर्जनात्मक तनाव और भाषा के विकेन्द्रीकरण के परस्पर सम्बन्ध को एक दिलचस्प वैज्ञानिक क्रिया द्वारा समझा जा सकता है। एक निश्चित एवं स्थिर तापमान पर जब पानी निरन्तर ठंडा होता चला जाता है तब एक बिन्दु ऐसा आता है जब वह बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ बनने के बिन्दु के पहले तक पानी 'सिकुड़ता' है, पर उस बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद एकदम से ठोस होकर 'फैल' जाता है। बर्फ़ बन जाने पर पानी का घनत्व कम और आयतन बढ़ा हुआ होता है, और हालाँकि उस अंतिम बिन्दु तक ठंडे हुए पानी का तापमान बाद में बन गये, बर्फ़ के तापमान के समान ही होता है, एक चीज़ और घटित होती है : बर्फ़ में परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया में पानी से उसमें निहित ऊष्मा, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में 'लेटेन्ट हीट' कहते हैं, बाहर निकल जाती है। इस उदाहरण को एक रूपक की शक्ल देते हुए सर्जनात्मक तनाव को तापमानक-तत्त्व मान लें और परिवेश के प्रति संसक्ति की स्थिति को तापमान-प्रभावित पानी, तो भाषा (अथवा रचनाकार-व्यक्तित्व) के विकेन्द्रीकरण को उस खतरनाक बिन्दु' के इधर-उधर 'सिकुड़ने' और 'फैलने' की दो वैकल्पिक स्थितियों के अन्तर्गत रखकर सहज ही देखा जा सकता है। जाहिर है कि रचना के भीतर, चाहे भाव-विचार-संवेदन के स्तर पर या भाषा-संरचना के स्तर पर, सर्जनात्मक तत्त्वों का कोई भी नया सार्थक संघटन उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक ही, जबकि सर्जनात्मक तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति का क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' सर्वाधिक होता है, संभव हो सकता है। उस 'खतरनाक बिन्दु' को पार कर जाने पर सर्जनात्मक तत्त्वों का संघटन बिखर जाता है और पानी के 'लेटेन्ट हीट' की तरह रचना से 'तनाव' निकल जाता है और भाषा (तथा रचना भी) तनावरहित और सपाट हो जाती है। रचनाकार की अन्तर्निष्ठा यहाँ इस बात में है कि वह सर्जनात्मक तनाव तथा परिवेश के प्रति अपनी संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' को उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक शिद्दत से अपनी रचना के लिए महसूस करे। जिस प्रकार की सर्जनात्मकता में प्रेरणा का स्रोत रचनाकार के व्यक्तित्व में ही निहित हो—जहाँ उसे किसी बाह्य मूर्त। अमूर्त ढाँचे का सहारा भी न हों—वहाँ इस अन्तर्निष्ठा का निर्वाह रचनाकार के लिए एक अपरिहार्य **सर्जनात्मक मूल्य** का रूप धारण कर लेता है।

ऊपर के विवेचन में तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' का पहलू थोड़े स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। परिवेश के प्रति संसक्ति का क्या अर्थ है और यह किस तरह रचनाकार-व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करता है? परिवेश की चेतना व्यक्ति को उसमें अपनी स्थिति के प्रति भी चेतन बनाती है। इस स्वचेतना के साथ उसके सामने जटिल एवं गहन अनुभवों का एक नया संसार ही खुलने लगता है। यह संसार आवश्यकतया व्यक्तिगत अनुभवों का संसार नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आध्यात्मिक' अनुभवों का एक संश्लिष्ट संसार होता है। व्यक्ति जितना परिवेश के प्रति संसक्त होता जाता है उतना ही इस जटिल संश्लिष्ट अनुभवों के संसार के प्रति भी होता जाता है। रचनाकार के लिए यह स्थिति ही तनाव का उत्स बनती है, और परिवेश के प्रति संसवित के साथ—और चेतना पर उस संसवित के कारण स्पष्ट से स्पष्टतर अंकित होते जाने वाले जटिल अनुभव-संसार के साथ—यह तनाव भी बढ़ता जाता है। व्यक्ति और परिवेश के इस दुहरे सम्बन्ध-बोध वाली सर्जनात्मकता की परिणति अनुभूति-सम्पन्नता या अनुभूति-समग्रता में नहीं होती (जोकि एक सामंजस्य पा लेने की स्थिति है), बल्कि उसकी परिणति उस दुहरे सम्बन्ध-बोध से उपजने वाले तनाव को बरकरार रखने में होती है। इस सर्जनात्मक तनाव के निरन्तर 'दबाव' में नये-नये अर्थों का अन्तःस्फोट ही वस्तुतः रचनाकार व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण है जिसमें प्रत्येक अन्तःस्फोट नये तनाव की ऊर्जा की सृष्टि करता है, और तनाव की यह ऊर्जा व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध को एक स्थिर सामंजस्यपूर्ण अर्थ-गरिमा की निष्पत्ति के केन्द्र से हटाकर एक सतत विकसनशील सम्बन्ध-बोध की संभावनापूर्ण जटिलता में डालती रहती है। यहाँ 'जटिलता' एक अर्थपूर्ण स्थिति का संकेत करता है—'जटिलता' एक ऐसा बैरोमीटर है जो एक ओर तो सर्जनात्मक तनाव के दबाव को अंकित करता रहता है और दूसरी ओर उस अन्तर्निष्ठा की ओर भी संकेत करता है जो उस दबाव को 'खतरनाक बिन्दु' से आगे न गुज़र जाने देने की सामर्थ्य का प्रतीक है। इस स्तर पर 'जटिलता' और 'अन्तर्निष्ठा' एक ही सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं। सर्जनात्मक तनाव और उसके जटिल प्रारूपों की परस्पर कशमकश में दर्द के हद से गुज़रकर दवा हो जाने की स्थिति भी आ सकती है, लेकिन तब वह ऐसी दवा होगी, जिसे किसी भी परचून की दुकान से खरीदा जा सके, उसके लिए दर्द का सर्जनात्मक संदर्भ और अन्तर्निष्ठा का प्रश्न समाप्तप्राय होता है—तनावरहित सपाट रचना के बारे में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न बेमानी होता है। तनावहीनता की स्थिति अ-जटिलता की भी स्थिति है, जिसमें रचना का नियमन या तो शुद्ध संवेग करने लगते हैं या फिर अ-संश्लिष्ट भाव अथवा विचार वृत्तियाँ। हिन्दी के सार्थक युवालेखन के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि उसका अधिकांश अब भी रचनाकार-व्यक्तित्व के विकेन्द्रीकरण की अनिश्चयपूर्ण सर्जनात्मक संभावनायुत क्षेत्र-परिधि से गुज़र रहा है। अपने परिवेश के प्रति अधिकाधिक संसवित आज के युवा लेखक की नियति है, पर तनावहीनता के खतरे भी पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक बढ़ गये हैं।

(अगले अंक में समाप्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की भाषा

परमानन्द श्रीवास्तव

देखते-ही-देखते कविता की भाषा में ऐसे सरलीकरण की प्रवृत्ति पैदा हुई है, जिसके मूल में एक प्रकार का अतिशय निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण है—जो वस्तु के प्रति शायद गुण हो सकता है, पर भाषा के प्रति जरूर ही अपराध से कम नहीं है। और इसमें सन्देह नहीं कि इस सरलीकरण के खतरों का निराकरण कहाँ तक आज विकसित होती हुई कविता की भाषा कर पाती है इस पर ही अगली कविता की सफलता निर्भर करेगी। पिछले कुछ बरसों में यह बात उभरकर सामने आई है कि नया कवि भाषा का 'निर्माण' नहीं करता, इस्तेमाल करता है ("ठीक उसी तरह जैसे वह अपने मोजे या तौलिये का इस्तेमाल करता है"—केदारनाथ सिंह : युवा लेखन : प्रतिपक्ष का साहित्य—आलोचना, जनवरी-मार्च, ६८)—यानी उससे सिर्फ काम चलाता है। और यह भी कुछ प्रतिभा की कमी के कारण या परिश्रम से बचने के लिए नहीं बल्कि पूरे जीवन के प्रति एक खास व्यवहारवादी दृष्टिकोण विकसित होने के कारण—जिसके मूल में एक ओर यदि आदर्शवादी रुझान का अन्त है तो दूसरी ओर एक खास तरह का व्यर्थता-बोध भी है जो विचारों के स्तर पर भी उतना ही स्पष्ट है जितना भाषा के स्तर पर। 'भाषा का संस्कार' आज के कवि के लिए इसका कोई अर्थ नहीं है—वह तो भाषा के 'ध्वंस' के ही पक्ष में है—(उसके लिए कविता भी "केवल रचना नहीं, बल्कि ध्वंस भी है"—श्रीकान्त वर्मा)। उसे पता है कि—

"भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी"

और इसीलिए वह कविता से ही कविता का काम लेना नहीं चाहता—

"न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही"

(रघुवीर सहाय : **आत्महत्या के विरुद्ध**)

इसी तर्क से भाषा के संसार में भी उसने "एकमात्र उपयुक्त शब्द" से काम लेना बन्द कर दिया है और "शब्द की अद्वितीयता" की धारणा को—जिस पर अज्ञेय जैसे कवि शुरू से इतना अधिक बल देते आए हैं, हमेशा के लिए खत्म कर दिया है।

....

जीवन मैं तोड़ रहा हूँ

....

शब्द और शिल्प और भाषा और छन्द
सारे के सारे ये पिछले सम्बन्ध
मैं तोड़ रहा हूँ।

(दूधनाथ सिंह : **सुरंग से लौटते हुए**)

आज का कवि यह मानकर चलता है कि शब्द होता है, एकमात्र शब्द नहीं होता और 'शब्दशोधन' की बात ही उसे इस तर्क से बेमानी लगने लगती है—शुद्ध कला-दर्शन की चरम परिणति मात्र। जीवन के प्रति, और दूसरे स्तर पर भाषा के प्रति इसी व्यवहारवादी रुझान के कारण कविता के संसार में, कहा जा सकता है कि शब्दों का एक खास तरह का समाजवाद या यथार्थवाद पैदा हुआ है। और जैसा भाषा के क्षेत्र में या कविता के क्षेत्र में "शरारतपूर्ण सहसंयोजन" के पक्षधर कवि लक्ष्मीकान्त वर्मा ने संकेत किया है—शब्दों के प्रति 'पूजा का भाव' समाप्त हो गया है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के वक्तव्य में यह धारणा व्यक्त की थी कि कवि 'शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ' भाषा या कविता में भरना चाहता है—और क्योंकि उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं, इसीलिए वह प्रयोग की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनौती स्वीकार करता है। अज्ञेय की दृष्टि में कवि के सामने यह सबसे बड़ी समस्या थी कि 'भाषा का पुराना व्यापकत्व' उसमें नहीं है। यह बड़ा अर्थ देने के लिए भाषा का इतना सांस्कृतिक परिष्कार किया जाने लगा कि उसकी तात्कालिकता लगातार क्षीण होती चली गई और आगे वह समय भी आया जब तात्कालिकता ही भाषा का अपरिहार्य और उपयोगी मूल्य जान पड़ने लगी।

जिस व्यर्थता-बोध की चर्चा ऊपर की गई है उसी के समानान्तर एक प्रकार के नगण्यता बोध का प्रभाव भी इधर के युवा लेखन की भाषा पर दिखाई देने लगा है जिसे नामवर सिंह के अनुसार कभी-कभी 'कृत्रिमता' की हद तक भी पहुँचा दिया गया है (आलोचना : जनवरी-मार्च, ६८)। यों जिस व्यवहारवादी रुझान की चर्चा शुरू में की गई है, उसने भी एक प्रकार की कृत्रिमता को प्रोत्साहित किया है। एकदम नया-नया कवि भी आज जिस भाषा से शुरू करता है वह इसी व्यवहारवादी दृष्टिकोण के कारण ज़िन्दगी की सही और सच्ची पकड़ यानी अनुभव का आभास देती है—हालांकि वहाँ सच्ची पकड़ नहीं होती बल्कि उसका धोखा खड़ा करने वाले क्लिशेज़ होते हैं, मुहावरे होते हैं—नितान्त चालू मुहावरे—जो कविता को कहीं-से-कहीं ले जा सकते हैं। यह सिर्फ़ भ्रम है कि युवा कवियों की अक्सर ही प्रकाशित होने वाली लम्बी कविताएँ अनुभवों की सच्चाई या अनुभवों के जटिल विस्तार के कारण रूप या आकार में लम्बी हैं—वस्तुतः वे उसी 'कृत्रिमता' का विस्तार हैं जो दूसरे शब्दों में अनुभव या भाषा के अभिन्न अनुशासन से एक प्रकार की मुक्ति या छूट देती है। श्रीकान्त के इस कथन में सचाई है कि "भाषा के ज़रिए केवल संसार की परिभाषा ही नहीं की जाती, छला भी जा सकता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि तात्कालिकता या तात्कालिक सार्थकता का आज की भाषा और कविता के संसार में अपना खास मूल्य है। कहा जा सकता है कि इसी एक गुण के कारण भाषा कभी भी शायद अपने समय की खुरदरी सचाई से इतनी अभिन्न नहीं थी। पर इसी के साथ यह खतरा भी है कि शब्द की अद्वितीयता समाप्त होने के साथ-ही-साथ भाषा प्रयोग के क्षेत्र में एक ऐसा सामूहिकतावादी दृष्टिकोण न बन जाय—जो भाषा और कविता को उसी प्रकार अमूर्त्त बनाने लगे जिस प्रकार अतिशय कलात्मकता भाषा और कविता को अमूर्त्त बनाती है। इसके खतरे एकाध अपवादों को छोड़कर करीब-करीब सभी युवा कवियों की भाषा में दिखाई देते हैं—उनमें दुर्लभ है वह 'शब्दाभिव्यक्ति' जिस पर मुक्तिबोध भी बल देते आए हैं—"जिसके समय लेखक धारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है।" मुक्तिबोध के ही शब्दों में जो कवि या लेखक के आत्मसाक्षात्कार या आत्मनिर्माण का भी समय होता है।

भाषा का सरलीकरण भाषा के क्षेत्र में इसी सामूहिकतावादी दृष्टिकोण का एक पहलू है—जो आज की कविता के सामने सबसे बड़ा संकट है। यह नहीं कि युवा कवि इस संकट से परिचित नहीं हैं—

और अब ज़ुबान पर भी कहाँ है।
अँधेरे में दूर तक झिलमिलाती है एक रोशनी
जो रोशनी से भी अधिक राहज़नी है
झूठे से भी निकम्मे इस कमज़ोर सच से
मुझे सख्त नफ़रत है
बावजूद इसके अँधेरे में चीज़ों को मैंने
एक नए सिरे से टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित शब्द भंडार नहीं
खोला है।

(देवेन्द्र कुमार : एक युवा-कवि की आत्म-स्वीकृति)

यहीं भाषा की 'सरलता' और 'सरलता' में फ़र्क करना पड़ेगा। क्या यह अकारण ही है कि एक ओर कृत्रिमता की हद तक कठिन भाषा समझ में आती है—सामान्य पाठकों को भी बोधगम्य जान पड़ती है, दूसरी ओर बेहद सीधी भाषा संस्कारशील पाठकों को भी कभी-कभी चुनौती जैसी जान पड़ती है—कभी उस विडम्बनापूर्ण संकेत के कारण जो इस प्रकार की भाषा देना चाहती है और कभी-कभी सरल जान पड़ने वाले शब्द या मुहावरे के अपरिचित इस्तेमाल के कारण। जहाँ अधिक सीधी भाषा में व्यक्त काव्यात्मक सचाई सचाई को अधिक तीखी और सार्थक ज़मीन दे पाती है वहीं भाषा के क्षेत्र में सामूहिकतावादी रुझान व्यक्त करने वाले चालू मुहावरों में "वास्तविकता के खो जाने का खतरा-सा बना रहता है"। सरलीकरण की प्रवृत्ति निश्चित रूप से इस सामूहिकतावादी रुझान से जुड़ी हुई है—खतरा कहीं है तो यहीं है—भाषा की सार्थकता को बनाये रखना है तो पहले उसे इस अति-सरली-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करण से बचाना होगा—हालाँकि यह भी सही है कि उससे भाषा बचेगी नहीं—भाषा की व्यर्थता के निरन्तर बोध के कारण जो अनुत्तरदायित्वपूर्ण रवैया विकसित हो रहा है उसके चलते भाषा का अधिक-से-अधिक अर्थहीन होते जाना स्वाभाविक ही है। आज के पाठक को इस अर्थहीनता में कभी-कभी कुछ अच्छा भी लगता है—कभी नाटकीय विडम्बना, कभी सौन्दर्य-विरोधी या कला-विरोधी रुझान—पर कहीं-न-कहीं इसकी सीमा निश्चित होनी ही चाहिए। क्या युवा कवियों को यह बात अलग से बतानी होगी कि भाषा से खेलने की छूट हमें या आपको हो सकती है पर सिर्फ एक हद तक (—जहाँ तक भाषा हमारी या आपकी अपनी है—वह बस एक हद तक ही हमारी अपनी हो सकती है) उसके बाद खेल बन्द होना चाहिए। इसीलिए कहने की आवश्यकता होने लगी है कि आत्मविडम्बना—और ऐसे ही दूसरे कई सूत्र—जो पहली बार सरलता का सिर्फ़ धोखा खड़ा करते हैं—अपने-आपमें 'आलंकारिक नुस्खा' न होकर जीवन के प्रति गहरे दृष्टिकोण के परिचायक होते हैं। इस विडम्बना की पहचान के अभाव में—

बहस किस बात पर हो रही है
यह जानना व्यर्थ है

(केदारनाथ सिंह)

जैसी सीधी पंक्तियाँ कुछ-का-कुछ अर्थ दे सकती हैं। विजयदेव नारायण साही और रघुवीर सहाय की कविताओं की भाषा में या कमलेश और श्रीकान्त वर्मा की कविताओं की भाषा में काव्यात्मक और काव्य-बाह्य शब्दों के प्रयोग का अन्तर हो सकता है—पर दूसरे स्तर पर इनमें अधिक गहरी समानता दिखाई देगी, जैसे कि आज की नई वास्तविकता के अधिक गहरे और सही बोध आदि के स्तर पर। जरूर ही इन कवियों में भाषा के कर्तव्य की वह खास पहचान भी है—जिसे छायावाद के बाद की काव्य भाषा में एक बार महत्त्वपूर्ण समझा गया था। पर इसी के साथ उसे समकालीन प्रासंगिकता से सम्पन्न बनाते जाने की विकलता भी है।

जिस प्रकार भाषा और कविता के संसार में 'सरलता' और 'सरलता' में फ़र्क करना ज़रूरी है उसी तरह 'गम्भीरता' और 'गम्भीरता' में भी। इधर के काव्य-समीक्षकों का ध्यान इस ओर जाने लगा है कि 'रोमांटिक गम्भीरता' को सच्ची गम्भीरता से—चाहे वह नितान्त अगम्भीर शब्द कौतुक से ही व्यक्त होती हो—अलग किया जाए। 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर सिंह ने विसंगति और विडम्बना—भाषा और कविता के इन पहलुओं पर विचार करते हुए सविस्तार दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार आज के कवि का 'शाब्दिक खिलवाड़' कविता के अन्त में 'अर्थ की गम्भीरता में परिणत होता है और कविता की उपलब्धि बन जाता है। अकारण नहीं है कि क्रीड़ा कौतुक जान पड़ने वाली कविताएँ ही अपनी समूची प्रक्रिया में सच्ची गम्भीरता या सार्थक नाटकीयता का आदर्श प्रस्तुत करती हैं। रघुवीर सहाय की कविता 'शराब के बाद का सवेरा' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

और अन्त में, कविता की भाषा पर विचार करते हुए यह भी देखने की जरूरत है कि सर्जनात्मक भाषा के विकास की प्रक्रिया में यदि कहीं रुकावट है तो क्यों—कहीं भाषा की गम्भीरता या उपयोगिता के बारे में बने हुए खास तरह के पूर्वग्रहों के कारण ही तो नहीं! और दूसरी ओर यदि एक ही तरह की नाटकीय व्यवस्थाहीन 'सपाटबयानी' का विस्तार है तो उसी जीवन के व्यर्थता-बोध या भाषा के व्यर्थता-बोध और उससे उत्पन्न व्यवहारवादी रुझान के कारण ही—या किन्हीं दूसरे कारणों से। कविता की भीतरी ज़रूरतों को नकारने वाले युवा कवियों को इन सवालों पर सबसे अधिक सोचने की ज़रूरत है और उन कवियों को भी—जो अपने काव्य-संसार को समग्र समकालीन वास्तविकता से जोड़ना चाहते हैं और उसे अधिक अर्थपूर्ण बनाना चाहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

समझदारी का व्यंग्यपूर्ण एहसास और विडम्बना की नाटकीयता

विजय मोहन सिंह

इधर जबकि कई साठोत्तरी कहानीकारों के संग्रह आ गए हैं, उन्हें जोड़कर या अलग करके देखने में सुविधा हो गई है। अब यह देखना ज्यादा आसान हो गया है कि पूर्ववर्ती संवेदना के विकास में साठोत्तरी कहानीकारों की उपलब्धियाँ क्या हैं या जिस 'एकरसता' और 'चरित्रहीनता' का आरोप उन पर लगाया जाता रहा है वह कहाँ तक ठीक है? ज्ञानरंजन[1] और काशीनाथ सिंह[2] के कहानी-संग्रहों की समीक्षा इसी संदर्भ में की जा सकती है।

ज्ञानरंजन ने अपनी पीढ़ी के अन्य चर्चित कहानीकारों की तुलना में अपेक्षाकृत कम कहानियाँ लिखी हैं और लगभग वे सभी कहानियाँ इस संग्रह में आ गई हैं। दूधनाथ की तरह संग्रह का 'स्तर' और 'व्यक्तित्व' बनाने की अपेक्षा वे कहानीकार के विकासक्रम को ज्यादा व्यक्त करती हैं। संग्रह की प्रारम्भिक चार कहानियों में (दिवास्वप्नी, कलह, खलनायिका और बारूद के फूल, आत्महत्या) बदलती हुई संवेदना का व्यंग्य परम्परागत कहानियों का रूप लेकर ही व्यक्त हुआ है—ज्ञान की 'दृष्टि' को ध्यान में न रखा जाए तो आसानी से ये चारों कहानियाँ प्रचलित कहानियों की कोटि में रखी जा सकती हैं, यहाँ तक कि भाषा में जो अनगढ़ता और अप्रचलन है वह या तो अरचनात्मक है या जैनेन्द्र की सीमाओं को छूनेवाली सतर्क अनगढ़ता लिये हुए है: दोनों के एक-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे:

'काश, मैं अपने प्रेमल व्यवहारों की अन्तर्मुखी उत्कण्ठा को संकोच के चक्रव्यूह से बचा पाती।' (कलह) 'लेकिन परिवार वैसा ही यथावत् बीत रहा है।' स्थितियों के व्यंग्य की पहचान ज्ञानरंजन में शुरू से रही है लेकिन इन चार कहानियों में 'कमज़ोर लड़के-लड़कियों' पर जो व्यंग्य किया गया है वह ज्ञान की अपनी सहजता से जुड़ा होने पर भी प्रचलित सपाटता के साथ ही व्यक्त हुआ है।

वस्तुतः ज्ञानरंजन की कहानियों को जिस रूप में पहचाना जाता है, उसकी शुरुआत संग्रह में 'सीमाएँ' कहानी से ही होती है। शायद रचनाकार के लिए 'व्यंग्य' अथवा 'विडम्बना' की पहचान ही काफी नहीं होती है बल्कि उसके साथ उसकी आंतरिक जटिलता की पहचान और अभिव्यक्ति भी जुड़ी होती है। पहचान की इस जटिलता की शुरुआत 'सीमाएँ' कहानी में ही दिखलाई पड़ती है। मसलन भाषा के स्तर पर ऊपर के उदाहरणों की तुलना में 'सीमाएँ' का यह उदाहरण ही इस संदर्भ में देख लेना पर्याप्त होगा "…आज उनके सम्बन्ध में मुझे कोई अनुभव नहीं है। एक लोभ है। उनके व्यक्तित्व में एक सुप्त क्षमता है जो बहुत धीमे शायद गतिहीन जाग रही है। वे जो साफ बोलती हैं और 'फ्री' रहती हैं, उनकी सुन्दरता है। **यह भी सम्भव है, सविताजी ऐसी न हों और मैंने मन में उन्हें इस रूप में पैदा कर लिया है।"**

वर्णन की यह जटिल 'एक्युरेसी' ज्ञानरंजन में इस कहानी के साथ ही पैदा होती है। यह अनुभवों पर शब्दों की चिप्पी लगाने वाली भाषा नहीं है––अपने 'दुहरेपन' में एक स्थिति को रचनात्मक पूर्णता देने की कोशिश है। भाषा और संवेदना की यह एकरूपता जो अनुभव के 'दोनों ओर' की स्थितियों को देखने में समर्थ है—साठोत्तरी कहानियों की निजी विशेषता है।

१. फेंस के इधर और उधर: ज्ञानरंजन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली। मू० रु० ४.००
२. लोग बिस्तरों पर: काशीनाथ सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद। मू० रु० ४.५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानरंजन सही माने में और पूरी तरह 'सम्बन्धों' के कहानीकार हैं—अपनी पीढ़ी के किसी भी कहानीकार से अधिक। 'सम्बन्धों' को समझने की इस बेचैनी को 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक एक ख़ास क्रम में देखा जा सकता है। 'शेष होते हुए' में एक भोला दर्द है—मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों के अभिशाप का दर्द 'पिता से टीनू तक एक अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।' लेकिन टूटते-घिसटते सम्बन्धों के लिए यह किशोर विह्वलता 'सम्बन्ध' में ख़त्म हो जाती है—एक अनिवार्य तथा प्रौढ़ तटस्थता उसकी जगह ले लेती है, यह तटस्थता जो प्रौढ़ समझ के बाद आती है—केवल भागने या छुटकारा पाने के लिए नहीं होती 'इन आत्महत्याओं के परिणाम में महज़ चुटकी भर एक फुसफुसाया दुःख भर होता है—उतना दु ख जितना एक समाचारपत्र दे सकता है। फिर आप जानते हैं कि दुःख कितनी लचर चीज होती है।' (सम्बन्ध)।

दुःख को लचर मानने में यहाँ कोई क्रूरता नहीं प्रदर्शित होती—केवल उसमें एक जानकारी शामिल है। कहानी के अन्त में—जिस भाई की आत्महत्या की आशंका की जाती है, वह लौट आता है—और दुःख को लचर समझने वाला व्यंग्य साफ़ हो जाता है। अतः ज्ञानरंजन की कहानियों में ऐसी पंक्तियाँ महज़ 'स्टेटमेंट' नहीं होती हैं—वे कहानीकार की 'प्राप्ति' होती हैं। लेकिन वही जो पूरी आन्तरिकता के साथ 'खोज' में है और संलग्न है, वही यहाँ पहुँचकर 'तटस्थ' भी हो सकता है—इसी रूप में यह उसकी 'प्राप्ति' है 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक के इस विकास को मैं साठोत्तरी पीढ़ी की संवेदना के विकास रूप में रेखांकित करना चाहूँगा।

इसके अलावा ज्ञानरंजन उन कहानीकारों में भी नहीं शामिल किए जा सकते जिनकी संवेदना एक साथ दो-तीन स्तरों पर झूलती चलती है। इसीलिए ज्ञान की कहानियों में 'संवेदना की दरारें' नहीं मिलतीं और इसी कारण उनकी भाषा एक बार भी यह शंका नहीं होने देती कि कहानी कहीं भी अपने साथ 'झूठ' हो रही है या कहानीकार केवल कोई 'मुद्रा' ओढ़ रहा है। यहाँ तक कि कुछ अतिशयता-द्योतक सूत्रों में भी वह सच्चाई पकड़कर ही पहुँचा हुआ लगता है: 'मैं सोच रहा हूँ कि कितनी गम्भीरता से पूरी रात छाई रही—कितनी हँसी की ये बात है—जितना मज़ाक मैं कर सका वह भी कितनी आसानी से उलट गया—कितनी दया मैं अपने ऊपर करूँ? जीवन…जीवन…जीवन, कोई कविता इस समय नहीं याद आ रही है, जो इस शब्द से शुरू हो और जिसे गाऊँ।' ('सम्बन्ध' कहानी का अंत)

यदि कहानी संग्रहों में विविधता की माँग भी कोई मानी रखती हो या उसकी समीक्षा में कोई प्रासंगिकता होती हो तो ज्ञानरंजन की कहानियों में यह विविधता कम है—वैसे ही जैसे प्रयाग शुक्ल में कम रही है : एक ही 'व्यक्ति' वहाँ अपनी पूरी आंतरिक ईमानदारी के साथ हर जगह है—बेहद स्वचेतन। यह स्वचेतनता (सेल्फ कांससनेस) ज्ञान की कहानियों का ख़ास चरित्र-लक्षण है। यह उनकी कहानी को बहुत बारीक बनाती है—चीज़ों, सम्बन्धों और स्थितियों को परखने का बेहद ख़ुर्दबीनी तर्ज़ है उनका और इसी वजह से वे भाषा में भी बारीक काट-छाँट करते चलते हैं। लेकिन ज्ञान की यह एक बड़ी ख़ूबी कही जाएगी कि इतने स्वचेतन होते हुए भी वे कहानी को हमेशा एक ख़तरनाक सीमा से वापस ले आते हैं यानी वहाँ पहुँचने के बाद वे कहानी की फेंटेसी की 'क्रूड' अतिरंजनाओं में (फेंटेसी नहीं) नहीं उलझाते।

माँ, पिता, बहन, भाई से अलग होते हुए आदमी की ओर ज्ञान ने जितना ध्यान दिया है, जितना रेशा-रेशा अलग करके उन्होंने उसे समझा है उतना किसी और कहानीकार ने नहीं। यहाँ ध्यान देने योग्य खास बात यह है कि इस अलग होते हुए आदमी को ज्ञान अजूबा नहीं मानते और यह भी कि यह आदमी ही अपने बाप, माँ, भाई से अलग नहीं होता—बल्कि उसके बाप, माँ और भाई भी उससे अलग होते हैं। उनकी कहानियों में 'अलगाव' का यह क्रम भी महत्वपूर्ण है ('पिता' में विशेष रूप से)। यह उनको कई अन्य मुद्राधारी तथा अ-कहानीकारों की जमात से अलग करता है।

किसी यूरोपीय कथाकार के विषय में 'आइरोनिक सिम्पैथी' की बात लिखी गई थी। ज्ञानरंजन अपनी सभी कहानियों में अपने पात्रों के संसार के प्रति यही रुख रखते हैं। यह रुख भी 'अख़्तियार किया हुआ' नहीं, स्वतः 'पैदा हुआ' है! सारी गम्भीरता, लगाव, बेचैनी और बदहवासी की पोल अन्त में एक जानकार व्यंग्य के रूप में खुलती है: किसी भी मसले पर अनेक रातों की नींद हराम करने के बाद एक सुबह कोई न कोई 'सच्चाई' मालूम होनी ही है! यह भी ज्ञानरंजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अतिशय 'स्वचेतनता' का ही परिणाम है जो उन्हें बराबर अपनी कहानी से 'अलग' कर देती है; हर उधेड़ी गई स्थिति अलग से देखने पर अपने दुहरे चेहरे के साथ नज़र आती है और कहानीकार अपनी सहानुभूति के बावजूद व्यंग्यपूर्ण हो जाता है। इस तरह कहानी की हर स्थिति के साथ कहानीकार हर क्षण जुड़ता और अलग होता चलता है : अपना 'लगाव' उसे हर क्षण शर्मिन्दा करता हुआ मज़ाकिया बना देता है।

'क्रैफ्ट' के मामले में ज्ञानरंजन एक खास सीमा तक ही सतर्क हैं—दूधनाथ या काशीनाथ से बिलकुल अलग ! शायद वस्तु के प्रति ईमानदारी में 'फेंस के इधर और उधर' का कहानीकार 'क्रैफ्ट' को एक सीमा के बाद शामिल नहीं समझता यानी अपने को कहानी में पूरी तरह निचोड़ने के अलावा वह उसे अन्य पहलुओं से जगमगाने नहीं जाता। इसी कारण संग्रह की हर कहानी का 'पिच' हमेशा एक ही रहता है। 'कहानी' और 'वह' हमेशा एक ही कोण पर स्थित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त ज्ञानरंजन वहाँ क्यों नहीं हैं जहाँ से अपने और अपने सामने की चीज़ के अलावा बाकी दुनिया को भी देखा जा सकता है ? संग्रह की सारी कहानियों का परिवेश क्यों बिलकुल 'वही' है और वह अपनी इत्मिनानी चाल से उसके बीच होता हुआ गुजर जाता है ? काशीनाथ की तरह वह 'संकट' से लेकर 'लोग बिस्तरों पर' तक 'छलाँग' क्यों नहीं लगाता या दूधनाथ की तरह 'आइसबर्ग' से 'कोरस' तक ? ज्ञानरंजन की कहानियों में यह 'फ्लाइट' क्यों नहीं मिलती ?

एक ओर जहाँ यह कहानीकार के 'टेम्प्रामेंट' और चुनाव का प्रश्न है (और इस रूप में अप्रासंगिक) वहीं दूसरी ओर उसमें कल्पना-रुचि के अभाव का द्योतक भी हो सकता है। यदि वह कहानी को वहीं से उठाता या वहीं तक छोड़ देता है जहाँ तक देख रहा होता है तो यह इसलिए भी कि वह कहानी के उन पक्षों से, जो उसकी रचनात्मक कल्पना से जुड़े होते हैं, उतना परिचित नहीं है। इस रूप में वह रचना-प्रक्रिया के इकहरे स्तरों का ही उपयोग करता है और यही एक हद तक विविधता के अभाव और किसी आकांक्षापूर्ण छलाँग के अभाव का उत्तरदायी हो सकता है।

●

यदि ज्ञानरंजन की कहानियों का संसार समझदारी का व्यंग्य-भरा एहसास है तो काशीनाथ सिंह की कहानियों में स्थिति से पूरी तरह टकराये बिना उससे छुटकारा पाने के लिए 'नाटकीय व्यंग्य' का उपयोग किया गया है। आमतौर पर यह कहानीकार की कमजोरी नहीं मानी जानी चाहिए और कम-से-कम वहाँ तक अवश्य क्षम्य होनी चाहिए जहाँ तक वह कहानी के 'अपने सत्य' को नष्ट नहीं करता। संग्रह की 'सुख' या 'चायघर में मृत्यु' जैसी कहानियाँ इस दृष्टि से बेहद सफल कहानियाँ हैं।

हर सच्चाई की अपनी विडम्बना होती है और काशीनाथ सिंह इस 'विडम्बना' तक सीधे पहुँचते हैं, उसे 'मेलोड्रामेटिक' बनाते हुए तथा कहानी के चमत्कार में परिवर्तित करते हुए।

ज्ञानरंजन की तरह यहाँ 'आइरोनिक सिम्पैथी' नहीं, केवल 'आइरनी' है जो कभी-कभी क्रूरता की सीमा तक स्थितियों का रस लेती हुई उन्हें अतिरंजित करती जाती है। काशीनाथ सिंह का यह टेम्प्रामेंट है और जहाँ वे इससे छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं वहाँ 'अपने घर का देश' जैसी कहानियों में सपाट निहत्थे और ट्रैडीशनल हो जाते हैं। एक हद तक 'आखिरी रात' में वे 'विडम्बना' को पकड़ते हुए भी रस लेने वाली क्रूरता से बच सके हैं। लेकिन यह कहानी अन्य कारणों से प्रारम्भिक कहानियों की रूमानियत में जा फँसी है।

काशीनाथ सिंह मुख्यतः इसी विडम्बनात्मक अति-नाटकीयता (मेलोड्रामा) के कहानीकार हैं। 'संकट' कहानी में यह 'विडम्बना' बड़े स्थूल ढंग से व्यक्त की गई है और उसमें 'रेणु ब्राण्ड' चुटकुलेबाज़ी भी है। विडम्बनाओं का यह मेलोड्रामा 'अपने लोग' में सर्वाधिक सफलता से व्यक्त हुआ है। फैंटेसी की सरहद पर स्थित इस कहानी में 'विद्रोह' और 'समझौते' की विद्रूपता को बिना सपाट या स्थूल किए, बड़ी कलावन्तता के साथ व्यक्त किया गया है।

संग्रह में संवेदना के कई छोरों को छूने वाली कहानियाँ हैं जिनमें एक बात सामान्य है ('आखिरी रात' को छोड़कर) कहानी की हर स्थिति के प्रति एक प्रकार के 'खेल' या 'चुहल' का भाव। शायद यह कहानीकार की किसी भी वस्तु को गम्भीरतापूर्वक न ले पाने की मौलिक अक्षमता को भी ध्वनित करता हो, लेकिन इससे काशीनाथ सिंह की सभी कहानियों का एक अपना 'चरित्र' बन गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः 'लोग बिस्तरों पर' का कहानीकार बिना किसी स्थिति को अतिनाटकीय बनाये बिना चित्रित कर ही नहीं सकता। उसमें जब तक यह अतिनाटकीयता पूरी तरह 'फैंटेसी' नहीं बन जाती तब तक चमत्कारपूर्ण चुटकुलों तक सीमित रहती है। 'तीन काल कथा' और 'आदमी का आदमी' जैसी कहानियों के साथ यही हुआ है। दोनों कहानियाँ 'अपने समय के यथार्थ' से जुड़ने का साहसपूर्ण प्रयास हैं लेकिन कहानीकार उन्हें चमत्कारपूर्ण ढंग से नाटकीय बना पाया है :

"मर्द लड़के के गले पर हँसुआ दबाता है और गुस्से में काँखता है 'साले तुझे हलाल करके छोड़ूँगा' और अपने ओठ भींच लेता है। लड़का जो बिना चीखे-चिल्लाये-रोये उसके घुटनों के बीच दबा है, किसी तरह साँस लेता है, **ओह ऐसे नहीं, धीरे-धीरे**···"

जहाँ ऐसी पंक्तियाँ एक स्थिति की विडम्बना को सामने ले आती हैं वहीं परिणति में उस यथार्थ का सरलीकरण भी करती हैं। संग्रह की और भी कई कहानियाँ सरलीकरण की कीमत पर ही नाटकीयता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं।

लेकिन कहानीकार जिन कहानियों में सरलीकरण की इस नाटकीयता से बच सका है वहाँ विडम्बनाओं की जटिलताओं से गुज़रता हुआ उनकी 'नियति' को भी पहचान सका है जैसे 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' में साहब की तेजी से बूढ़ी होती हुई पत्नी का अन्त में यह सोचना :

'जबकि एक औरत देखने में अच्छी हो, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, बात करना जानती हो, अखबार भी पढ़ लेती हो, कोई कैसे छोड़ सकता है ? और असल बात तो यह है कि कोई छोड़ना भी क्यों चाहेगा ? लेकिन हे ईश्वर···वे माथे से पसीना पोंछने लगीं।' यह मिसेज़ गोठी की गुज़रती जवानी की हविश पर व्यंग्य ही नहीं है, बल्कि उस दूसरे पहलू को भी सामने ले आता है, एक स्वाभाविक मानव-नियति को जो एक साथ ही स्थिति को हास्यास्पद और दयनीय दोनों बना देती है।

शिल्प के मामले में काशीनाथ सिंह अत्यन्त सतर्क कहानीकार हैं : हर कहानी के आरम्भ और अन्त को काफी सँवारने और उस पर कई पहलुओं से सोचने के बाद ही रखा गया है।

संवादों में यह सतर्कता खासतौर पर देखी जा सकती है : काशी ने संवादों को लेकर कुछ विशेष प्रयोग किये हैं और उन्हें अपने सीधे अर्थों से अलग कर विरोधाभास की नाटकीयता से जोड़ा है। इस सन्दर्भ में कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

१. 'अगर ये सवारियाँ हैं तो फिर केवल आ और जा क्यों रही हैं ?' (कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी)

२. 'जी, मैं कासिम हूँ।' वह बोला 'कासिम हो या खड़े हो ?' (लोग बिस्तरों पर)

३. 'क्या तुम दफ्तर नहीं जा रहे ?' मैंने जान-बूझकर पूछा।

'तुम जानते हो कि मैं दफ्तर नहीं जा रहा।'

'कैसे नहीं जा रहे ?'

'मैं कैसे जा सकता हूँ, तुम जानते हो आज रविवार है··· ऐसे दफ्तर इधर कहाँ हैं ?'

'हाँ, मैं जानता हूँ दफ्तर इधर नहीं हैं।'

'फिर मैं दफ्तर कैसे जा सकता हूँ।'

'हाँ फिर तुम दफ्तर नहीं जा सकते।' (अपने लोग)

'ऐबसर्ड नाटकों' जैसे ये संवाद केवल एक शैली को जन्म देने के लिए नहीं हो सकते बल्कि पात्रों की जिस अस्वाभाविकता को कहानीकार अपने व्यंग्य का निशाना बनाता है, ये संवाद भी उसी अस्वाभाविकता के अंग हैं। यानी इन खास परिस्थितियों में ये संवाद कहानीकार के नहीं केवल उन पात्रों के संवाद हैं।

'लोग बिस्तरों पर' की कहानियाँ इस मामले में भी अपनी पीढ़ी की अधिकांश कहानियों से अलग हैं कि वे 'आत्मकथाएँ' कम-से-कम हैं—अर्थात् कहानीकार 'कहानी' की 'वस्तुगतता' से अधिक परिचित हैं। लेकिन यहीं आज की कहानी की एक समस्या का ज़िक्र किया जा सकता है : आज का कहानीकार कहानी कहने की 'अपनी' कला का जब तक आविष्कार नहीं कर लेता तब तक उसे अपनी पहचान' के लिए अपनी 'आंतरिकता' (सब्जेक्टिविटी) का ही पूरी तरह सहारा लेना पड़ेगा। नये कहानीकारों की 'आत्मकथात्मकता' का राज़ यही है ! क्योंकि इसके बिना जैसे ही वह कहानी 'लेखकीय दूरी' पर रखकर लिखने की कोशिश करता है—वह 'ट्रेडिशनल' होने लगती है। काशी की अधिकांश कहानियाँ इसी कारण अपनी वर्णनात्मकता में 'ट्रेडिशनल' हो गई हैं—कहानी के 'कहानीपन' का मुकम्मिल स्वाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें मिलने लगता है—जिससे अपनी रक्षा वे एक 'फ्लाइट' के साथ 'फैंटेसी' में जाकर करते हैं। 'चायघर में मृत्यु' में बाकायदे चायघर कहानी कहने वाला और बीच-बीच में चाय की चुस्कियाँ आदि उपकरण एकत्र कर कहानीकार ओ० हेनरी और मोपांसा की वर्णनात्मकता में कहानी को ले जाता है। लेकिन इसके बावजूद कहानी एक विडम्बना को धीरे-धीरे खोलती हुई उस 'सुरक्षित बिन्दु' पर पहुँचती है जहाँ कहानीकार अपने को बचा ले जाता है।

'लोग बिस्तरों पर' कहानी की कमजोरी कई महत्त्वपूर्ण साठोत्तरी कहानियों की रेखांकित कमज़ोरी है और वह है 'फैंटेसी' लिखने की असफलता ! दरअसल 'फैंटेसी' का कथानक दुहरा हो ही नहीं सकता ! यदि 'फैंटेसी' का लेखक बीच-बीच में 'फैंटेसी' से अलग होकर यह संकेत देता चले कि वह 'फैंटेसी' नहीं एक महत्त्वपूर्ण यथार्थ व्यक्त कर रहा है तो कहानी 'फैंटेसी' और 'यथार्थ' दोनों धरातलों पर मारी जाती है। 'फैंटेसी' में 'रूपक' का छल चल ही नहीं सकता ! 'फैंटेसी' के 'विजन' को इकहरे धरातल पर ही चलना होता है—तभी वह 'यथार्थ' के नये-नये कोण भी उद्घाटित करती चलती है !

साठोत्तरी कहानियों में यह 'एकतानता' पैदा न हो पाने का सबसे पहला एहसास उनकी वर्णनात्मकता से ही हो जाता है : 'लोग बिस्तरों पर' कहानी में कौंसिल साहब के पिता का सहसा बीमार होना, अखबारों में उसकी सूचना छपना और उसे लेकर कहानीकार का काफी देर तक व्यंग्यपूर्ण लहजे में उलझा रहना—यह एक सीधे यथार्थ का व्यंग्य है—हरिशंकर परसाई के तीखे रोचक निबन्धों की तरह ! दरअसल यहाँ तक कहानीकार यह निर्णय नहीं कर पाया होता है कि उसे 'फैंटेसी' रचनी है या कहानी को इसी धरातल पर चलने देना है। इसीलिए इस वातावरण को सहसा छोड़कर जब वह 'फैंटेसी' रचने लगता है तो वहाँ 'फैंटेसी' की घनीभूत एकतानता नहीं आ पाती बल्कि एक अविश्वसनीय अतिरंजना आ जाती है :

'उसने हाथ ऊपर उठाये। आदमी ने जोर लगाया और उसकी खाल ठोड़ी की हड्डी में फिर फँस गई। उसके घुटने मुड़ आये, सारी देह सिमट आई और वह हाथों में झूलता हुआ काफी ऊपर उठ गया। उसे साँस लेने में दिक्कत हुई—लेकिन दूसरे ही क्षण वह एक चक्कर लेता हुआ फर्श पर चू पड़ा—बोरे के भीतर गुँथे हुए आटे की तरह।'

'फैंटेसी' के रूप में यह कहानी की चरम स्थिति है—'व्यवस्था' में फिट करने की अमानवीय दारुण यन्त्रणा ! लेकिन कहानीकार—कहानी को प्रारम्भ से ही इस स्थिति तक नहीं ले आया है, बल्कि अनजाने ही वह शुरू से उसे भंग करता रहा है—रोचक अखबारी व्यंग्यों से। 'फैंटेसी' और 'सीधे यथार्थ' के बीच तय न कर पाने की अपनी मनःस्थिति से यदि कहानीकार उबर सका होता तो यह कहानी साठोत्तरी कहानी की उपलब्धि बन गई होती।

चीख की भाषा भी हुल्लड़ हो गई

विष्णु खरे

१९६४ में कैलाश वाजपेयी का पहला कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ था और तब से अब तक के कुछ ही वर्षों में हिन्दी कविता में एक महत्वपूर्ण बदलाव आ चुका है। इस बात पर शायद सहमति हो गई है कि जिसे नई कविता कहा जाता था उसका युग समाप्त हो चुका है किन्तु उसकी उपलब्धियों को आत्मसात् कर हिन्दी कविता की समसामयिक धारा अधिक वेगवती तथा बलिष्ठ हुई है। नई कविता में से नव्य-छायावादी तत्त्वों का लोप हो जाने से और नये कवियों द्वारा उसे एक नई प्रखरता देने से आज हिन्दी कविता का स्वर केवल सात-आठ वर्षों पहले की ही कविता से इतना पृथक् है कि केवल शुतुर्मुर्गों को छोड़कर बाकी सब पर यह स्पष्ट है। हिन्दी काव्य-मानस एक ऐसी दहलीज पर खड़ा हुआ है जहाँ से पीछे मुड़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १९६४ में कैलाश वाजपेयी हिन्दी में अपने ढंग के एकमात्र कवि थे जिनकी कविताओं को उनकी प्रवृत्ति-विशेष से पहचाना जा सकता था। इन कविताओं में आक्रोश था, नफ़रत थी और एक क्रूरता थी और यह सब चूँकि उस समय नए थे, यदि स्वागत्य नहीं थे तो कम-से-कम आकृष्ट तो करते ही थे और परिणामतः कैलाश वाजपेयी को एक ऐसा पाठक-वर्ग (और कवि-वर्ग भी) प्राप्त हुआ जिसके और उनके बीच घृणा-प्रेम सम्बन्ध था। उनकी कविताओं का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर बहुत तीखा था और स्वाद बहुत कसैला, किन्तु यह भी सही था कि कहीं जाकर उनका कवि एक गहरा सामाजिक प्राणी था। किन्तु अकवियों का झुंड उनके शब्दों के 'वॉयलेन्स' को अपनाकर उनसे भी आगे बढ़ तो गया, उनके सामाजिक संदर्भों से कट गया और फलस्वरूप हास्यास्पद अन्त को प्राप्त हुआ। कैलाश वाजपेयी शायद इससे इन्कार करें किन्तु हिन्दी में उनके बाद ऊलजलूल 'वॉयलेन्स' की जो बाढ़ आई है उसके लिए पहली जिम्मेदारी उन्हीं की है।

उनका दूसरा संग्रह[1] मूलतः पहले संग्रह से भिन्न नहीं है किन्तु यह अवश्य है कि रोष तथा असहायता का स्वर उनमें और संपृक्त तथा तीखा हो गया है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'संक्रान्त' की कविताओं से इस नए संग्रह की कविताएँ ज्यादा लम्बी हैं। पिछले पाँच वर्षों में न तो दुनिया में कुछ ऐसा हुआ है और न देश में कि उन सरीखे कवि से कुछ और की अपेक्षा की जा सके। यदि कवि समाज और विश्व से निर्लिप्त रह सके तो यह उसका सौभाग्य है क्योंकि फिर उसकी कविता से किसी तरह की माँग करना व्यर्थ होगा, किन्तु जो कवि अपने कृतित्व को अपने आसपास के विश्व के दाँव पर लगाता है वह जान-बूझकर एक जोखिम उठाता है। साहित्य समाज का दर्पण है या नहीं एक फूहड़ प्रश्न है, किन्तु यह सत्य है कि कवि न भी चाहे तो समाज में रहने तथा उससे प्रभावित होने (भले ही रिमोट-कण्ट्रोल से) के लिए अभिशप्त है और फिर इस दुबले पर दूसरा असाढ़ यह है कि वह सोचता, समझता, महसूस करता है—और लिखना भी चाहता है। 'सामाजिक' विषयों पर लिखी गई कविताओं के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें आकलन तथा टिप्पणी का दुहरा कर्तव्य निभाना पड़ता है और वह भी साहित्य के तक़ाज़ों के अन्तर्गत पत्रकारिता की सुविधाओं के बीच नहीं। सामाजिक स्थितियों पर लिखी गई कविता, यदि वह फूंक-फूंककर नहीं लिखी गई है तो तुरन्त एक ढर्रे का शिकार होती है और उसका अधिकांश हिस्सा अखबारनवीसी बनकर रह जाता है। सामाजिक कविता का 'यथार्थ' होना एक अनिवार्य शर्त है किन्तु यथार्थ को साँचा बनते देर नहीं लगती। इसमें यदि कुछ दोष कवि के एक फार्मूला के शिकार हो जाने का है तो उन स्थितियों का भी कम नहीं है जिन पर उसकी कविताएँ टिकी हुई हैं। एक तथ्य जो अक्सर भुला दिया जाता है वह यह है कि सामाजिक स्थितियाँ बहुत धीरे-धीरे तथा अधिकांशतः अदृश्यरूप में बदलती हैं—यदि अन्य बातें समान रहें तो बीसवीं सदी के इधर के दशकों में एक और पुनीत मिथक टूटा है और वह 'क्रान्ति' का है। और फिर स्थितियाँ किसी दूसरे देश में हर सप्ताह बदल जाएँ, भारत में जहाँ अभी भी जाति, धर्म, प्रांत, भाषा आदि के नाम पर क्या-कुछ नहीं हो रहा है, सामाजिक परिवर्तन की आशा एक चमत्कार की बाट जोहने के समान बचकानी है। उधर विश्व की राजनीति में भी एक गत्यवरोध आ गया है—कश्मीर, बिआफ्रा, वियतनाम, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन, रंगभेद, इज़राइल, निशस्त्रीकरण आदि शाश्वत प्रश्न बनकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी के उस कवि के लिए, जो अपने कच्चे माल के लिए सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर आश्रित है, यह अपरिवर्तनशील या अल्पपरिवर्तनशील सामग्री होती है—

१. राजनीतिक अव्यवस्था, संसद तथा विधान सभाओं की उपद्रवपूर्ण हास्यास्पदता, राजनीतिक चरित्रहीनता, सौदेबाज़ी, 'जनता' के हितों के प्रति पूर्ण उदासीनता।
२. एक भयावह अर्थव्यवस्था—ग़रीबी और अमीरी के बीच बढ़ती हुई अकल्पनीय खाई, महँगाई, बेरोज़गारी, इन्हें और त्रासद बनाती हुई बाढ़, अकाल, महामारी की दैवीय विपत्तियाँ।
३. पुलिसराज, नौकरशाही, गोलीबारी, हिन्दू-मुस्लिम दंगे, हिन्दी आन्दोलन, गौ आन्दोलन, अँग्रेज़ी आन्दोलन।
४. समाज के प्रत्येक अंग में भ्रष्टाचार, 'जनता' की अपरिमित सहन-शक्ति और बेहयाई, तमाम मूल्यों का ह्रास।
५. बुद्धिजीवियों की कुर्सीपरस्त नपुंसकता।
६. कलाओं का वाणिज्यीकरण।
७. देश से बाहर—हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन में रूसी अमानवीयता, नीग्रो तथा वियतनाम को लेकर अमरीकी बर्बरता तथा कभी भी विश्व-विनाश की सम्भावना।

यह सूची पूर्ण न मानी जाए, किन्तु मुझे विश्वास है कि

१. देहान्त से हटकर : अक्षर प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली-६, छः रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो मैं कहना चाह रहा हूँ उसे स्पष्ट करने में यह सहायक होगी। इन स्थितियों में परम्यूटेशन-कॉम्बिनेशन सम्भव है किन्तु कहीं आकर उनका भी अन्त होगा ही। प्रश्न यह है कि जब हिन्दी में तमाम ऐसे कवि, जो इन पर लगातार लिख रहे हैं, इन्हें तार-तार कर चुके होंगे और स्थितियाँ फिर भी नहीं बदलेंगी, तब क्या होगा ?

समसामयिक कविता के सामने शायद यह समस्या अभी न हो किन्तु जिस मुस्तैदी से कविताएँ लिखी जा रही हैं, कोई कारण नहीं दीखता कि बहुत शीघ्र कैलाश वाजपेयी तथा समानधर्मा कवियों के सामने वह उपस्थित न हो। आखिरकार आप कितने तरीकों से हमें यह बता सकते हैं कि संसद व्यर्थ है, भ्रष्टाचार बहुत है, पुलिस गोलियाँ चलाती है, नौजवान बेकार हैं और लोग भूखों मर रहे हैं। यह नहीं कि यह सब बताना महत्त्वपूर्ण नहीं है या यह सब असत्य है। प्रश्न यह है कि दुहराव-तिहराव-चौहराव के पश्चात् क्या हम इनकी प्रखरता और सत्य को कम तो नहीं कर रहे होंगे ? वह बात छोड़ भी दें, तो इन तमाम कवियों की इस तरह की तमाम कविताओं को पढ़ना कौन चाहेगा ? आज स्थिति कुछ ऐसी आ गई है कि कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, चन्द्रकान्त देवताले, धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी, जगदीश चतुर्वेदी की कविता में कुछ दूर जाकर फ़र्क़ करना न केवल कठिन हो गया है बल्कि अनावश्यक भी।

कैलाश वाजपेयी के दोनों संग्रहों में सवा सौ कविताएँ हैं जिनमें से शायद सौ 'एक जैसी' हैं। इसके बावजूद भी आप इन्हें पढ़ जाते हैं यह उनकी कम उपलब्धि नहीं है। कैलाश वाजपेयी अपनी बात साफ़-साफ़ कहते हैं—कई बार बहुत ज्यादा साफ़—और वह सीधी चोट भी करती है। किन्तु उनकी रचनाएँ कहीं भी राहत नहीं देतीं—एक लगातार तनाव दिमाग को जकड़े रहता है और इसीलिए कुछ देर बाद एक खीझ तथा उसके बाद एक सन्देह होने लगता है। प्रत्येक कवि का यह भरसक प्रयास रहता है कि उसकी कविताएँ एक प्रभाव छोड़ने में सफल रहें, किन्तु जब उसकी दिलचस्पी इसमें हो जाती है कि यह सिलसिला कभी टूटने ही न दिया जाए तो बात साफ़ हो जाती है कि उसके लिए प्रभाव तथा उसके उपकरण ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं, कथ्य नहीं। कैलाश वाजपेयी के पिछले संग्रह की कुछ उपमाएँ मुझे अनावश्यक रूप से श्रमसिद्ध तथा क्रूर लगी थीं—'जैसे ताज़ा कमल खौलते पानी में,' 'खौलते जल में जैसे बच्चा छूट गिरे' और इन कविताओं में भी यह आदत छूटी नहीं है—'कूद जाऊँ ताज़े चूने में' 'रात के कड़ाह में खून टपकता है'। मंच से जब धर्म-गुरु नरकों का आँखों देखा हाल सुनाते हैं तब श्रोताओं के विस्फारित नेत्रों को देखकर और भी रंगीन चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं। एक सीमा के बाद कैलाश वाजपेयी की कविताएँ भी सेडिज़्म को छूने लगती हैं और फिर कविता कविता न होकर सैल्फ़-फ़्लैगेलेशन हो जाती है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओं का एक उलझाने वाला पहलू उनमें सैन्स ऑव ह्यूमर की कमी भी है। वैसे पिछले संग्रह में—और इस संग्रह में भी—उनकी कुछ शरारती कविताएँ थीं अवश्य और उनसे हिन्दी कविता के गुरु-गम्भीर घटाटोप में कुछ आशा बँधती थी किन्तु आश्चर्य और खेद का विषय है कि अधिकांश रचनाएँ उस विनोद से अछूती हैं। कैलाश वाजपेयी की 'गम्भीर' कविताएँ बेराहत 'गम्भीर' हैं जबकि उनमें चुटकियों की अनेक सम्भावनाएँ थीं। इसलिए जब मैंने फ्लैप पर 'व्यंग्य' शब्द देखा तो मैं चौंका। अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी में दूसरों पर किया गया ही व्यंग्य माना जाता है किन्तु व्यंग्यकार यह भूल जाता है कि व्यंग्य करते समय उस पर भी कुछ छींटे पड़ते ही होंगे। जिस वेहेमेन्स तथा गांभीर्य से कैलाश वाजपेयी लिखते हैं और स्वयं पर हँस नहीं पाते वह आश्चर्यजनक है। चीख की भाषा भी यदि हुल्लड़ हो गयी है तो बहुत-कुछ दोष देर तक सिर्फ़ चीखते रहने का भी हो सकता है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओं में समसामयिक स्थितियों का सत्य असंदिग्ध है और आज के भारतीय समाज की विकृतियों की उनकी पहचान एकदम 'फर्स्ट-हैण्ड' है। प्रश्न पुराना है किन्तु अभी भी जायज़ है कि आखिर 'यथार्थ चित्रण' का किया क्या जाए ? कवि कह सकता है कि मेरा काम तो तुम्हें यह सब बतलाना ही था और मैंने वह कर दिया, अब तुम्हारी तुम जानो—कवि डॉक्टर तो है नहीं कि मर्ज़ भी बताए और इलाज भी करे। इससे आगे वह यह भी कह सकता है कि यथास्थिति का चित्रण क्या अपने-आपमें एक हथियार नहीं है ? किन्तु यथास्थिति का कहीं ज्यादा प्रामाणिक ब्यौरा तो सुबह के अखबार भी देते हैं, इसलिए क्या वे कविता से बड़े हो जाएँगे ? खबरें कविता होते-होते बन जाती हैं कि उन पर एक रचनाकार या उत्तरदायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तिष्क कलात्मक तरीके से कार्य नहीं करता। केवल सत्य सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होता, हम उसके कारणों, परिणामों तथा यदि आवश्यक हो तो, उपायों तक भी पहुँचना चाहते हैं।

यह हमें कैलाश वाजपेयी की कविता में दूसरे पहलू की ओर ले जाता है। उनके पास भय, घृणा, संत्रास, क्रोध तथा नकार के सारे शब्द मौजूद हैं किन्तु किसी तरह की आशा का कोई नामोनिशान नहीं है। स्पष्ट है कि यह रुख जान-बूझकर पोसा गया है और वे कहीं भी उम्मीद की गुंजाइश नहीं देखते। यहाँ आकर बात 'प्रतिबद्धता' तथा 'पक्षधरता' के करीब आने लगेगी, किन्तु मुझे कभी-कभी लगता है कि निराशावादी होना एक कठिन काम है। लेकिन निराशावादी होना एक और बात है और जूझने से मुँह मोड़ना दूसरी। इन कविताओं में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो कवि के संघर्षरत होने अथवा उसी ओर मुड़ने की इच्छा को प्रमाणित कर सके। 'एक भला आदमी कहलाने की धुन में/पीछे एक चीज़ हिलने वाली/लगा ली है', सरीखी पंक्ति मुक्तिबोध में ढूंढ़े नहीं मिलेगी। कैलाश वाजपेयी की प्रत्येक कविता के अन्त में जैसे अदृश्य अक्षरों में 'इसलिए पराजय ही स्वीकार है' ही लिखा हुआ है। चूंकि उनका विश्वास है कि 'विद्रोह/एक ऐसा हथियार है/ठीक रहे वार/बेमानी हो जाता है/न रहे,/खा जाता है जनक को', वह उनकी कविता से निष्कासित है। वे कहते हैं 'अब सब अति प्रश्नों से दूर चला आया हूँ' और मानते हैं कि 'रचना के अतिरिक्त मलत्याग से/कहीं अच्छी है/कठ जड़ता/मूर्ख सिद्धि/खालिस अकर्म!' स्पष्ट है कि 'स्टेटस को' रहे या उससे भी बदतर हालात हो जाएँ, उनका कवि निर्वाण की स्थिति में पहुँच चुका है। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि यह सारा शोर किसलिए? यहाँ पहुँचकर यह भयावह सम्भावना बनती है कि कहीं कैलाश वाजपेयी को यह नरक अभिव्यक्ति की एक सुविधा तो नहीं दे रहा है और इसीलिए वे उससे न छुटकारा पाना चाहते हैं और न देना। आज की भयावहता का सामना करने के दो तरीके हो सकते हैं—उसे पहचाना जाए और उससे जूझा जाए, या उसे पहचाना जाए और उससे जूझने के कार्य को व्यर्थ समझकर एक ऊबे हुए गुस्से का स्थायी आश्रय ले लिया जाए। कैलाश वाजपेयी का तरीका दूसरा है और हम सबको कभी-न-कभी 'यह सब व्यर्थ है' का अहसास हुआ है। इसके साथ खतरा यह भी है कि यह एक फ़ैशनेबल आश्रय बन जाता है और हर तरफ़ से आये हुए भगोड़े इसके नीचे आने की कोशिश करते हैं। धीरे-धीरे यह बहुत मँहगी विलासिता में बदल जाता है और इसके भाष्य भी बनने लगते हैं। हिन्दी के कुछ युवा कवियों ने इस खतरे को पहचाना है और फिर किन्हीं मूल्यों की ओर जाने का कोशिश होने लगी है। 'प्रतिबद्धता' आदि के नारों से दूर युवक कवि कोई ऐसी वस्तु खोज रहे हैं जो मुहर या साँचा न बनने पाए। कैलाश वाजपेयी ने सन् साठ के बाद की कविता को अपना योगदान दिया अवश्य, किन्तु इससे उन्हें कोई दुःख नहीं होना चाहिए। अब हिन्दी में कुछ नयी आवाज़ें ऐसी हैं जिन्होंने उसका परिष्कार किया है और उसे सही सन्दर्भ दिए हैं। कैलाश वाजपेयी की कविता को राइट-ऑफ़ कर देना सम्भव नहीं है किन्तु जब तक उनके विकास में प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक यही कहना होगा कि उनकी कविता वर्तमान सन्दर्भों में अर्ध-प्रासंगिक है।

सम्यक् शोक की छाया में चमकता लोक

कमलेश

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय का पाँचवाँ कविता संग्रह है। उनके समवयस्क किसी अन्य हिन्दी कवि के शायद ही इतने संग्रह प्रकाशित हुए हों। इन छपी कविताओं की संख्या भी पाँच सौ से ज्यादा ही होगी। उन्होंने कविताओं के अलावा एक कहानी संग्रह और दो छोटे उपन्यास भी प्रकाशित करवाये हैं। ये किताबें एक प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था से छपी हैं। इन सभी कृतियों में एक विशिष्ट संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं। उनमें व्यक्त लगाव भी लोगों को प्रियकर लगने चाहिए। इन सब बातों से विनोदचन्द्र पांडेय की अपने साहित्यिक समुदाय में खास भूमिका बननी चाहिए थी। हुआ है यह कि उनकी कृतियाँ नियमित तौर पर प्रकाशित होती रहीं, पर वे आलोचकों, समीक्षकों, पत्रिकाओं के सम्पादकों का ध्यान बिलकुल नहीं खींच पायीं। यह स्थिति

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ १४०, मूल्य पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ओर विनोदचन्द्र पांडेय की रचनाशीलता की खासियतों की, तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्यिक समुदाय के स्वभाव की जाँच को जरूरी बनाती हैं। किसी अन्य स्थल पर शायद यह किया जा सके। यहाँ हम केवल उनके नये कविता-संग्रह की कुछ कविताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने भर की कोशिश करेंगे।

विनोदचन्द्र पांडेय के पिछले संग्रहों की तरह विकल्प की कविताओं का मुख्य विषय प्रेम है—या प्रेम के बारे में प्रौढ़ का प्रेमोत्तर चिंतन। पहले प्रेम का कोई एक ही बारीक पहलू कविता बनता था, अब प्रेम की पूरी प्रक्रिया एक ही कविता में आ जाती है, बुद्धि पूरे जीवनक्रम में से जीवन का निष्कर्ष निचोड़ लाती है। निम्नलिखित कविता का शीर्षक है—वह घटना!

कब हम मिले, कब विशेष हुआ
मेरे विचारों में उसका विचार
उसे देखने, उसकी बातें सुनने
आ गया इन्तजार

पहले मधुर था और सह्य
मैं कई कारण दे देती थी
मेरे मन का अपना अर्थ
मेरी दृष्टि न व्यक्त करती थी

हमारे अलग-अलग थे
प्यार के कल्पनालोक
मैं तुमसे रखती रहस्य
तुम उसी संयम से मुझसे

वह घटना!
एक बार बन गया संवाद
भुलाई न जा सकती भाषा
मेरा रहस्य तुम ही हो
और आशा उतनी ही है
जितनी इस जीवन में आशा

(पृष्ठ २९-३०)

प्रेमोत्तर अवधि में आशा-निराशा भेद के निरसन के इस बिन्दु पर पहुँचकर प्रेम के 'अपूर्ण' (पृ० १०२) रूप और 'झूठ' (पृ० १२२) रूप का भी बोध है लेकिन वही जीवन का 'मेरा चमकता समय' भी है। सारा संसार इस 'सम्यक् शोक' (पृ० ११८), सम्यक् शान्ति से भीगा हुआ है।

तुम्हें भय था अन्याय न कर डालें हम
तुमने इतना सहा
अब निश्चिन्त हो दुःख में?
गर्व के लायक अनन्त मिला?

(आश्वासित पृ० १०६)

× × ×

मुझे सिखलाओ सहज
भय कैसे होता है क्षीण
बुद्ध की तरह आसीन
इस काली रात्रि से
तैर आना

(भय, पृष्ठ ११६)

× × ×

मैं त्यागता हूँ अपनी आत्मकथा
जो हुआ था, और आशा
कि अतीत में कुछ जोड़
अतीत को बदला जा सकता
मैं त्यागता हूँ कोई भी अनुभव
अतीत की (?) बजाए जो रह गया अनुभव से
और वह भी तृप्तियों को अणु मान
जिस महातृप्ति की हो सकती कल्पना
महा प्रेम, महा सफलता
मेरे शब्द जिसकी माया गढ़ते
मैं त्यागता हूँ चिन्तामणि मन
रहे, रहे बस यह सूनी तथता!

(संकल्प, पृ० ११७)

मात्र प्रेम से ही आर्य सत्यों की यह दृष्टि नहीं मिलती। ऊपर एक कविता में उल्लिखित बुद्ध और एक कविता शीर्षक 'प्रतीत्य समुत्पाद' (पृ० ११९-२०) उस 'सुनसान' का एहसास कराने वाली मनोभूमि की ओर संकेत करते हैं जहाँ सब-कुछ अपने अस्तित्व में निहित इस एकान्त में, भिज्ञ या अनभिज्ञ रूप से, बसा हुआ है।

गोला बारी से जला शहर
चाय पीते दो सैनिक; सुबह;
भूख भय से जीते जाना रोज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन के सम्यक् शोक की ओर
आँखें उठाए बिना

(सम्यक् शोक, पृ० ११०)

जब सब अन्त हो चुका होगा
उस महा-महायुद्ध के पश्चात
नष्ट सब नगर
मृत मनुष्य और जानवर
जैसा मैं पाता हूँ
प्रेमहीन सुनसान
पाएगा
उस उजाड़ धरती पर निकला चांद !

(सुनसान—पृ० ११०)

सारी प्रकृति इसी सुनसान से रिसी हुई है—

रात कोई आहट न हुई
पर जब सिरहाने पर था चाँद
मेरी नींद खुल गयी
ऐसी पूर्णिमा, इतने चुपचाप

(आहटहीन, पृ० ४४)

···बरखा के बाद पहाड़ों पर
धूप के भी हाथ न लगती
अदृश्य चमकीली हवा

(स्पष्टता, पृ० ११२)

चिड़ियाँ लौट आई हैं
जल्दी में अव्यवस्थित;
गई थी कतार
इस शिशिर
जो कोई भी
ऊँचे आकाश पर निकला
ऐसी ही हुई हार

(इस शिशिर, पृ० ९६)

यह अनुभव जब वर्णनात्मक होता है तो लोकाख्यान-गीतिका बन जाता है, परीकथाओं में सुनी जाने वाली राज-कुमार-राजकुमारी की कहानियाँ। संग्रह की सबसे लम्बी कविता 'कवि और राजकुमार' ऐसी ही कविता है। ऐसी ही कविता 'तूफान की रात्रि' भी है जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—

जो वे थे फिर न रहे
जिस दिन फलांगी प्रेमियों ने घाटी

(पृ० ४५)

ऐसी ही कथा कविता 'रत्ना' १५ पंक्तियों में मात्र ५० शब्दों की है—

आठ बज गए
हो गया समय
कहानी में फँसी
रत्ना क्या करे
सत्तर पेज हैं
राजकुमारी कैद है
कैद रहेगी राजकुमारी
रात भर दैत्य के पास
रत्ना क्या करे
बज गए आठ
जिस विश्वास से उठी, रत्ना,
इस स्वीकार को याद रखना
आएगा जीवन में बार-बार,
घड़ियों के निर्मोही
छोटे-बड़े हाथ।

(पृ० ७१-७२)

यहाँ उद्धृत कविताओं से जाहिर है कि इनका विन्यास प्रचलित हिन्दी कविता से कुछ अलग है—शायद इसी कारण आज की हिन्दी कविता का अभ्यस्त पाठक इन कविताओं को पूरे मुक्त भाव से ग्रहण नहीं कर पाता। ज्यादातर कविताओं का गद्य के वाक्य में अन्वय नहीं हो पाता, इसलिए पाठक को सब कुछ भला-भला लगते हुए भी कुछ छूटा-छूटा सा लग सकता है। इतनी भी संक्षिप्ति का अभ्यस्त शायद हिन्दी पाठक नहीं हो सका है—

पलंग पर खोज
धूप का कोना
सुबह बिता डाली
बसों की गम्भीर आवाजें
चिड़ियों की हल्की
दूर पर जरा-सा धुआँ
एक स्वप्न जो पास न आया
एक शांति जो दूर ही रही
अपने को जान लेना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भव है, न हुआ।

(नेताजी नगर, पृ० ६०)

कोई भी ऊब कर
नया खोजने के लिए चंचल
परखने रूप की धार
तुम्हारा जैसा भला भी···

(दिल्ली का शिशिर, पृ० ६)

इन कविताओं में राग का घनत्व पूरी पंक्ति में गाँठ की तरह पड़े हुए किसी बिम्ब से या अनुभूतिजन्य शब्द-समूहों की युग्मता से नहीं पैदा होता। "चीनी कविता-सी प्रफुल्ल और स्पष्ट" आस्वाद पूरी कविता के आकार में फैला रहता है। कविताओं को पढ़ने से यह नहीं लगता कि यह रूप सम्बन्धी जागरूकता की कमी के कारण है, बल्कि कथा-गीतियों आदि से यह लगता है कि कवि की रूपाकार सम्बन्धी प्रयोगों में भी दिलचस्पी है।

प्रेम के विश्लेषण के साथ आत्मविश्लेषण भी चलता है—

मेरी दक्षता है प्रपंच
मैं कभी कुछ कर न सका
विविधमुखी प्रतिभा
मेरी सब हीनता पर पर्दा डाले
अधूरे कर्मचारी से बचा
अधूरा कवि और इत्यादि
यही है मेरे अहं का यंत्र—
फैली माया
हर जगह हार कर हूँ
"कहीं और" सुरक्षित।

(मेरी माया, पृ० १०४)

इस 'हर जगह' का एक समाजशास्त्र भी है। यह समाज आम हिन्दी लेखक के समाज से थोड़ा अलग है। "अब तो जा चुकी जीवन से/तुम्हारे मिलन की विदेशी सैण्ट" (विदेशी सैण्ट, पृ० ११३), 'एयर कण्डीशंड' जगह, छोटे शहरों को 'मुफस्सिल' कहना, "ठण्डी रात गये/कार में अकेले लौटना/सो गये हैं नौकर तक, मैं ही हूँ एक/चाँद देखने वाला" आदि उल्लेख एक विशेष वर्ग की ओर संकेत करते हैं। इसी मनोभूमि की वजह से सेमीनार, शापिंग, पार्टियाँ, स्ट्रीट लैम्प, साइको सोमैटिक, स्नोलाइन, स्मार्ट आदि शब्दों का प्रयोग किसी और पृष्ठभूमि में उतना भद्दा नहीं लगता। एडिपस का प्रतीक, रहस्य-बोध में आने वाली बाधाओं के लिए 'क्लाउड ऑफ़ अननोइंग' शीर्षक, और स्नोह्वाइट की परीकथा भी इसी सन्दर्भ में चल सकती है। यहाँ पहाड़ से लेकर वास्को बन्दर तक के दृश्य हैं, जबकि हिन्दी चेतना अभी तक समुद्र को नहीं छू पायी है। 'चलती सीढ़ियों पर खड़े पुरुष' कितनों ने देखे होंगे।

यह अपरिचय की भाषा इन कविताओं की लोकप्रियता के रास्ते में एक रुकावट हो सकती है फिर भी दूर से भी हमें परम शोक में डूबे उजले चमकते ये दृश्य प्रीतिकर लगते हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

कविता और राजनीति

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

देश या समाज जब कभी इतिहास के विध्वंसक दौर से गुज़रने लगता है तो राजनीतिक ध्रुवीकरण के क्रम में साहित्यकारों के सामने यह प्रश्न अपने संपूर्ण तीखेपन के साथ उठाया जाता है। अपने देश के प्रसंग में यह बात आज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि देश का आर्थिक संकट अब राजनीतिक संकट की पहली अवस्था में पहुँच गया है। संकट के आधार से बाह्य ढाँचे में संतरण—यही वह समस्या है जिसकी वजह से साहित्य को इस समस्या से जूझना पड़ रहा है। दूसरे महायुद्ध के समय भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी। उस समय लगभग सभी भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य के साथ यह प्रश्न उठा था।

वियतनाम की लड़ाई के प्रसंग में 'जनयुग' (१९६५ ई०) से 'साहित्यकार और राजनीति' पर विवाद चलाया गया था। उस समय एक खास किस्म के लेखकों ने इस विवाद के प्रस्तावक के विरुद्ध अभियान चलाया और मूलतः इस तर्क के साथ कि साहित्य का तो राजनीति से सम्बन्ध हो सकता है, साहित्यकार का नहीं। आज फिर जब वही प्रश्न उठाया गया है तो वे कहते हैं कि कवि का संबंध हो सकता है, कविता का नहीं। इस तरह की दुमुँहा बातें होती रही हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक खास प्रकार की राजनीति चलाने में कुशल अज्ञेय, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा फिर इस परिसंवाद में शरीक हैं। पर इस बार शीतयुद्ध का हथियार बदल लिया गया है। इस बहस में रघुवीर सहाय सत्ता प्रतिष्ठान मात्र को कोसते हैं—"आज से तीन साल पहले, नेहरू की मृत्यु से थोड़ा-सा पहले एक धारा चली थी कि राजनीति से हमें कोई मतलब नहीं। वह राजनीति की एक धारा से संबद्ध थी।" खेद है कि यहाँ भी अर्धसत्य के सहारे दिखाने के दाँत का गजब ढाया गया है। कहना तो यह चाहिए था कि यह यथास्थिति की एक राजनीतिक धारा थी जो बहुत ही सुनियोजित ढंग से, हर स्तर पर, हर क्षेत्र में लागू की जा रही थी। कवियों से कहा जाता था कविता लिखो, तुम्हें राजनीति से क्या लेना-देना; अध्यापकों से कहा जाता था शिक्षा-मन्दिर को राजनीति से अपवित्र मत करो और मज़दूरों-किसानों से कहा जा रहा था—विरोध और आन्दोलन क्यों, राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाओ।

यथास्थिति की उस राजनीति का असर नयी पीढ़ी के कुछेक लोगों पर बड़ा गहरा रहा है; लेकिन रंग-ढंग बदलकर। नयी पीढ़ी के इन कुछेक रचनाकारों ने यह कहना आरम्भ किया कि राजनीति मात्र भ्रष्ट हैं; राजनीति का पूरी तरह विरोध किया गया और राजनीतिक दलों की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को अंतर्वस्तु के स्तर पर समान रूप से भ्रष्ट कहने की लीक पीटी जाने लगी।

ईमानदार लोग स्वीकार करेंगे कि कविता से राजनीति को खदेड़ते रहने की मुस्तैदी एक तरफ से बराबर होती रही है और यह कोशिश शीतयुद्ध के रूप में अब भी जारी है। बदलाव केवल इतना है कि खदेड़ने की कोशिश में अब तर्क की बाजीगरी, घपले और छद्म गम्भीरता के साथ विचार-विमर्श का अभिनय आरम्भ हो गया है। इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि **'रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल'** उठाना किस हद तक उनके अस्तित्व की लाचारी है। हालाँकि वे अपना डर छिपा नहीं पाते—**'कहीं कविता को फिर राजनीतिक हथियार तो नहीं बनाया जा रहा है?'** फिर उनकी समझ में यह आता है कि नये कृतिकारों का राजनीति से कोई खास लगाव नहीं है। कविताओं में जो आक्रोश व्यक्त हुआ है वह **'निजी ट्रेजिक प्रोटेस्ट'** मात्र है। रहस्य की इस गाँठ के खुलते ही वे राहत की साँस लेते हैं और मुहावरे का एक फसाद खड़ा कर देते हैं—'वे कवियों की निजी मुद्राएँ हैं स्वयंस्फूर्त और मुक्त',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् व्यवस्था के बदल जाने का कहीं कोई खतरा नहीं है और न व्यवस्था के बदलने में प्रयत्नशील किसी क्रांतिकारी जन-आन्दोलन से इन मुद्राओं का कोई सम्बन्ध है। बस यही वह स्वयंसिद्धि है जिसके सहारे, पता नहीं कैसे तालमेल बिठाते हुए वे इन कविताओं में वयस्कता भी देख लेते हैं; अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की मूल्यवान कोशिश भी। अशोक वाजपेयी की इस मनोदशा पर उनके वर्गस्वामियों की मनोदशा की पूरी छाप है। पीटर वाइस ने ठीक ही कहा है—"जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिंता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती।" कवियों के निजी प्रतिवाद से चूँकि सत्ताधारियों के शिकंजे और भी मज़बूत होते चले जाते हैं, अतः अशोक वाजपेयी कवियों की ऐसी राजनीति के समर्थक हो गये हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या सचमुच आज की कविता की जो मुख्य धारा है, उसमें कवियों की निजी मुद्राएँ ही हैं? सापेक्ष राजनीतिक संदर्भ की जिन्हें समझ है वे जानते हैं कि '६०-'६२ के बाद के कवियों की ये मुद्राएँ स्वयंस्फूर्त और मुक्त नहीं हैं बल्कि शासकों के विरुद्ध उभरते हुए व्यापक जन-असंतोष का हिस्सा हैं। युवा कवियों में अनेक ऐसे हैं जिनका पूरा रवैया जन-आन्दोलनों से निर्धारित हुआ है। इनका रवैया, कोई अनोखी चीज़, कोई निरपेक्ष, कोई व्यक्तिगत क्रियाकलाप नहीं है। ऐसी स्थिति में **"काव्य भाषा की नयी तात्कालिकता, चमक और विस्तार"** को "सामूहिक आन्दोलन का परिणाम" न मानना, मौलिक सूझ का दावा मात्र है, सचाई नहीं। फिर उन्हीं की परस्पर-विरोधी बात भी याद आ जाती है, यानी यथार्थ से आज के कवि ने जिन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा साक्षात्कार की कोशिश की है, उन साक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है—" राजनीति से नया सम्बन्ध अंततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है—वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम-भरे साहित्य की ओर जाना है। वह नयी कविता की बिम्बमालाओं, प्रतीक मुद्राओं और रूढ़ियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव-प्रतिभा को फिर जीवन्त, ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है—वह उसे सभा-जुलूस, नारेबाज़ी, भाषण, कर्फ्यू, मतदान, बहस, षड्यंत्र, क्रांति, लाठीचार्ज, युद्ध, गुण नियन्त्रण, मार्शल लॉ, चुनाव, संसद् आदि में यानी उसकी रोज़मर्रा की दुनिया में रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित रहने की कोशिश है।" यह कोशिश व्यापक जनविक्षोभ के दबावों से उत्पन्न है, कोई आकस्मिक चमत्कार नहीं। प्रगतिवादी कविता और आज की कविता का भेद भी इसी सापेक्ष ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना चाहिए।

अशोक वाजपेयी अपने पूरे वक्तव्य में इस बात से सन्तुष्ट हैं कि आज के "युवतर कवियों की राजनीति, या शायद उसे प्रतिराजनीति कहना आज के मुहावरे में बेहतर हो, ज्यादा से ज्यादा सामान्य रूप से वामपक्षी कही जा सकती है: पर वह क्रांतिकारी या आदर्श-प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है। वह निजी प्रोटेस्ट, विद्रोह या विरोध की राजनीति है—अल्वारेज के शब्द उधार लेकर कहें तो वह स्थायी रूप से विरोध पक्ष में रहने की राजनीति।" यह निष्कर्ष भी '६७ और '६९ के चुनाव-परिणामों को ध्यान में रखने पर अर्द्धसत्य प्रतीत होता है। पूर्ण सत्य तो यह है कि जनमत ग़ैर-कांग्रेसवाद के पक्ष में गया है—राजनीतिक ध्रुवीकरण तेज़ी से अहिन्दीभाषी राज्यों में हो रहा है और हिन्दीभाषी राज्यों में यथास्थिति की राजनीति अब भी काफी हद तक जनता की आँखों में धूल झोंककर सत्ता हथिया रही है, किन्तु जनविक्षोभ जारी है। आज के कवियों का राजनीति के प्रति रवैया इस स्थिति का ही पर्याय है। जिस त्वरा में अशोक वाजपेयी अल्वारेज का निष्कर्ष लागू करने को उतावले हैं, वह असल में यथास्थिति की राजनीति का ही रूपभेद से विस्तार है।

ग़ौर किया जा सकता है कि साहित्य और राजनीति के सहसंबंध को लेकर खुले तौर पर कुछ लोग शत्रुतापूर्ण रवैया नहीं अपनाते। इसलिए उनके रवैये की पूरी अंतर्वस्तु और उसके सही स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक हो गया है।

अभी केवल अशोक वाजपेयी के वक्तव्य में निहित अंतर्विरोधों को स्पष्ट किया गया है। देखना यह है कि ऐसी घपलेबाजी क्या पूरे परिसंवाद में नहीं है? **सभी वक्तव्यों को पढ़ने पर घपलेबाज़ों का संयुक्त मोर्चा साफ-साफ दिखाई पड़ता है।** मोर्चे के 'आधुनिक' दावेदार श्रीकांत वर्मा का कहना है—"साधारणतया जिसे विरोध की कविता कहा जाता है, उसके अस्तित्व में वंचना होती है। विरोध की कविता का अर्थ है राजनीति से बिरोध की कविता। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह की कविता राजनीति की शर्तों पर उसका विरोध करती है; दूसरे शब्दों में वह विरोध नहीं करती, वह राजनीति को कविता का प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र मानकर उसी के नियमों से अपना संगठन करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि राज्य-सत्ताएँ इस तरह के काव्य का स्वागत करती हैं बल्कि अभिनन्दन करती हैं। विरोध का विकल्प पलायन नहीं—बल्कि गहरा आत्मसाक्षात्कार है।" क्या श्रीकांत बता सकते हैं कि ऑक्टिवियो पॉज का अभिनन्दन उन्होंने किसी राज्यसत्ता की ओर से किया था? उस अभिनन्दनीय कवि ने छात्र-आन्दोलन के दमन के प्रतिवाद-स्वरूप जो कुछ भी लिखा था, उसके 'अस्तित्व में वंचना' थी? इतना ही नहीं श्रीकांत यह मानते हैं कि आत्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध शुद्ध अनुभव से है, विचार से उसका दूर का भी रिश्ता नहीं होता— "राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं विचार होता है। वह या तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित विचार का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के ज़रिये अनुभव को झुठलाती है।" श्रीकांतजी के लिए अनुभव हारिल की लकड़ी है, जिसे वे पूरी ताकत से, बकसरत पकड़े हुए हैं। उनके लिए 'कविता और राजनीति' के बहाने 'अनुभव और विचार' की लड़ाई है जिसमें अनुभववाद के वे प्रवक्ता हैं। कविता की स्वायत्तता अगर इतनी संकीर्ण है कि उससे विचार का वहिष्कार अनिवार्य है तो फिर यह देखना पड़ेगा कि क्या अनुभव की भी कोई सीमा उनके पास है। वे कविता में उन्हीं अनुभवों के कायल हैं जिनका **'उत्तरदायित्वों'** और **'प्रतिवादों'** से कोई लगाव नहीं है। यहाँ आकर यह साफ हो जाता है कि श्रीकांत वर्मा के अनुभववाद और अशोक वाजपेयी के 'निजी प्रोटेस्ट' अर्थात् 'अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की कोशिश' में सिर्फ बलाघात का फर्क है, अंतर्वस्तु एक ही है।

घपले की शब्दावली में उलझाव की कोशिश करने वालों का एक गिरोह है। इस गिरोह की अपनी एक राजनीति है जो एक खास वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर सांस्कृतिक उत्पीड़न बनाये रखना चाहती है। जिस वर्ग का हित-साधन ये करते हैं, वह बाह्य कारण है और इनके व्यक्तिगत हित आंतरिक कारण हैं। परोपजीवी वर्ग के पिछलग्गुओं के भीतर भी परस्पर हितों का टकराव है—अतः एक घटक और दूसरे घटक के भीतर गुणात्मक भेद बनता चला जाता है। यही वह अन्तर्विरोध है जो इस बहस में शरीक घपलाबाज़ों की विशिष्ट अंतर्वस्तु को निर्धारित कर रहा है।

इस विवाद को 'नैतिकता' की तरफ मोड़ने का प्रयत्न अज्ञेय की ओर से हुआ है। वे मानते हैं कि नयी पीढ़ी का कवि **"अनैतिक या नीति-अतीत सूत्र से एक नैतिक युद्ध"** लड़ रहा है। अज्ञेय राजनीति पर पर्दा डालकर नीति में भाग खड़े हुए हैं। मानो आज के कवि की नैतिकता जन्मजात हो। पूछा जा सकता है अनादि काल से कवि की प्रकृति में नैतिकता अंतर्भूत रही है क्या? या रचनात्मक क्रियाकलाप में वह अनिवार्य रूप से चिपकी होती है? हमें मालूम है वे कभी भी यह स्वीकार नहीं करेंगे कि वर्गसमाज में व्यक्ति अपने हितों के लिए समाज के हितों का हनन करता है। ज़ाहिर है, ऐसी हालत में वह हरेक के विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है। जिस समाज में निजी संपत्ति का प्रभुत्व होता है, उसमें 'निजी संपत्ति व्यक्तिगत और समाजगत हितों में अनिवार्य रूप से द्वन्द्व के बीज बोती चलती है।' आज आदमी को खाकर ही आदमी फलफूल रहा है। इस स्थिति पर कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह के 'अनुभव' पर ग़ौर करें—

बात बातों का जवाब नहीं होती—
सवाल हो सकती है।
जैसे आदमी आदमी के लिए
आज सबसे बड़ा सवाल है।

('प्रतिश्रुत पीढ़ी'···में संगृहीत कविता से)

संविधान में निजी संपत्ति के अधिकार की गारंटी से ही ये सारे सवाल उत्पन्न होते हैं। इस संदर्भ में मानवीय स्वतंत्रता के सारे वायदे मक्कारी के अलावा और क्या लग सकते हैं? एक ओर उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और दूसरी ओर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—मानवीय स्वतंत्रता—सीधी टकराहट है और इसमें फिलहाल जीतता है निजी स्वामित्व। बोलने की आज़ादी, काम करने की आज़ादी से कोई किसी को गुलाम नहीं बना सकता; पर निजी संपत्ति के अधिकारों के उपभोग की आज़ादी से पूरे देश को गुलाम बनाया जा रहा है। आज का कवि इसे साफ, नंगी आँखों देखता है और वही नंगी आँखें कविता में रख देता है—

देखो,
इस देश की हर सड़क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है
चीजों और नामों से भरी इन चौड़ी जगहों पर
तबीयत अचानक उखड़ने लग जाती है
तब तुम्हें हर बार यही क्यों लगता है
—मकान में और शहर में बड़ा भारी भेद है

—लीलाधर जगूड़ी

पर हम उन्हें क्या कहें जो तिजोरी तक जाने वाली सड़क को हर समझदार की आँखों से ओट करने में लगे हैं—वे इस सड़क को न देखने का नटधर्म निभाते हैं और कहते हैं आत्म-साक्षात्कार करता हूँ। **"अनुभव की दुनिया और नैतिक उत्तरदायित्वों की दुनिया, दोनों के बीच आज तक एक गहरी खाई है। अनुभव की दुनिया कविता की दुनिया है, उत्तरदायित्वों और प्रतिवादों की दुनिया राजनीति की दुनिया है।"**

—श्रीकांत वर्मा ('जन', पृ० ३९, अप्रैल '६९)

जिस तरह अनुभव की दुनिया में 'तिजोरी तक जाने वाली सड़कें' नहीं हैं, उसी तरह अज्ञेय की समझ की दुनिया में राज्य पूँजीपतियों और सामंतों के वर्ग-स्वार्थ की पूर्ति का हथियार न होकर, निर्गुण ब्रह्म की तरह 'निर्वैयक्तिक', सूक्ष्म, अरूप कोई अजूबा-सा है। भला उससे लड़ें कैसे! इससे बेहतर तो यही है कि कविता और राजनीति के संबंध के प्रसंग में राज्य के वर्ग-स्वरूप पर पर्दा डाल दिया जाए। और अज्ञेय इस चाल में सफल हुए हैं।

अन्त में इतना ही कहना शेष है कि आज की कविता का एक ही संदर्भ है और वह है राजनीति। राजनीति को अलग कर दीजिए, आज की कविता के किसी भी शब्द को, किसी भी वाक्यखंड को समझ पाना मुश्किल है।

राजनीति कविता की अंतर्वस्तु है और कविता अपने-आपमें निरन्तर विकसित होता हुआ एक साँचा है—एक खास प्रकार की संवेदना को व्यक्त करने वाली विधा—जिसका विकास होता चला आ रहा है। जो कविता प्रचार लगती है, वह साँचे का घटिया ढंग से इस्तेमाल होने के कारण ही घटिया नहीं लगती, बल्कि उसकी अंतर्वस्तु को भी संवेदना-शून्य समझना चाहिए। कविता को पुनर्जीवित करने के क्रम में अब केवल 'राजनीति' ही ऐसा संदर्भ है जो धर्म का स्थानापन्न, जनवादी स्थानापन्न हो सकती है—

मैं बैठ गया हूँ एक अँधेरी गुफा में
पैना रहा हूँ आदिम अस्त्र कुछ
जोखम भरे शब्द
और कभी-कभी छापे मार देता हूँ
आधुनिकतम हथियारों से सुरक्षित
सभ्यता के खेमे पर
लिख देता हूँ अपने लहू से एक कविता
एक चेतावनी यातनागृहों की दीवारों पर

(राजीव सक्सेना, 'वियतकांग', प्रतिश्रुत पीढ़ी, पृ० १६१)

'५१-५२ में लिखित मुक्तिबोध की एक कविता आज भी अपने राजनीतिक सन्दर्भ की दृष्टि से नयी प्रतीत होती है—

यदि यह बदरिया गगन में छाकर उधर ही गयी,
बरगदों की प्यास
मूलों में उभर, उठ ऐंठ कर
बँध व्यंग्य आकृति में अगर
घिर ही गयी;
जल ताल का यदि सूखकर
लम्बी दरारों में हृदय की भूख भर
भूरी हँसी हँस ही दिया
यदि हर्ष व्याकुल विहग बिजली-तार पर
बैठा कि लटका
काल ने ग्रस ही लिया
फिर भी तुम्हारी आस है"'

मुक्तिबोध, (पथरेखा खिंचेगी ही, प्रतीक-७, पृ० ६१)

कविता का भविष्य उसकी अंतर्वस्तु निर्धारित करती है। हर युग सामाजिक दबावों से अन्तर्वस्तु के विभिन्न तत्त्वों की मात्रा और गुणात्मकता में हेरफेर करता है। आज की कविता की अन्तर्वस्तु राजनीति है; उसके विभिन्न तत्त्व क्या हैं और उनकी गुणात्मकता का स्वरूप क्या है—यह अलग विषय है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिदंबरा

भारतीय ज्ञानपीठ के एक लाख रुपए
के
पुरस्कार से सम्मानित

'३७ से '५७ तक कवि के प्रायः बीस वर्षों की
विकास श्रेणी का विस्तार

रु० १०.००

श्री सुमित्रानंदन पंत

कविवर पंत जी की अन्य सुप्रसिद्ध कृतियाँ

- लोकायतन (सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित) २५.००
- कला और बूढ़ा चाँद (साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत) ६.५०
- अभिषेकिता ३.००
- पल्लव ६.००
- किरण वीणा ८.००
- पुरुषोत्तम राम ३.५०
- अतिमा ४.००
- रश्मिबंध २.५०
- पल्लविनी ११.००
- शिल्पी ४.००
- पौ फटने से पहिले ८.००

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

079561

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली : डॉ० रांगेय राघव	१०.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.००
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	६.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
तुलसीदास : चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान	६.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र	३.५०

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति
फार्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८ फ़ैज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डॉ० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों ।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं ।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

रघुवीर सहाय का बहुचर्चित कविता-संग्रह

आत्महत्या के विरुद्ध

'Raghuvir Sahai is purely individual in his approach.'
—ENLITE

" 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताएँ समसामयिक हैं। वे 'लाखों का दर्द' नये शब्दों में व्यक्त करती हैं।"
—शिवबच्चन सिंह

और

'रघुवीर सहाय का कवि न केवल अज्ञेय से बहुत दूर निकल आया है, वरन अपने साथी कवियों से भी वह भिन्न है।'
—अश्क

मूल्य : ५.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' पर संवाद।
- डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' पर सर्वश्री अमृतलाल नागर, नेमिचन्द्र जैन, और चन्द्रबली सिंह की समीक्षाएँ।
- डा० शिवप्रसाद के उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' पर श्री विजयदेवनारायण साही की समीक्षा।
- डा० रामविलास शर्मा का निबंध 'अस्तित्ववाद और नई कविता'।
- श्री सुरेन्द्र चौधरी की लेखमाला 'मार्क्सवाद और समकालीन बोर्ज्वा विचारधाराएँ' की पहली किस्त।
- 'राजनीति और कविता' पर श्री कमलेश का निबंध।
- 'अस्तित्ववादी सौन्दर्य शास्त्र' पर डा० कुमार विमल का निबंध।
- कविताएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' सर्वेक्षण माला

अब छः पुस्तकें उपलब्ध

सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

079561

इस पुस्तक माला का उद्देश्य सजग पाठक को आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों, साहित्य विधाओं और विशिष्ट प्रवृत्तियों का परिचय देना है।

रहस्यवाद
डा० राममूर्ति त्रिपाठी
रु० ७.००

प्रगतिवाद
डा० शिवकुमार मिश्र
रु० ७.००

हिन्दी कहानी
डा० इन्द्रनाथ मदान
रु० ७.५०

ये तीन नई पुस्तकें
और प्रकाशित
हो चुकी हैं।

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
डॉ० रामदरश मिश्र
•
रु० ८.००

प्रेमचन्द
डॉ० गंगाप्रसाद वि ल
•
रु० ७.००

निराला : काव्य समीक्षा
डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
•
रु० ७.५०

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri